वादिराजसूरि कृत

पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन

डा. जयकुमार जैन

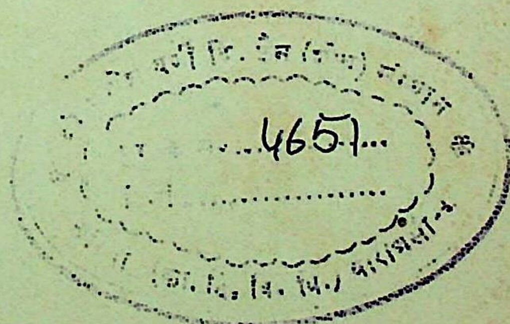
........It revels a carefull analysis of the text. I am glad to find that Sri Jain has utilised all the important Materials available on the subject including Prakrit Sanskrit and Apbh-ransh works. The author has discussed all the significant literary aspects of the text alongwith the social, Political and cultural conditions of the time.

Dr. M. L. Mehta
Professor in Philosophy
University of Poona
Ex. Director—
P. V. Research Institute
Banaras Hindu University
Varanasi.

५।४

सम्मान्य भाई सा० डॉ० कोमलचन्द्र जी जैन
रीडर एवं अध्यक्ष, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को
लेखक की ओर से सविनय भेंट

30·3·88





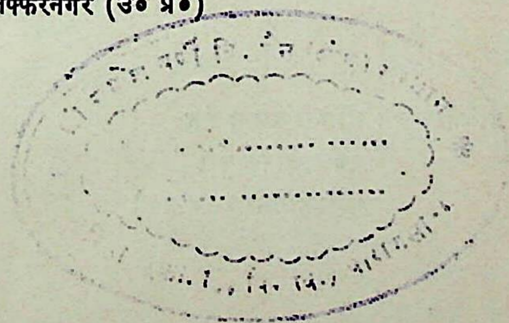
वादिराजसूरिकृत

पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन

A Critical Study of Parshvanathacharita by Vadirajasuri

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक
डा० जयकुमार जैन
प्रवक्ता—संस्कृत विभाग
एस० डी० (स्नातकोत्तर) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)



प्रकाशक
जैन धर्म प्रचार समिति

संस्करण : प्रथम, १९८७ ई०
स्वाम्य : डा० जयकुमार जैन
मूल्य : सदुपयोग

आवरण : प्रो० सुबोध मिश्र

वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन
A Critical Study of Parshvanathacharita by Vadirajsuri
लेखक : डा० जयकुमार जैन
प्रकाशक : जैन धर्म प्रचार समिति

प्राप्तिस्थान : श्रीमती प्रसन्न जैन
१०४, द्वारकापुरी
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

मुद्रक—ज्योति प्रिंटिंग प्रेस,
शास्त्री मार्केट, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)



प्रकाशन के अवसर पर

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा १९७७ ई० की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रवंध का अविकल मुद्रण है। लगभग एक दशक वाद प्रकाशित इस शोध-प्रवन्ध को देखकर मुझे एक सुखद आत्मतोष का अनुभव हो रहा है। मेरे सुधी मित्र इसके प्रकाशन के लिए समय-समय पर प्रेरित करते रहे हैं। सम्प्रति परमपूज्य आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज के आशीर्वाद तथा श्रीमती त्रिशला देवी जैन धर्मपत्नी श्री चन्द्रसैन जैन इन्जीनियर जगाधरी के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित कराके इसे आपके हाथों में सौंप रहा हूं। उनके इस अनुग्रह के लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

इसका प्राक्कथन जैन विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० रमेशचन्द्र जैन संस्कृतविभागाध्यक्ष वर्धमान कालेज विजनौर ने लिखने की अनुकम्पा की है। उनकी इस कृपा के लिए मैं विनम्र 'आभारी हूं। सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर के संस्कृतविभागाध्यक्ष डा० रमेशकुमार लौ, प्राध्यापक डा० उमाकान्त शुक्ल एवं डा० सुषमा, श्री लाला गुलशनराय जी जैन, श्री लाला भागचन्द्र जी जैन और श्री विक्रमसैन जी जैन का मुझे समय-समय पर शुभाशंसन एवं सहयोग मिला है, उनकी इस अहेतुकी कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूं। अपनी शोधछात्रा कु० सुमन अवरोल तथा श्री महेन्द्र कुमार जैन अध्यापक जैन इण्टर कालेज मुजफ्फरनगर ने अपने कार्य में व्यस्त रहते हुए भी यथासंभव सहयोग किया है, वे धन्यवादार्ह हैं।

इस अवसर पर मैं अपनी अर्धाङ्गिनी श्रीमती प्रसन्न जैन मुद्रक श्री शिवकुमार शर्मा तथा प्रिंटिंग एवं प्रूफरीडिंग में सहयोगी श्री कमलेश कुमार कपिल को भी धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूं, जिनके सहयोग के बिना इसका प्रकाशन संभव नहीं था।

मुजफ्फरनगर
मार्च १, १९८७ ई०

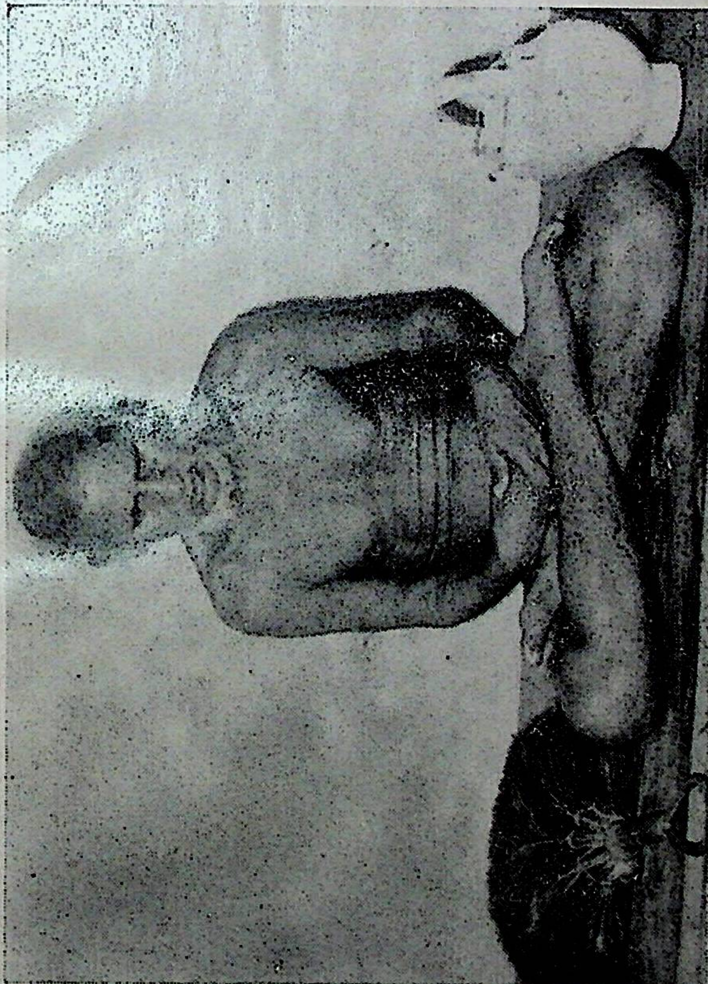
विनीत
जयकुमार जैन

सादर समर्पण

पूजनीय पितृपाद स्व० श्री फूलचन्द्र जी जैन

पिपरा, शिवपुरी (म० प्र०)

को



परमतपस्वी १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज





श्रीमती त्रिशला देवी जैन

(धर्मपत्नि श्री चन्द्रसैन जैन, इन्जीनियर)

जगाधरी (हरयाणा)

जिनके

७०११ रु० के अनुदान से इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ।

प्राक्कथन

भारतीय जीवन, साहित्य एवम् दर्शन के क्षेत्र में भगवान् पार्श्वनाथ का प्रभाव अप्रतिम है श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने अपनी 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध ने पार्श्वनाथ द्वारा उपदेशित चार यामों का अपने धर्म में समावेश किया। चातुर्याम का अर्थ अहिंसादि चार याम हैं तथा भगवान् बुद्ध भी इसी अर्थ को स्वीकार करते थे, ऐसा दीघनिकाय के पासादि सुत्त में निबद्ध बुद्ध के इन शब्दों से सिद्ध होता है—"हे चुन्द अन्य सम्प्रदायों के परिव्राजक कहेंगे कि श्रमण मौज उड़ाते हैं। उनसे कहो कि मौन या विलास चार प्रकार के हैं। कोई अज्ञ पुरुष प्राणियों को मारकर मौज उड़ाता है, यह पहली मौज हुई। कोई व्यक्ति चोरी करके मौज उड़ाता है, यह दूसरी मौज हुई। कोई व्यक्ति झूठ बालकर मौज उड़ाता है, यह तीसरी मौज हुई। कोई व्यक्ति उपभोग्य वस्तुओं का यथेष्ट उपभोग कर मौज उड़ाता है, यह चौथी मौज हुई। ये चार मौजें हीन, गँवार, पृथग्जनसेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं।"

भगवान् महावीर के धर्मप्रचार का उद्देश्य पार्श्वनाथ के समान ही था। उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतम संवाद में पार्श्वनाथ भगवान् की परम्परा के अनुयायी साधु केशिकुमार भगवान् महावीर के शिष्य गौतम से पूछते हैं कि जब दोनों तीर्थंकरों का उद्देश्य एक ही है तो फिर पार्श्वनाथ के चातुर्याम रूप धर्म को महावीर ने पंचयाम (पांच महाव्रत) में क्यों परिवर्तित किया ? इसके उत्तर में गौतम ने कहा कि ज्ञान से धर्म-तत्त्व का निश्चय करके तथा देश-काल के अनुसार बदलती हुई जन सामान्य की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर धर्म में यह आचार विषयक परिवर्तन किया गया। यदि ऐसा न किया जाता तो धर्म स्थिर नहीं रह सकता था।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर एवम् महात्मा बुद्ध दोनों को भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म विरासत में प्राप्त हुआ था।

आठवीं सदी के दिगम्बराचार्य देवसेन के अभिमतानुसार महात्मा बुद्ध प्रारंभ

में जैन थे। जैनाचार्य पिहितास्रव ने सरयू नदी पर अवस्थित पलाश नामक ग्राम में पार्श्व के संघ में उन्हें दीक्षा दी थी और उनका नाम बुद्धकीर्ति रखा।[1] मज्झिम निकाय के महासीहनाद सुत्त में बुद्ध ने अपनी तपश्चर्या काल के सन्दर्भ में कहा है— 'मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों से किया। न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न निमन्त्रण से जाकर भोजन किया, न बर्तन से खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढी में खाया, न खिड़की से लिया, न दो आदमियों को एक साथ खाते हुए स्थान से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा मांड खाया, न तुस का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया या मैंने दो घर से भोजन लिया सो दो ग्रास लिये। इस तरह मैंने सात घरों से लिया, सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने एक दिन में एक बार, कभी दो दिन में एक वार, कभी सात दिन में एक बार लिया। कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशलोंच किए। इस केशलोंच की क्रिया को जारी रखा। मैं एक बूँद पानी पर भी दयावान् था। क्षुद्र प्राणी की भी हिंसा मुझसे न हो जावे, ऐसा सावधान था। इस तरह कभी तप्तायमान, कभी शीत को सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।[2]

उपर्युक्त चर्या जैन श्रमण के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं पायी जाती। अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा के अनुसार गौतम बुद्ध के चाचा 'वप्प' निर्ग्रन्थ श्रावक थे।[3] न्यग्रोधाराम में उनके साथ बुद्ध का संवाद हुआ था।[4]

डा० हर्मन जैकोबी भगवान् पार्श्व को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।[5] उन्होंने

१– सिरिपासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलासरयणत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो, महासुदो वुड्ढकित्ति मुणी॥ —दर्शनसार ६

२– ब्र० शीतलप्रसाद : जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान पृ० २०१।

३– अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा भाग २ पृ० ५५६।

४– एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुम्मि अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठ सावगो इ०। अंगुत्तरनिकाय, चतुष्कनिपात महावग्गवप्पसुत्त पृ० २१०–२१३।

५– That Parshva was a historical person, is now admitted by all as very probable.
—The sacred book of the EAST Vol XLV Introduction P. 21.

जैनागमों के साथ बौद्ध पिटकों के प्रमाणों के प्रकाश में यह सिद्ध किया है कि भगवान् पार्श्व एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। प्रो० जैकोबी ने मज्झिमनिकाय में वर्तमान एक विवाद का उल्लेख किया है यह विवाद बुद्ध तथा सच्चक के बीच हुआ था। सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ था, किन्तु सच्चक स्वय निर्ग्रन्थ नहीं था, क्योंकि उसने गर्वोक्ति की है कि मैंने नातपुत्त (महावीर) को विवाद में परास्त किया। एक प्रसिद्ध वादी जो स्वतः निर्ग्रन्थ नहीं, पर उसका पिता निर्ग्रन्थ है, बुद्ध का समकालीन सिद्ध होता है तो उस निर्ग्रन्थ, सम्प्रदाय का प्रारंभ बुद्ध के समय में कैसे हो सकता है, वह सम्प्रदाय अवश्य ही बुद्ध के पूर्व स्थापित होना चाहिए। बुद्ध और महावीर का समय प्रायः एक ही है, प्रत्युत बुद्ध महावीर से ज्येष्ठ हैं, अतः निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीर के पहले वर्तमान था, यह सिद्ध होता है।[1]

जैन परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। जिम्मर का कहना है कि "वे वर्द्धमान महावीर के निर्वाण के २४६ वर्ष पहले विद्यमान थे।" महावग्ग में जिस वर्षावास का उल्लेख किया गया है, वह पार्श्वनाथीय परम्परा से प्रभावित होना चाहिए[3]। भगवान् महावीर ने कहा था कि वे उस धर्म का प्रचार कर रहे हैं, जिसका पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने प्रचार किया था[4]। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी। वे बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माता रानी वरमाला थीं, जिन्हें वामा भी कहते थे। ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने राज्य का परित्याग कर जिनदीक्षा ले ली और सम्मेदशिखर पर कठोर तपस्या की। यह पर्वत पश्चिमी बंगाल में है और अब भी इसे पारसनाथ पर्वत कहते हैं। उन्होंने अपने धर्म का लगभग ७० वर्ष प्रचार किया और ७७७ ई० पूर्व में सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन यद्यपि पौराणिकता से भरा हुआ है, तथापि यह बात स्पष्ट है कि उनके अन्तिम अनेक जन्मों की कहानी प्रतिद्वन्द्वी कमठ से संघर्ष की कहानी है। कमठ अशुभ का प्रतीक है, उसके ऊपर पार्श्वनाथरूपी शुभ की विजय होती है। अन्त में पार्श्वनाथ निर्वाण प्राप्त करते हैं और कमठ के जीव शम्बरासुर को भी जिनमहिमा के फलस्वरूप आत्मान्वेषण का अवसर प्राप्त होता है।

१– पद्मकीर्ति : पासणाहचरिउ, डा० प्रफुल्लकुमार मोदी लिखित प्रस्तावना पृ० ४३।
२– Zimmer H. Philosophies of India (Kegan Paul) 1953, P.P. 183
३– महावग्ग २।१।१।
४– व्याख्या प्रज्ञप्ति ५।९, २२७।

यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ की शिक्षाएँ क्या थीं, इसकी प्रत्यक्ष जानकारी के हमारे पास साधन नहीं हैं तथापि बाद के प्रमाणों के आधार पर यह सुनिश्चित है कि भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में अधिक अन्तर नहीं है। पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म के व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये चार याम इस प्रकार हैं— (१) सर्व प्राणातिपात विरमण (समस्त जीवों की हिंसा से विरत होना) (२) मृषावाद विरमण (झूठ बोलने से विरत होना) (३) अदत्तादान विरमण (बिना दी हुई वस्तु का न लेना) और (४) सर्व बहिस्थादान विरमण (अपरिग्रह)। इसमें ब्रह्मचर्य जोड़कर भगवान् महावीर ने पंचयाम धर्म का प्रचलन किया। भगवान् पार्श्व और महावीर के धर्म में जो सूक्ष्म अन्य अन्तर थे, उनका वर्णन उत्तराध्ययन-सूत्र के 'केसी गोयमिज्जं' नामक अध्ययन में किया गया है। मूलाचार में कहा गया है कि महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था, महावीर ने इसमें कुछ परिवर्तन किए।[1] केशि-गौतम संवाद में एक उल्लेख मिलता है कि आदिकाल (ऋषभदेव के समय) के जीव 'ऋजु जड़' थे। इसका अर्थ है— सरल प्रकृति के तो थे, परन्तु अर्थ बोध अधिक कठिनाई से होता था अर्थात् इस समय के व्यक्ति विनीत होकर भी विवेक से रहित थे। इसके बाद मध्यकाल (ऋषभदेव के बाद तथा महावीर के जन्म लेने के पूर्व) के जीव 'ऋजुप्राज्ञ' थे। इसका अर्थ है— सरल के साथ बुद्धिमान् थे अर्थात् ये थोड़े से संकेत मात्र से सब समझ जाते थे और विनीत भी थे। परन्तु महावीर के काल के जीव 'वक्रजड़' थे।[2] इसका अर्थ है— कुतर्क करने वाले तथा जडबुद्धि थे।

भगवान् पार्श्वनाथ के युग में तापस परम्परा का प्राबल्य था। अज्ञान तप को ही सच्चा तप समझा जाता था। गृहस्थाश्रम में ही उन्होंने पंचाग्नि तप करते हुए कमठ को दया का उपदेश दिया और धूनी में जलते हुए सर्प को नमस्कार महामन्त्र सुनवाकर उसका उद्धार किया।[3] सर्प और उसकी पत्नी मरकर क्रमशः धरणेन्द्र और पद्मावती हुए तथा अहिच्छत्रा में ध्यानस्थ पार्श्वनाथ पर संवर

१- मूलाचार ७।३६-३८।

२- डा० सुदर्शनलाल जैन : उत्तराध्ययनसूत्र एक परिशीलन पृ० ४२८।
पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेण धम्मे दुहा कए॥ —उत्तराध्ययनसूत्र १३।२६।

६- तओ भगवयाणियपुरिसवयणेण दयाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चक्खाणं च पडिच्छियं तेण। —चउपन्निमहापुरिसचरियं पृ० २६२।

द्वारा उपसर्ग किए जाने पर उन दोनों ने उनकी रक्षा की। केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, वंग, कलिंग, पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड, लाट, द्रविड, कश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि प्रदेशों में परिभ्रमण[1] कर धर्म का उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ के आत्मा, व्रत आदि तात्त्विक विषयों का जनमानस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वैदिक संस्कृति के उपासकों ने भी उसे अपनाया। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की स्पष्ट झांकी उपनिषदों में भी आयी है। प्राचीनतम उपनिषद् भी पार्श्व के बाद के हैं।[2] डा० विमलचरण लॉ ने भी कहा है कि भगवान् पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था और उसका प्रमुख केन्द्र वैशाली था।[3]

प्राचीन भारतीय भाषाओं में भगवान् पार्श्वनाथ पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनकी विस्तृत सूची डॉ० जयकुमार जी ने संक्षिप्त विवरण के साथ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दी है। इन सब ग्रन्थों में वादिराजसूरि कृत पार्श्वनाथचरित विशेष महत्त्व रखता है। भगवान् पार्श्वनाथ के समग्र जीवन पर विस्तृत रूप से लिखा गया यह प्रथम महाकाव्य है। इसकी रचना आचार्य वादिराजसूरि ने शक संवत् ९४७ (१०२५ ई०) में की। वादिराजसूरि में कवित्व एवम् दार्शनिकता का मणिकाञ्चन संयोग था। न्याय एवम् दर्शन सम्बन्धी उनकी प्रौढ़ता का दिग्दर्शन कराने में न्यायविनिश्चय विवरण एवम् प्रमाण निर्णय पूरी तरह समर्थ हैं। एकीभाव स्तोत्र जैन शासन एवम् उसके पुरस्कर्ताओं के प्रति उनकी दृढ़ श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। उनके द्वारा लिखा गया यशोधरचरित आगामी अनेक जैन कथालेखकों एवम् श्रोताओं का कण्ठहार बन गया है। पार्श्वनाथ भगवान् के चरित के कुछ सूत्र सर्वप्रथम यतिवृषभविरचित तिलोयपण्णत्ती में प्राप्त होते हैं। यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। जिनसेनकृत पार्श्वाभ्युदय में शंबर कृत उपसर्ग तथा उस पर पार्श्वनाथ की विजय को ही प्रमुख आधार बनाया गया है। उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ का चरित्र व्यवस्थित रूप से वर्णित है। कुछ श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों तथा कल्पसूत्र में भी पार्श्वचरित्र प्रतिपादित है। काव्यमय शैली में महाकाव्य के रूप में पार्श्वचरित्र के ग्रथन का सर्वप्रथम श्रेय वादिराजसूरि को ही है। जैन महाकाव्य–महाकाव्य होने के साथ–

१– भट्टारक सकलकीर्ति : पार्श्वनाथचरित्र १५।७६–८५, २३।१७–१९।

२– डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० १४२।

३– क्षत्रिय क्लान्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ८२।

साथ प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति के भण्डार भी हैं। वादिराजसूरि की साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा का दोहन करने का सर्वप्रथम प्रयास डॉ० जयकुमार जैन ने किया है। इस शोध प्रवन्ध को पढ़ने पर उनके परिश्रम, सूझ बूझ, समीक्षात्मक दृष्टि एवम् सरल शब्दों में विषय के प्रतिपादन की क्षमता के दर्शन होते हैं। उनके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ पर लिखी गयी कृतियों पर शोधकार्य करने की ओर शोध छात्रों का ध्यान गया है, फलस्वरूप भट्टारक सकलकीर्ति, विरचित पार्श्वनाथचरित, रइधूकृत पासणाहचरिउ, पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ तथा जिनसेनकृत पार्श्वाभ्युदय पर शोधकार्य हुआ है, तथापि भगवान् पार्श्वनाथ पर लिखी गयी अनेक कृतियों का प्रकाशन, अनुवाद और समीक्षात्मक मूल्याङ्कन अभी शेष है। आशा है सुधी विद्वान् तथा डॉ० जयकुमार जैन इसे आगे वढ़ायेंगे।

भाई जयकुमार जैन के शोध प्रवन्ध की महत्ता को देखते हुए मैं सदैव उन्हें इसके प्रकाशन की प्रेरणा देता रहता था, तथापि पूज्य १०८ आचार्य शान्ति सागर महाराज के आशीर्वाद की कृति को प्रकाशनार्थ अपेक्षा थी। आचार्य श्री की प्रेरणा से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह हर्ष की बात है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैनविद्या पर जो शोधकार्य हो रहा है, उसका प्रकाशन करना समाज का दायित्व है, इस ओर समाज के कर्णधारों का ध्यान जाना अपेक्षित है। इस कृति के प्रकाशन की वेला में मैं आचार्य श्री की वन्दना करता हूं तथा डॉ० जैन के प्रति शुभकामनायें व्यक्त करता हूं कि वे समाज सेवा के क्षेत्र में और अधिक आगे आयें।

—डॉ० रमेशचन्द्र जैन
एम० ए०, डी० लिट्

संस्कृत विभाग
वर्धमान कालेज
बिजनौर (उ० प्र०)

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम वाहन के रूप में संस्कृत भाषा का अद्वितीय महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। भारत की यह संस्कृति अनादि काल से अनन्त प्रकार के सम्प्रदायों की देन से समृद्ध हुई है। अतः संस्कृत साहित्य का विशाल भाण्डार प्राचीन काल के तीन प्रमुख सम्प्रदायों— वैदिक या हिन्दू, जैन और बौद्ध के मनीषियों की सेवा से समृद्ध हुआ है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के वास्तविक एवं सर्वांग मूल्यांकन के लिए तीनों धाराओं से समाप्त साहित्य का विवेचन अपरिहार्य है। एक विशिष्ट भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनों ने संस्कृत की जो महत्त्वपूर्ण सेवा की है, इस विषय में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डॉ० एम० विन्टरनित्ज ने जो लिखा है, वह स्मरणीय है—

"मैं जैनों की साहित्यिक उपलब्धियों का युक्तियुक्त पूर्ण विवेचन करने में असमर्थ रहा हूं। किन्तु मैं आश्वस्त हूं कि जैनों ने प्राचीन काल के धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में जो पूर्ण सहयोग दिया है, उसे मैंने प्रमाणित कर दिया है।"[१]

विद्वान् समीक्षक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनों की देन का पूर्णांग आकलन करना आवश्यक है और यह कार्य आज तक वांछित रूप में नहीं हुआ है। ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर जैन कवि निरन्तर काव्य-रचना में संलग्न रहे हैं। किन्तु हम देखते हैं कि पाश्चात्य विद्वान् वेबर,

---

१– "I was not able to do justice to the literary achievements of the Jainas. But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India."

—The Jainas in the History of Indian Literature by Dr. M. Winternitz, Editor—Jina Vijay Muni, Page 5.

मेक्डानल तथा कीथ आदि ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहासों में नाममात्र का उल्लेख किया है। जबकि वास्तविकता यह है कि संस्कृत साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में जैन कवियों की देन विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। क्योंकि ये कवि प्राकृत की परम्परा को साथ लेकर संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुये हैं। फलतः इनके संस्कृत काव्यों में प्राकृत काव्यों के भी नये तत्त्व प्राप्त होते हैं। अतएव इनके अध्ययन एवं गंभीर विश्लेषण से संस्कृत भाषा की व्यापकता, प्रयोगप्रचुरता, भावगरिमा तथा अलंकारिक सिद्धान्तों की नई परीक्षा सम्भव है।

साम्प्रदायिक भेदबुद्धि के कारण संस्कृत साहित्य का एक विशाल अंश अब तक उपेक्षित पड़ा है, जिसमें से वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत के धार्मिक जीवन में जिन महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैन सम्प्रदाय के पूज्य तीर्थंकर पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। उनके पावन जीवन को जनमानस में प्रचारित करने की भावना से रचित पार्श्वनाथचरित का शोधात्मक अध्ययन इस उपेक्षित काव्य के विश्लेषण करने में मेरा सावधान पदक्षेप है। मैंने तथ्यनिष्ठा के साथ पार्श्वनाथचरित महाकाव्य का सम्यक् विश्लेषण करते हुए अनुसंधान करने का यह विनम्र प्रयास किया है, जो विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। प्रस्तुत शोध–प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में जैनचरितकाव्यों की सामान्य विशेषतायें दिखलाते हुए शताधिक कवियों के चरितनामांत काव्यों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में लिखित तीर्थंकर पार्श्वनाथ विषयक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। द्वितीय अध्याय में वादिराज का परिचय एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय में कथावस्तु के मूल स्रोत पर विचार करते हुए सर्गानुसार विषय विवेचन, मूलस्रोत के कथानक और पार्श्वनाथचरित की कथावस्तु में कविकृत परिवर्तन एवं परिवर्धन का वर्णन है। अनन्तर पार्श्वनाथचरित के प्रारंभ में उल्लिखित कवियों और आचार्यों की कालानुक्रमिकता सिद्ध की गई है। चतुर्थ अध्याय में पार्श्वनाथचरित का महाकाव्यत्व सिद्ध करते हुए उसमें प्रयुक्त अलंकारों, छन्दों एवं रसों का विवेचन है। अन्त में गुण एवं दोषों का निर्देश किया गया है। पंचम अध्याय में महाकाव्य के वर्णनीय विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में पार्श्वनाथचरित में प्रतिबिंबित तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक स्थिति का चित्रण किया गया है। सप्तम अध्याय में पार्श्वनाथचरित के अनेक स्थलों में प्राप्त कालिदास भारवि, माघ, वाणभट्ट, और हरिचन्द्र के अनुकरण की प्रवृत्ति का निर्देश किया गया है।

उपसंहार में प्रस्तुत शोध-प्रबंध के निष्कर्ष के रूप में जैन कवियों के सहयोग की चर्चा करते हुए पार्श्वनाथचरित के आन्तरिक अनुशीलन से प्राप्त तथ्यों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। परिशिष्ट के रूप में सूक्तियों, पारिभाषिक शब्दकोष एवं उल्लिखित व्यक्तियों की नामावली को भी जोड़ दिया गया है। इससे पार्श्वनाथचरित में आये हुये शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों एवं कथाप्रवाह को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध को लिखने में मुझे जिन गुरुजनों एवं विद्वानों का सहयोग मिला है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूं। इस प्रसंग में सर्वप्रथम मैं अपने निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य के प्रति नतमस्तक होकर कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिनके कुशल निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध पूर्ण हो सका है। तदनन्तर पूज्य गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य, श्रद्धेय डॉ० मोहनलाल मेहता एवं आदरणीय भाई सा० डा० कोमलचन्द्र जैन के प्रति विनम्र आभारी हूं, जिनके परामर्श से शोध-विषय के चयन में पर्याप्त सहायता मिली तथा जिनका सहयोग और प्रोत्साहन निरन्तर मिलता रहा है।

मैं उन समस्त विभागीय गुरुजनों का भी हृदय से आभारी हूं, जिनका प्रोत्साहन प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध के पूर्ण होने में सहायक रहा है। उनमें गुरुवर प्रो० डा० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, डा० रामायण प्रसाद द्विवेदी, डा० श्री नारायण मिश्र, डा० सुदर्शनलाल जैन, डा० जयशंकरलाल त्रिपाठी एवं डा० कमलाप्रसाद सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री पं० मनुदेव भट्टाचार्य और पं० शशिधर मिश्र का भी हृदय से आभारी हूं, जिनका विषय की कठिनाइयों के समाधान में सहयोग मिला है।

इस प्रसंग में सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री, प्रो० उदयचन्द्र जैन, श्री जमनालाल जैन एवं डा० राजाराम जैन (आरा) के नामों को भी नहीं भुलाया जा सकता है, जिनका सतत स्नेह प्राप्त होता रहा है। अपने सहयोगियों में श्री भाई कमलेशकुमार जैन के प्रति अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने टंकित होने से पूर्व शोध-प्रवंध को आद्यन्त पढ़कर आवश्यक संशोधनों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। श्री श्रेयांस कुमार जैन एवं डा० कु० मंजुला मेहता से भी वांछित सहयोग मिला है, अतः उनका भी आभारी हूं। इस प्रयास में सहायक अपने अनुज श्री संतोषकुमार जैन को भी धन्यवाद देता हूं, जिनके कारण मैं अध्ययनेतर समस्याओं से मुक्त रहा।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मुझे "जूनियर रिसर्च फैलोशिप" की सुविधा प्राप्त हुई है। अतः आयोग का मैं हृदय से आभारी हूं। केन्द्रीय एवं विभागीय

पुस्तकालय, का०हि०वि०वि०, स्याद्वाद महाविद्यालय पुस्तकालय, श्री गणेश वर्णी दि० जैन शोध संस्थान पुस्तकालय, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान पुस्तकालय, गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) ग्रन्थालय एवं लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर (अहमदाबाद) पुस्तकालय के अधिकारियों तथा पुस्तकालयाध्यक्षों का हृदय से आभारी हूं, जिनके सहयोग से ग्रन्थों के उपयोग करने में पर्याप्त सहायता मिली है।

अन्त में उन सभी गुरुजनों, विद्वानों एवं सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं, जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत शोध-प्रबंध के लेखन में सहयोग प्राप्त हुआ है।

संस्कृत एवं पालि विभाग — जयकुमार जैन

का०हि०वि०वि०, वाराणसी — यू०जी०सी० जूनियर रिसर्च फेलो

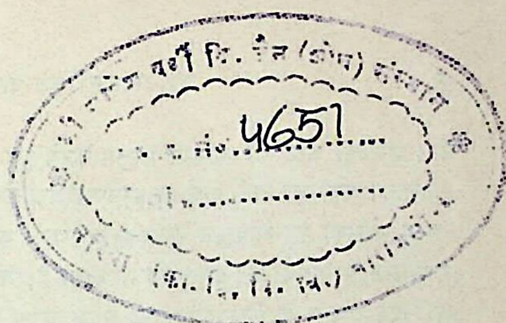
विषयानुक्रमणिका

चतुर्दश शताब्दी : कमलप्रभसूरि–पुण्डरीकचरित २१, मेरुतुंगसूरि–महापुरुषचरित कामदेवचरित, संभवनाथचरित २२, मुनिभद्रसूरि–शान्तिनाथचरित २२, भावदेवसूरि–पार्श्वनाथचरित २३, कीर्तिराज उपाध्याय–नेमिनाथचरित्र २३, वर्धमानभट्टारक–वरांगचरित २३, जयसिंहसूरि–कुमारपालचरित २४,पद्मनन्दि–वर्धमानचरित २४, भद्रगुप्त धन्यशालिभद्रचरित २५,जयशेखरसूरि–जम्बूस्वामिचरित २५, जयतिलकसूरि–मलयसुन्दरीचरित, हरिविक्रमचरित,सुलसाचरित २५, वाग्भट–ऋषभदेवचरित २६, जयानंदसूरि–स्थूलभद्रचरित,

पञ्चदश शताब्दी : भट्टारक सकलकीर्ति–शान्तिनाथचरित, वीरवर्धमानचरित, वृषभदेवचरित, यशोधरचरित, धन्यकुमारचरित, सुकुमालचरित, सुदर्शनचरित, श्रीपालचरित, मल्लिनाथचरित २६–२७, माणिक्यसुन्दरसूरि–श्रीधरचरित २८, ब्रह्म जिनदास–जम्बूस्वामिचरित, रामचरित २८, मुनिसुन्दरसूरि–जयानन्दकेवलिचरित २८, चारित्रसुन्दरगणि–महीपालचरित, कुमारपालचरित २९, रामचन्द्रविक्रमचरित २९, जयसागरगणि–पृथिवीचन्द्रचरित ३०, जयानन्द–धन्यकुमारचरित, स्थूलभद्रचरित ३०, राजवल्लभ–भोजचरित्र, चित्रसेनपद्मावती–चरित्र ३०, शीलसिंहगणि–श्रीचन्द्रकेवलिचरित ३१, जिनहर्षगणि–वस्तुपाल–चरित्र ३१, धर्मधर–नागकुमारचरित, श्रीपालचरित ३१, विद्यानन्दि–सुदर्शनचरित ३२, सत्यराज गणि पृथिवीचन्द्रचरित, श्रीपालचरित ३२, भुवनकीर्ति अंजनाचरित ३३, ज्ञानसागर–विमलनाथचरित ३३, इन्द्रहंसगणि–भुवनभानुचरित्र ३४, सोमकीर्ति–प्रद्युम्नचरित, यशोधरचरित, सप्तव्यसन–चरित ३४, भावचन्द्रसूरि–शान्तिनाथचरित ३५, श्रुतसागरसूरि–यशोधरचरित, श्रीपालचरित ३५, ब्रह्म अजित–हनुमच्चरित ३५,

षोडश शताब्दी : लब्धिसागर–पृथिवीचन्द्रचरित ३६,रत्नकीर्ति–भद्रबाहुचरित ३६, ब्रह्मनेमिदत्त–श्रीपालचरित, प्रीतिंकरमहामुनिचरित, धन्यकुमारचरित ३७, भट्टारक शुभचन्द्र–चन्द्रप्रभचरित, करकण्डुचरित, चन्दनाचरित, जीवन्धरचरित, श्रेणिकचरित ३७, पं० जिनदास–होलीरेणुकाचरित ३८, विनयसागर गणि–शालिभद्रचरित ३८, कवि राजमल्ल–जम्बूस्वामिचरित ३८, हेमविजय–पार्श्वनाथचरित ३९, रविसागरगणि–साम्बप्रद्युम्नचरित ३९, विद्याभूषण भट्टारक–जम्बूस्वामिचरित ३९,पद्मसुन्दर–भविष्यदत्तचरित,पार्श्वनाथचरित ३९, उदयवीरगणि–पार्श्वनाथचरित ४०, चारुचन्द्र–उत्तमकुमारचरित ४०, भट्टारक वादिचन्द्र–सुलोचनाचरित, यशोधरचरित ४०, दोड्डय्य–भुजबलिचरित ४०।

सप्तदश शताब्दी : देवविजयगणि–पाण्डवचरित, रामचरित्र ४१,गुणविजयगणि–



प्रथम अध्याय

चरितकाव्य और पार्श्वनाथचरित

(क) संस्कृत साहित्य में जैन चरितकाव्य : एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन

संस्कृत साहित्य में चरितकाव्यों की एक लम्बी परम्परा है। चरितकाव्यों में किसी पुण्यशाली महापुरुष का चरित वर्णित होता है। सामान्यतः संस्कृत-साहित्य में दो तरह के चरित-काव्य उपलब्ध होते हैं, १- जिन चरितकाव्यों का कथानक पुराणों से ग्रहण किया गया है, ऐसे पौराणिक चरितकाव्य और २- जिन चरितकाव्यों का कथानक किसी ऐतिहासिक घटना या महापुरुष को लेकर लिखा गया है, ऐसे ऐतिहासिक चरितकाव्य। महाकवि अश्वघोष का बुद्धचरित और महाकवि श्रीहर्ष का नैषधीयचरित प्रथम कोटि के तथा वाणभट्ट का हर्षचरित और विल्हण का विक्रमांकदेवचरित द्वितीय कोटि के प्रतिनिधि चरित-काव्य हैं।

जैन चरितकाव्यों में प्रायः तिरसठ शलाकापुरुष और २४ कामदेव तथा कतिपय अन्य पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन मिलता है। २४ तीर्थंकर, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ वलभद्र और १२ चक्रवर्ती-इन तिरसठ महापुरुषों की जैन साहित्य में शलाका संज्ञा है। शलाका शब्द प्राचीन काल में प्रमाणबोधक वस्तु के लिए प्रयुक्त होता था। अतएव शलाकापुरुष से तात्पर्य उन महत्वशाली व्यक्तियों से है, जो समाज में प्रमाण माने जाते थे, गणमान्य थे तथा जिनका समाज में रहना जरूरी था। अथवा शलाका शब्द आँख में सुर्मा आँजने वाली सलाई-विशेष के लिए भी प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार सुर्मा लगाने से हुई आँख की निर्मलता में सलाई का स्थान महत्वपूर्ण स्थान होता है, उसी प्रकार समाज की स्वच्छता में कुछ महापुरुषों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतः उन्हें शलाका कहा गया हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं

है। शलाका शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए श्री रंजन सूरिदेव ने लिखा है—'शलाका शब्द का अर्थ नाप या प्रमाणबोधक वस्तु है। प्राचीन समय में चुनाव के समय शलाका का व्यवहार किया जाता था। यहाँ शलाका पुरुष से ऐसे महत्त्वशाली गणमान्य व्यक्तियों का ग्रहण किया जाता है, जो समाज में गणनीय थे। जिनका अस्तित्व समाज के लिए आवश्यक माना जाता था। जिन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के आधार पर समाज का मूल्यांकन किया जाता था, ऐसे व्यक्तियों को जैन वाङ्मय में शलाकापुरुष कहा गया है।[1] इन ६३ शलाका पुरुषों के नाम इस प्रकार हैं:—

२४ तीर्थंकर : १–ऋषभ, २–अजित, ३–संभव, ४–अभिनन्दन, ५–सुमति, ६–पद्मप्रभ, ७–सुपार्श्व, ८–चन्द्रप्रभ, ९–पुष्पदन्त, १०–शीतल, ११–श्रेयांस, १२–वासुपूज्य, १३–विमल, १४–अनन्त, १५–धर्म, १६–शान्ति. १७–कुंथु, १८–अर, १९–मल्लि, २०–सुव्रत, २१–नमि, २२–नेमि, २३– पार्श्व, २४–वर्धमान।

१२ चक्रवर्ती : १–भरत, २–सगर, ३–मघवा, ४–सनत्कुमार ५–शान्ति, ६–कुंथु ७–अर, ८–सुभौम, ९–पद्म, १०–हरिषेण, ११–जयसेन, १२–ब्रह्मदत्त।

९ बलदेव : १–विजय, २–अचल, ३–सुधर्म, ४–सुप्रभ, ५–सुदर्शन, ६–नन्दी, ७–नन्दिमित्र, ८–राम, ९–पद्म।

९ नारायण : १–त्रिपृष्ठ, २–द्विपृष्ठ, ३–स्वयंभू, ४–पुरुषोत्तम, ५–पुरुषसिंह, ६–पुण्डरीक, ७. दत्त, ८–नारायण (लक्ष्मण), ९–कृष्ण।

९ प्रति नारायण (प्रतिशत्रु) : १–अश्वग्रीव, २–तारक, ३–मेरक, ४–मधुकैटभ, ५–निशुंभ, ६–वलि, ७–प्रहरण, ८–रावण, ९–जरासंघ।[2]

उक्त ६३ शलाका पुरुषों के अतिरिक्त जिन व्यक्तियों को जैन चरितकाव्यों में प्रमुख स्थान मिला है, उनमें २४ कामदेवों का नाम उल्लेखनीय है—

१–बाहुवलि, २–प्रजापति, ३–श्रीभद्र, ४–दर्शनभद्र, ५–प्रसेनचन्द्र, ६–चन्द्रवर्ण, ७–अग्निमुख, ८–सनत्कुमार, ९–वत्सराज, १०–कनकप्रभ, ११–मेघप्रभ, १२–शान्तिनाथ, १३–कुंथुनाथ, १४–अरनाथ, १५–विजयचन्द्र, १६–श्रीचन्द्र, १७–नल राजा, १८–हनुमान्, १९–वलिराज, २०–वसुदेव, २१–प्रद्युम्न, २२–नाग-

---

१– श्री रंजन सूरिदेव लिखित 'जैन वाङ्मय में शलाकापुरुष' लेख–गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० ५७२।

२– द्रष्टव्य–तिलोयपण्णत्ती, गाथा ५१२-५१९, पृ० २०६-२०७।

कुमार, २३–जीवन्धर, २४–जम्बु।

राम-लक्ष्मण तथा कृष्ण-वलदेव के प्रति जैनियों का भी सदा से पूज्यभाव रहा है। इनकी गणना तिरसठ शलाका पुरुषों के अन्तर्गत की गई है। इसी प्रकार प्रद्युम्न, हनुमान् आदि की भी गणना जैन ग्रन्थों में चौबीस कामदेवों के अन्तर्गत की गई है। चरितकाव्यों की सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिनमें किसी शलाका पुरुष या अन्य किसी पुण्यशाली पुरुष का जीवन चरित काव्यात्मक शैली में समस्त काव्यतत्वों के समन्वय के साथ गुंफित किया जाता है, उसे चरित काव्य कहते हैं।

चरितनामान्त महाकाव्यों पर विचार करते हुए डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि—'चरितनामान्त महाकाव्यों से हमारा तात्पर्य उस प्रकार के महाकाव्यों से है, जिनमें किसी तीर्थंकर या पुण्यपुरुष का आख्यान निवद्ध हो, साथ ही वस्तु-व्यापारों का नियोजन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार संगठित हुआ हो। अवान्तर कथाओं और घटनाओं के वैविध्य के साथ अलौकिक और अप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश अधिक न हो। दर्शन और आचारशास्त्र इस श्रेणी के काव्यों में अवश्य समन्वित रहते हैं। कथावस्तु व्यापक, मर्मस्पर्शी स्थलों से युक्त और भावपूर्ण होती है।[1]

जैन परम्परा में सम्पूर्ण साहित्य को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है— १- प्रथमानुयोग, २- करणानुयोग, ३- चरणानुयोग और ४- द्रव्यानुयोग। जिन ग्रन्थों में परमार्थ-विषय का कथन करने वाले तिरसठ शलाका पुरुषों का अथवा अन्य पुण्यशाली महापुरुषों का चरित वर्णित होता है, उन्हें प्रथमानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं। जिन ग्रन्थों में लोकालोक विभाग, युग परिवर्तन, चतुर्गति और कर्मादि का वर्णन होता है, वे ग्रन्थ करणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। जिन ग्रन्थों में गृहस्थ और साधुओं की चारित्रोत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का वर्णन रहता है, उन्हें चरणानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं और जिनमें जीवादि सप्ततत्त्वों, पुण्य-पाप आदि का विवेचन किया जाता है, उन्हें द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं।

१– संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० १८-१९।

२– "प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।

इस दृष्टि से समस्त चरितकाव्य प्रथमानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। प्रथमानुयोग की प्रवृत्ति के अनुसार इन ग्रन्थों में महापुरुषों की धर्म में प्रवृत्ति, संसार की अनित्यता, शरीर की अशुचिता आदि के बारे में वर्णन करके मनुष्यों को धर्म की ओर प्रेरित किया जाता है। चूँकि जनसाधारण स्वल्प प्रयत्न से अन्य अनुयोगो के ग्रन्थों को समझ नहीं सकता है, अतएव प्रथमानुयोग के ग्रन्थों की रचना की गई है। प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पुराण और चरितकाव्य आते हैं। पुराण में जहाँ अनेक व्यक्तियों के चरित का वर्णन होता है, वहाँ चरितकाव्यों में किसी एक व्यक्ति के चरित का वर्णन काव्यात्मक शैली में होता है।

जैन साहित्य में अनेक चरित काव्य लिखे गये हैं। उनके आन्तरिक-अनुशीलन से उनकी कुछ सामान्य विशेषताओं का पता चलता है, जो इस प्रकार हैं—

(१) जैन चरितकाव्यों में नायक, प्रतिनायक और उनसे संबद्ध प्रमुख व्यक्तियों के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन किया जाता है। इनमें नायक को उत्तरोत्तर उन्नत और प्रतिनायक को जन्म-जन्मान्तर में नायक से शत्रुता करते हुए दिखाया जाता है। अन्ततः प्रतिनायक नायक के समक्ष अपनी हार स्वीकार करता है और नायक के मार्ग पर चलने लगता है। किन्तु ऐतिहासिक चरितकाव्यों में नायक के जन्म-जन्मान्तर का वर्णन नहीं किया जाता है।

(२) इन काव्यों का आधार प्रायः जैन पौराणिक आख्यान है। अवान्तर कथानकों में अनेक काल्पनिक या लोक-प्रसिद्ध कथाओं का भी समावेश हुआ है। परन्तु ऐतिहासिक चरितकाव्यों में समय, स्थान आदि के निश्चित तथ्यों को प्रकट करने के कारण कल्पना को अधिक स्थान नहीं मिल सका है।

(३) जैन चरितकाव्यों का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, अतएव इन काव्यों में भोग पर त्याग की विजय दिखलाई जाती है।

(४) भारत का प्राचीन साहित्य धार्मिक एवं दार्शनिक भावनाओं से ओतप्रोत पाया जाता है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इसका साक्षी है। अतएव इन काव्यों में भी प्रसंगतः दार्शनिक एवं धार्मिक तत्वों का समावेश पाया जाता है। इसी कारण कहीं-कहीं कोई काव्य नीरस भी लगने लगता है।

चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥"

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ४३-४६।

(५) जैन चरितकाव्यों में प्रायः अंगीरस शान्त है। किन्तु श्रृंगार रस के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों पक्षों एवं अन्य सभी रसों का यथेष्ठ वर्णन इन काव्यों में हुआ है।

(६) जैन चरितकाव्यों में प्रायः ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति लिखी गई है। इन प्रशस्तियों में ग्रन्थरचना का समय, तत्कालीन राजा एवं अन्य ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख कर दिया गया है। इन ग्रन्थों में मंगलाचरण में भी कहीं-कहीं पूर्व कवियों की प्रशस्ति प्राप्त होती है और कहीं-कहीं तो यह कालानुक्रमिक भी है। अतएव जैन चरितकाव्यों के मंगलाचरण और अन्तिम प्रशस्ति पद्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्व है।

महाभारत और रामायण के कथानक हिन्दुओं की तरह इतर सम्प्रदायों को भी प्रिय रहे हैं। जैन कवियों ने भी अपने सम्प्रदाय-परम्परा-प्राप्त सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुरूप रामायण और महाभारत को आश्रय मानकर अनेक काव्यों की रचना की है। यहाँ तक की जैन साहित्य में महापुरुषों के चरित को काव्यात्मक शैली में लिखने का श्रीगणेश ही प्राकृत भाषा में निबद्ध विमलसूरि (प्रथम शताब्दी) के 'पउमचरियं' से होता है, जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सम्पूर्ण जीवनचरित वर्णित है। जैन परम्परा में राम का नाम पद्म भी उल्लिखित है। इसकी शैली रामायण और महाभारत जैसी है। यही नहीं, जिस प्रकार जैन चरितकाव्यों का प्राकृत भाषा में प्रारम्भ श्रीराम के चरित के साथ हुआ, उसी प्रकार संस्कृत भाषा में भी। आचार्य रविषेण (७वीं शताब्दी) का पद्मचरित संस्कृत भाषा में निबद्ध आद्य जैन चरितकाव्य है।

जैन कवि ईसा की सप्तम शताब्दी से लेकर निरन्तर चरितकाव्यों की रचना में संलग्न हैं। अब ऐतिहासिक दृष्टि से कालानुक्रम को ध्यान में रखते हुए चरित-काव्यो का सिंहावलोकन किया जा रहा है। यहाँ केवल चरितनामान्त चरितकाव्यों का ही विवेचन किया जा रहा है, अतएव कुछ धर्मशर्माभ्युदय जैसे उत्कृष्ट चरित-काव्यों को भी स्थान नहीं मिल सका है क्योंकि उनके नाम के अन्त में चरित या चरित्र शब्द नहीं है।

सप्तम शताब्दी

१-रविषेण : पद्मचरित[1]

आचार्य रविषेण ने पद्मचरित में अपनी गुरुपरम्परा का स्वयं उल्लेख किया

१- भारतीय ज्ञानपीठ से पद्मपुराण नाम से तीन भागों में १९५८,५९ और ५९ ई० में प्रकाशित है।

है, जो इस प्रकार है-इन्द्रगुरु 7 दिवाकर यति 7 अर्हन्मुनि 7 लक्ष्मणसेन 7 रविषेण[1]। अपनी गुरु परम्परा के अतिरिक्त आचार्य प्रवर ने अपना व्यक्तिगत परिचय कुछ भी नहीं दिया है। सेनान्त नाम होने के कारण सेनसंघ के आचार्य होने की संभावना की जाती है।[2] रविषेण ने पद्मचरित की रचना वीरनिर्वाण के साढ़े १२०३ वर्ष वाद (ई० सन् ६७७) में पूर्ण की थी, इस बात का उल्लेख ग्रन्थ में ही किया गया है।[3] बाह्य प्रमाणों के आधार पर भी इनका यही समय सिद्ध होता है, क्योंकि उद्योतनसूरि[4] और आचार्य जिनसेन[5] ने इनका उल्लेख किया है। इन दोनों का ही समय आठवीं शताब्दी है।

पद्मचरित में राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण का वर्णन १२३ पूर्वों में किया गया है। राम, लक्ष्मण और रावण जैन परम्परा में क्रमशः अष्टम बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण स्वीकृत हैं। यद्यपि इसमें पौराणिक तत्व अधिक है, किन्तु जैन संस्कृत चरितकाव्यों में यह आद्य रचना है। अतः इसका महत्त्व चरित-काव्यों के इतिहास में अविस्मरणीय है। पद्मचरित पर राजा भोज (परमार) के राज्यकाल में १०३० ई० में श्रीचन्द्र मुनि द्वारा एक टीका लिखे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[6]

१- "आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥"
—पद्मपुराण १२३।१६८।

२- द्रष्टव्य-तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृष्ठ ३७६।

३- "द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।
जिनभास्करवर्धमानसिद्धेश्चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥"
—पद्मपुराण १२३।१८२।

४- जेहिं कए रमणिज्जे वरंगपउमाणचरियवित्थारे ।
कहवण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे ॥"
—कुवलयमाला अनुच्छेद ६, पृष्ठ ४।

५- "कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता ।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया ।" —हरिवंशपुराण १।३४।

६- द्रष्टव्य-जैन-साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ९२।

अष्टम शताब्दी

२– जटासिंह नन्दि : वरांगचरित[1]

जैन चरितकाव्यों में संस्कृत के आद्य चरितकाव्य रचयिता का गौरव जटासिंह नन्दि (जटाचार्य) को ही प्राप्त है। यद्यपि इसके पूर्व पद्मचरित की रचना हो चुकी थी, पर उसमें पौराणिक तत्व अधिक थे। इनका व्यक्तिगत परिचय सर्वथा अज्ञात है। वरांगचरित में आये वर्णनों के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन्हें दाक्षिणात्य माना है।[2] उद्योतन सूरि ने रविषेण के साथ इनके वरांगचरित का भी उल्लेख किया है।[3] उद्योतन सूरि (७७८ ई०) के पश्चाद्वर्ती अनेक कवियों ने इनका स्मरण किया है। प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला इनका समय सातवीं शताब्दी से आगे ले जाना उचित नही मानते हैं।[4] डा० रामजी उपाध्याय ने इनका समय सातवीं-आठवीं शताब्दी का सन्धि काल माना है।[5] किसी भी परिस्थिति में इनका समय आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से आगे नहीं खींचा जा सकता है।

वरांगचरित में कवि ने श्रीकृष्ण और तीर्थंकर नेमिनाथ के समकालीन भोजवंशी महाराज धर्मसेन के पुत्र वरांगकुमार का जीवनचरित निबद्ध किया है। इसमें जैन दर्शन और जैन आचार का विवेचन किया है। इसमें ३१ सर्ग हैं। जबकि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महाकाव्य में ३० से अधिक सर्ग नहीं होने चाहिए। यह अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरनन्द की कोटि का काव्य है।

नवम शताब्दी

३- गुणभद्र : जिनदत्तचरित[6]

गुणभद्र आचार्य जिनसेन के शिष्य थे। दशरथ भी गुणभद्र के गुरु थे।[7] डा० गुलाबचन्द चौधरी ने जिनदत्तचरित को आचार्य जिनसेन के शिष्य गुणभद्र की रचना न मानकर किसी पश्चात्कालीन भट्टारक गुणभद्र की रचना माना है।[8] पर वस्तुतः

१– भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा से १९५३ ई० में सानुवाद प्रकाशित।

२– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० २९३।

३– कुवलयमाला, अनुच्छेद ६, पृ० ४।

४– वरांगचरित, भूमिका, पृ० २६।

५– संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, पृ० ४०५।

६– माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई से वि०सं० १९७३ में प्रकाशित।

७– द्रष्टव्य-उत्तरपुराण, प्रशस्ति पद्य ९-१४।

८– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६२।

यह जिनसेन के शिष्य गुणभद्र की ही रचना जान पड़ती है।

आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना शक सं० ८२० (८९८ ई०) में की थी।[1] दशम शताब्दी के एक शिलालेख में गुणभद्र का उल्लेख किया गया है।[2] अतएव इनका काल ई० सन् की ९वीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिए।

जिनदत्तचरित में अंगदेशस्थ वसन्तपुर नगर के निवासी सेठ जीवदेव के पुत्र जिनदत्त का आख्यान निबद्ध है। यह ९ सर्गात्मक एवं अनुष्टुप् छन्द में होते हुए भी अत्यन्त सरस एवं भावगरिमा से सम्पन्न काव्य है। इस काव्य का नाम 'जिनदत्तकथासमुच्चय' भी मिलता है।[3]

दशम शताब्दी

४– वीरनन्दि : चन्द्रप्रभचरित[4]

वीरनन्दि नन्दिसंघ के देशीगण के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम अभयनन्दि और गुरु के गुरु का नाम गुणनन्दि था।[5] महाकवि वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित (१०२५ ई०) में चन्द्रप्रभचरित के रचयिता के रूप में इनका स्मरण किया है।[6] अतः वे उनसे पूर्ववर्ती है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय ९५०-९९९ ई० माना है।[7]

चन्द्रप्रभचरित में जैन धर्म के अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का चरित निबद्ध

१– "शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मंगलमहार्थकारिणि पिंगलनामनि समस्तजनसुखदे ॥
श्रीपञ्चभ्यां वुधार्द्रायुजि दिवसजे मन्त्रिवारे वुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे सैंहिकेये तुलायाम्।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरो निष्ठितं भव्यवर्यैः।
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥
—उत्तरपुराण, प्रशस्ति–पद्य ३५–३६।

२– जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेखांक ४८६।

३– द्र०–जिनरत्नकोश, पृ० १३५।

४– निर्णयसागर बम्बई से १८९४ एवं १९२६ ई० में प्रकाशित।

५ जिनरत्नकोश, पृ० ११९।

६– पार्श्वनाथचरित, १।३०।

७– संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ७७।

किया गया है। जैन संस्कृत चरितकाव्यों में यह उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग और १६६७ पद्य हैं। पूर्वजन्मों का आख्यान प्रधान होते हुए भी इसमें जैनेतर महाकाव्यों की शैली अपनाई गई है। काव्य अत्यन्त सरस है।

५– महासेन : प्रद्युम्नचरित[1]

महासेन लाटवर्गट (लाड़ बागड) संघ के आचार्य थे। ये चारुकीर्ति के शिष्य तथा राजा भोजराज के पिता सिन्धुराज के महामात्य पप्पट के गुरु थे।[2] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रद्युम्नचरित का रचनाकाल ६७४ ई० के आसपास मानते हुए उन्हें १०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखते हैं।[3] डा० रामजी उपाध्याय ने इनका रचनाकाल दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी का सन्धिकाल माना है।[4]

प्रद्युम्नचरित में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवनचरित वर्णित है। यह चतुर्दशसर्गात्मक महाकाव्य है। काव्य में कहीं-कहीं गेयता आ गई है, जिसमें गीतगोविन्द की झलक देखी जा सकती है।

६–असग : वर्धमानचरित[5], शान्तिनाथचरित[6]

महाकवि असग के पिता का नाम पटुमति, माता का नाम वैरेति तथा इनके पुत्र का नाम जिनाप था। इनके गुरु नागनन्दि व्याकरण, काव्य और जैन शास्त्रों के विद्वान् थे। महाकवि असग ने शक सं० ६१० (६८८ ई०) में वर्धमानचरित की रचना की थी। अतएव कवि का समय ईसा की दसवीं शताब्दी है।[7]

वर्धमानचरित को महावीरचरित या सन्मतिचरित भी कहा जाता है। इसका कथानक गुणभद्र के उत्तरपुराण के ७४वें पर्व से लिया गया है। विविध अलकारों एवं छन्दों का प्रयोग इस काव्य में देखने को मिलता है। यह अष्टादश सर्गात्मक महाकाव्य है। अवान्तर कथाओं के रूप मे इसमें मारीच, विश्वनन्दि,

---

१– माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से १६१७ ई० में प्रकाशित।

२– जिनरत्नकोश, पृ० २६४।

३– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ५७।

४– संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, पृ० ४१०।

५– श्री पार्श्वनाथ जिनदास फड़कुले द्वारा सम्पादित होकर १६३१ ई० में सोलापुर से प्रकाशित। हि०अनु० सहित मू० कि० कापड़िया द्वारा सूरत से १६१८ में प्रकाशित।

६– मराठी अनुवाद सहित श्री पा० जि० फड़कुले द्वारा सोलापुर से प्रकाशित।

७– द्रष्टव्य—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ११–१२।

हरिषेण, सूर्यप्रभ आदि की कथाओं का प्रयोग हुआ है।

शान्तिनाथचरित भी महाकाव्य है। इसका नाम शांतिनाथपुराण भी मिलता है। इसमें पौराणिकता का समावेश अधिक है। यह षोडशसर्गात्मक महाकाव्य है। वर्धमानचरित की अपेक्षा इसमें भाषा, रसभाव-संयोजन, प्रकृतिचित्रण आदि हीन है।

उक्त काव्यों के अतिरिक्त इनका चन्द्रप्रभचरित काव्य भी मिलता है।[1]

एकादश शताब्दी

७–वादिराज : पार्श्वनाथचरित[2], यशोधरचरित[3]

वादिराज के गुरु का नाम मतिसागर और गुरु के गुरु का नाम श्रीपालदेव था। पार्श्वनाथचरित की रचना उन्होंने शक सं० ९४७ (१०२५ ई०) में की थी। यह द्वादश सर्गात्मक महाकाव्य है। यशोधरचरित में राजा यशोधर की कथा वर्णित है। अहिंसा का प्रभाव दिखाने के लिए राजा यशोधर की कथा जैन धर्म में बहु-प्रचलित रही है। वादिराजसूरि का विस्तृत परिचय इस शोध-प्रबंध के २य अध्याय में दिया गया है। वहीं उक्त दोनों काव्यों का भी परिचय दिया गया है।

८– मल्लिषेण : नागकुमारचरित[4]

मल्लिषेण जिनसेन के शिष्य और कनकसेन के प्रशिष्य थे। नागकुमारचरित की प्रशस्ति में मल्लिषेण ने अपने गुरु का नाम नरेन्द्रसेन लिखा है।[5] ये नरेन्द्रसेन जिनसेन के भाई थे। अतः संभव है, दोनों ही भाई इनके गुरु रहे हों। मल्लिषेण ने अपने महापुराण की समाप्ति शक सं० ९६९ (१०४७ ई०) में की थी।[6] वादिराज (१०२५ ई०) ने इनके गुरु नरेन्द्रसेन का उल्लेख किया है।[7] अतः वादिराज के

१– जिनरत्नकोश, पृ० ११९।

२– मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से वि० सं० १९७३ में प्रकाशित।

३– कर्नाटक यूनिवर्सिटी धारवाड़ से १९६३ ई० में प्रकाशित।

४– हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में है।

५– नागकुमारचरित प्रशस्ति पद्य ४-५।

६– वर्षैकत्रिंशताहीने सहस्रे शकभूभुजः।
सर्वजिद्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्ले पञ्चमीदिने।—महापुराण पद्य २, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० १७० से उद्धृत।

७– शुद्धयन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलंक वादिराज सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा।
—न्यायविनिश्चयविवरण, प्रशस्ति पद्य २ का उत्तरार्ध।

समकालीन या कुछ ही पश्चाद्वर्ती मल्लिषेण को मानना चाहिए।

नागकुमारचरित पाँच सर्गात्मक काव्य है। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का महात्म्य प्रकट करने के लिए नागकुमार का चरित निबद्ध किया गया है। नागकुमार जैन परम्परानुसार बाइसवें कामदेव हैं। काव्य सरल और भाषा प्रवाहमयी है। भावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया गया है।

द्वादश शताब्दी

९–हेमचन्द्र : त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित[1], कुमारपालचरित[2]

सिद्धहेमशब्दानुशासन के रचयिता कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह के समकालीन प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् थे। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्होंने चालुक्य राजा कुमारपाल के अनुरोध पर की थी।[3] डा० बूल्हर ने इसकी रचना का समय वि०सं० १२१६-१२२८ माना है।[4]

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में जैनधर्ममान्य तिरसठ शलाकापुरुषों का चरित वर्णित है। यह १० पर्वों में विभक्त है। अन्तिम पर्व सबसे विशाल है, जिसमें तीर्थंकर महावीर का जीवनचरित वर्णित किया गया है। वास्तव में इसे काव्य न कहकर पुराण कहा जाना चाहिए। पश्चाद्वर्ती अनेक चरितकाव्यों का उपजीव्य होने से इसे चरितकाव्यों में स्थान दिया गया है।

कुमारपालचरित एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। चालुक्य नरेश कुमारपाल पर जैनों ने अनेक काव्य लिखे हैं। यद्यपि वह शैव था, परन्तु जैन धर्म में उसकी अगाध श्रद्धा थी। कुमारपालचरित में कुल १८ सर्ग हैं, जिनमें १० संस्कृत भाषा में तथा ८ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। इसका नाम द्वयाश्रयमहाकाव्य भी है।

१०– नेमिचन्द्र : धर्मनाथचरित

जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ पर सं० १२१६ में नेमिचन्द्र कृत धर्मनाथचरित मिलता है। संभवतः ये वही नेमिचन्द्र हैं, जिन्होंने वि० सं० १२१३

१– जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित। १९०६ से १९१३ ई० तक।

२– भाण्डारकर ओरियंटल सीरीज पूना (संपा० शंकरपाण्डुरंग पंडित) १९३६ ई०, द्वितीय संस्करण।

३– द्रष्टव्य-कुमारपालचरित, पर्व १०, प्रशस्ति पद्य १९-२०।

४– द्रष्टव्य-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७९।

(११५६ ई०) में प्राकृत में अनन्तनाहचरिय की रचना की थी।[1]

११– गुणभद्रमुनि : धन्यकुमारचरित[2]

गुणभद्र मुनि चन्देल नरेश परमार्दि के शासनकाल में हुए हैं। ये नेमिसेन के शिष्य और माणिक्यसेन के प्रशिष्य थे।[3] ललितपुर के पास मदनपुर से प्राप्त एक अभिलेख में बताया गया है कि ११८२ ई० में महोबा के चन्देलवंशी राजा परमार्दिदेव पर पृथिवीराज (सोमेश्वर के पुत्र) ने आक्रमण किया था।[4] इस आधार पर समकालीन होने से इनका समय भी ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

धन्यकुमारचरित सात सर्गात्मक काव्य है। इसमें धन्यकुमार का जीवनचरित गुणभद्र के उत्तरपुराण के आधार पर अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया है। धन्यकुमार भगवान् महावीर के समकालीन राजगृह के श्रेष्ठिपुत्र थे।

१२– मुनिरत्नसूरि : अममस्वामिचरित[5]

मुनिरत्नसूरि चन्द्रगच्छीय समुद्रघोषसूरि के शिष्य थे। समुद्रघोष सूरि चन्द्रप्रभसूरि के प्रशिष्य और धर्मघोषसूरि के शिष्य थे। अममस्वामिचरित की रचना उन्होंने वि०सं० १२५२ (११९५ ई०) में की थी।[6] अतः इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिए।

अममस्वामिचरित २० सर्गात्मक महाकाव्य है, जिसमें भावी तीर्थंकर अमम का चरित निबद्ध किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण के जीव को आगामी उत्सर्पिणी काल में अमम नामक तीर्थंकर होने की कथा वर्णित है। प्रसंगतः अनेक अवान्तर कथायें भी आई हैं। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ पर मुनिसुव्रतचरित होने का भी उल्लेख मिलता है।[7]

१– द्र०–वही, पृ० १०४।

२– आमेरशास्त्रभण्डार जयपुर में इसकी हस्तलिखित प्रति है।

३– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ५९।

४– वही, पृ० ६०।

५– पन्यास मणिविजय ग्रन्थमाला अहमदाबाद से वि०सं० १९९८ में प्रकाशित।

६– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२७।

७– संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, (रामजी उपाध्याय) पृ० ४१८।

१३– देवप्रभसूरि : पाण्डवचरित[1], मृगावतीचरित[2]

पाण्डवचरित की प्रशस्ति से पता चलता है कि देवप्रभसूरि मलधारी गच्छ के थे। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना देवानन्द सूरि के अनुरोध से की थी। इनका रचनाकाल १२वीं और १३वीं शताब्दी का सन्धिकाल माना जाता है।

पाण्डवचरित १८ सर्गात्मक महाकाव्य है। महाभारत के प्रत्येक पर्व के अनुसार १८ पर्वों का कथानक इसमें निवद्ध है। शैली प्रायः पौराणिक है। इसके छटे सर्ग में नलोपाख्यान, १६वें सर्ग में तीर्थंकर नेमिनाथ का चरितवर्णन और १८वें सर्ग में पाण्डवों का निर्वाण तथा वलदेव का स्वर्गमन-वर्णन आया है।

मृगावतीचरित में वत्सराज उदयन की माता मृगावती का चरित वर्णित हुआ है। वे राजा चेटक की पुत्री और तीर्थंकर महावीर की उपासिका थीं। इसमें उदयन और वासवदत्ता का चरित वर्णित हुआ है। वीच-वीच में अनेक अवान्तर कथाओं का भी संयोजन किया गया है।

त्रयोदश शताब्दी

ईसा की तेरहवीं शताब्दी तो चरितकाव्यों के प्रणयन के लिए वरदान सिद्ध हुई है, क्योंकि इसमें अनेक प्रभावी कवियों द्वारा अनेक पुण्यपुरुषों का चरित काव्यों में गुंफित किया गया है।

१४– जिनपाल उपाध्याय–सनत्कुमारचरित[3]

जिनपाल उपाध्याय चन्द्रकुल की प्रवरवज्र शाखा के जिनपति सूरि के शिष्य थे। इन्होंने १२०५ ई० में षट्स्थानवृत्ति की रचना की थी।[4] अतएव इनका रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिये।

सनत्कुमारचरित में चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का चरित २४ सर्गों में निवद्ध है।[5] काव्य में धार्मिकता का वलात् समावेश नहीं किया गया है। अतः जैनदर्शन या आचार का प्रतिपादन इसमें नहीं के वरावर ही हुआ है। शास्त्रीय नियमों और

१– निर्णयसागर काव्यमाला सीरीज, १९११ ई० में प्रकाशित।

२ - हीरालाल हंसराज जामनगर, १९०९ ई० प्रकाशित।

३– इसकी हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द जी नाहटा वीकानेर के व्यक्तिगत भण्डार में है।

४– जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, (मो०द०देसाई), पृ० ३९५।

५– विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य-तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य-डा० श्यामसुन्दर दीक्षित, पृ० २२७-२२९।

काव्यत्व की दृष्टि से यह उत्कृष्ट महाकाव्य है।

१५– माणिक्यचन्द्र सूरि : पार्श्वनाथचरित[1], शान्तिनाथचरित[2]

माणिक्यचन्द्र सूरि राजगच्छीय नेमिचन्द्र के प्रशिष्य और सागरचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने पार्श्वनाथचरित की रचना वि०सं० १२७६ (१२२९ ई०) में की थी।[3] यह १० सर्गात्मक महाकाव्य है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इसका विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में किया गया है।

इनका द्वितीय ८ सर्गात्मक काव्य शान्तिनाथचरित है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल और असमस्त है। माणिक्यचन्द्र सूरि काव्यप्रकाश के आद्य टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

१६– उदयप्रभसूरि : संघपतिचरित[4]

उदयप्रभसूरि आचार्य विजयसेन सूरि के शिष्य थे। संघपतिचरित की रचना उन्होंने १२३३ ई० के पूर्व ही की थी।[5] इस काव्य का दूसरा नाम धर्माभ्युदय महाकाव्य भी है। महामात्य वस्तुपाल ने गिरनार की तीर्थयात्रा के लिए एक संघ निकाला था। उसके वस्तुपाल संरक्षक या संघपति थे। इसी घटना को आधार मानकर कवि ने इसका नाम संघपतिचरित किया है। धर्माभ्युदय नाम भी इसका प्रचलित है। इसमें महामात्य वस्तुपाल द्वारा धर्म के अभ्युदयार्थ किये गये कार्यों का वर्णन है।

१७– अमरसूरि : चतुर्विंशतिजिनेन्द्रचरित[6], अम्बडचरित्र[7]

बालभारत के रचयिता अमरसूरि (अमरचन्द्र सूरि) वायटगच्छीय जिनदत्त-सूरि के शिष्य थे। १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन्होंने अनेक काव्यों की रचना की।

चतुर्विंशतिजिनेन्द्रचरित २४ अध्यायों तथा १८०२ पद्यों में लिखा गया है।

१– हस्तलिखित प्रति शान्तिनाथ भण्डार खंभात में है।

२– ताड़पत्रीय प्रति हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर पाटन में है।

३– जिनरत्नकोश, पृ० २४५।

४– धर्माभ्युदय महाकाव्य नाम से सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई से वि० सं० २००५ में प्रकाशित।

५– द्रष्टव्य-धर्माभ्युदय महाकाव्य, श्री कन्हैयालाल मा० दवे लिखित ग्रन्थपरिचय, पृ० ४०।

६– गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा, १९३२ ई० में प्रकाशित।

७– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१० ई० में प्रकाशित।

इसमें चौवीसों तीर्थंकरों में संक्षिप्त जीवन-चरित दिये गये हैं । यह काव्यतत्त्वों से शून्य, संग्रहमात्र जान पड़ता है ।

इनका दूसरा चरित काव्य अम्वडचरित्र है, जो सरल किन्तु सशक्त गद्य में लिखा गया है। वौद्धों की तरह जैन-परम्परा (विशेषतया श्वेताम्बर परम्परा) में प्रत्येक बुद्धों की कल्पना की गई है। इस काव्य में अम्वड नामक प्रत्येक बुद्ध का वर्णन किया गया है।

१८– पूर्णभद्र सूरि : धन्यशालिभद्रचरित[1], अतिमुक्तकचरित्र[2]

पूर्णभद्रसूरि जिनपतिसूरि के शिष्य थे। धन्यशालिभद्र काव्य की प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ प्रणयन का समय वि०सं० १२८५ (१२२८ ई०) और स्थान जैसलमेर वतलाया है।[3]

धन्यशालिभद्रकाव्य में ६ परिच्छेद तथा १५ पद्यात्मक प्रशस्ति हैं । इसमें धन्यकुमार और शालिभद्र नामक तीर्थंकर महावीर के समकालीन राजगृह के निवासी दो श्रेष्ठिपुत्रों का वर्णन किया गया है।

अतिमुक्तकचरित्र में कुमार अतिमुक्तक का वर्णन किया गया है । कुमार अतिमुक्तक महावीर के समय के एक राजकुमार थे, जो कुमारकाल में ही दीक्षित हो गये थे। इन दोनों काव्यों के अतिरिक्त इनका कृतपुण्यचरित भी उपलब्ध होता है, जिसमें कृतपुण्य सेठ का वर्णन है।[4]

१९– वर्धमानसूरि : वासुपूज्यचरित[5]

ग्रन्थप्रशस्ति के अनुसार वर्धमानसूरि नागेन्द्रगच्छीय विजयसिंहसूरि के शिष्य थे। वासुपूज्यचरित की रचना वि०सं० १२९९ (१२८२ ई०) में अणहिल्लपुर में हुई थी।[6] संस्कृत चरितकाव्यों में इनका वासुपूज्य तीर्थंकर के ऊपर एकमात्र काव्य उपलब्ध होता है।

यह काव्य चार सर्गात्मक होते हुए भी विशालकाय है। आह्लादनांकित इस

१– जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार सूरत, १९३४ ई० में प्रकाशित।

२– जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत, १९४४ ई० में प्रकाशित।

३– धन्यशालिभद्रकाव्य, प्रशस्ति पद्य ११-१२ ।

४– जिनरत्नकोश, पृ० ९५ ।

५– जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर, १९०९ ई० तथा हीरालाल हंसराज जामनगर, १९२८ ई० में प्रकाशित ।

६– द्रष्टव्य–जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १०२ ।

काव्य की भाषा सरल, सालंकार तथा वर्णनानुकूल है। यत्र-तत्र धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन भी हुआ हैं। अधिकांश काव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया हैं, पर वसन्ततिलका का भी प्रयोग हुआ है।

२०- अर्हद्दास : मुनिसुव्रतचरित[१]

अर्हद्दास के ग्रन्थों के आन्तरिक अनुशीलन से पता चलता है कि संभवतः ये पहले जैनधर्मानुयायी नहीं थे। वैदिक पुराणों और हिन्दूधर्म का इन्हें प्रगाढ़ परिज्ञान था। ये सागारधर्मामृत आदि के रचयिता पं० आशाधर के समकालीन थे। क्योंकि मुनिसुव्रतचरित में इन्होंने स्वयं लिखा है कि मैंने आशाधर की उक्तियों से सत्पथ पाया।[२] श्री पार्श्वनाथ जिनदास फड़कुले इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी मानते हैं।[३] जिनरत्नकोश में अर्हद्दास को पं० आशाधर का शिष्य कहा गया हैं।[४] किन्तु ये उनके शिष्य नहीं थे, उनसे प्रभावित जरूर थे।

मुनिसुव्रतचरित का दूसरा नाम काव्यरत्न भी है।[५] यह दस सर्गों में विभक्त एक शास्त्रीय चरितमहाकाव्य है। इसकी भाषा आलंकारिक है। कथानक गुणभद्र के उत्तरपुराण से लिया गया है।

२१- अजितप्रभसूरि : शान्तिनाथचरित[६]

अजितप्रभसूरि पौर्णमिक गच्छ के वीरप्रभसूरि के शिष्य थे। इन्होंने शान्तिनाथचरित की रचना वि०सं० १३०७ (१२५० ई०) में की थी।[७] इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है— चन्द्रसूरि 7 देवसूरि 7 तिलकप्रभ 7 वीरप्रभ 7 अजितप्रभ।[८] शान्तिनाथ चरित छः सर्गात्मक काव्य है।

२२- लक्ष्मीतिलक गणि : प्रत्येकबुद्धचरित[९]

लक्ष्मीतिलक गणि के साथ जिनरत्नसूरि भी इस काव्य के रचयिता हैं। ये

१- देवकुमार ग्रन्थमाला, जैन सिद्धान्त भवन आरा, १९२९ ई० में प्रकाशित।
२- द्रष्टव्य-मुनिसुव्रतचरित, १।६४-६५।
३- पुरुपदेवचम्पू (मा०दि० जैन ग्रन्थ वम्बई), भूमिका, पृ० ४।
४- जिनरत्नकोश, पृ० ३१२।
५- वही, पृ० ३१२।
६- जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर, १९१६ ई० में प्रकाशित।
७- जिनरत्नकोश, पृ० ३७९।
८- जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १०७।
९- जैसलमेर वृहद्भण्डार में इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं।

दोनों जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। इन्होंने प्रत्येकबुद्धचरित की रचना वि० सं० १३११ (१२५४ ई०) में की थी।[१]

प्रत्येक बुद्धचरित में करकण्डु, द्विमुख, नमि और नगति नामक चार प्रत्येक बुद्धों का चरित १७ सर्गों में वर्णित है। इसका दूसरा नाम प्रत्येकबुद्धमहाराजर्षिचतुष्कचरित्र भी है।[२]

२३– चन्द्रतिलक : अभयकुमारचरित[३]

चन्द्रतिलक उपाध्याय चन्द्रगच्छीय थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है— वर्धमानसूरि > जिनेश्वरसूरि > अभयदेवसूरि > जिनवल्लभसूरि > जिनदत्तसूरि > जिनचन्द्रसूरि > जिनपतिसूरि > जिनेश्वरसूरि > चन्द्रतिलक उपाध्याय।[४] अभयकुमारचरित की रचना वि०सं० १३१२ (१२५५ ई०) में हुई थी।[५]

अभयकुमारचरित द्वादशसर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) के पुत्र अभयकुमार का बड़ा ही रोचक आख्यान निबद्ध है। भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है। काव्य सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट है।

२४– विनयचन्द्रसूरि : मल्लिनाथचरित[६], पार्श्वनाथचरित[७]

विनयचन्द्रसूरि चन्द्रगच्छीय रविप्रभसूरि के शिष्य थे। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने इनका साहित्यिक काल वि०सं० १२८६ से लेकर १३४५ तक (१२२९–१२८८ ई०) माना है।[८]

मल्लिनाथचरित ८ सर्गात्मक काव्य है, जिसमें उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का चरित वर्णित है। मध्य में महासती दमयन्ती का कथानक आया है।

पार्श्वनाथचरित का विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में निबद्ध है।

१– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १६४।
२– जिनरत्नकोश, पृ० २६३।
३– जैन आत्मानंद सभा भावनगर, १९१७ ई० में दो भागों में प्रकाशित।
४– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १९३।
५– जिनरत्नकोश, पृ० १२।
६– हस्तलिखित प्रति हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर पाटन में है।
७– भूराभाई हर्षचन्द्र यंत्रालय वाराणसी से वी०नि०सं० २४३८ में प्रकाशित।
८– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२३।

२५– सर्वानन्दसूरि : पार्श्वनाथचरित[1], चन्द्रप्रभचरित[2]

सर्वानन्दसूरि सुधर्मागच्छीय शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और गुणरत्न सूरि के शिष्य थे। इन्होंने पार्श्वनाथचरित की रचना १२३४ ई०[3] तथा चन्द्रप्रभचरित की रचना १२४५ ई०[4] में की थी। अतएव इनका समय तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

पार्श्वनाथचरित ५ सर्गात्मक काव्य है। इसका विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में किया जायेगा। चन्द्रप्रभचरित १३ सर्गात्मक महाकाव्य है। आश्चर्यजनक अवान्तर कथाओं के समावेश और धार्मिक उपदेशों की भरमार से यह काव्य आश्चर्य-जनक एवं नीरस लगने लगता है।

सर्वानंद सूरि (१३वीं शताब्दी) कृत जगडुचरित का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु वहाँ सर्वानंदसूरि को धनप्रभसूरि का शिष्य कहा गया है।[5] संभवतः यह भी इन्हीं सर्वानंद सूरि का है। यह सात सर्गात्मक काव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बड़ा ही महत्व है। क्योंकि इसमें राजा वीसलदेव का वर्णन और १२५५-५८ ई० के गुजरात के भीषण अकाल का चित्रण किया गया है।

२६– मुनिदेवसूरि : शान्तिनाथचरित[6]

मुनिदेवसूरि वृहद्गच्छीय मदनचन्द्रसूरि के शिष्य थे। उन्होंने शान्तिनाथ-चरित की रचना वि०सं० १३२२ (१२६५ ई०) में की थी।

शान्तिनाथचरित सात सर्गात्मक काव्य है। इसमें पुराणों की तरह अलौकिक और आश्चर्यजनक कार्यों का जमकर प्रयोग है। काव्य अनुष्टुप् छन्द में सरल तथा प्रसादगुणसम्पन्न भाषा में लिखा गया है। सर्गान्त में छन्द परिवर्तन किया गया है।

२७– मानतुंगसूरि : श्रेयांसनाथचरित[7]

मानतुंगसूरि रत्नप्रभसूरि के शिष्य थे। इन्होंने श्रेयांसनाथचरित की रचना

१– ताड़पत्रीय प्रति संघवीपाड़ा भण्डार पाटन में है।
२– हस्तलिखित प्रति हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मंदिर पाटन में है।
३– जिनरत्नकोश, पृ० २४५।
४– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६८।
५– द्र०–भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १७३।
६– हस्तलिखित प्रति हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर पाटन में है।
७– जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से गुजराती भाषान्तर, १९५३ ई० में प्रकाशित।

वि०सं० १३३२ (१२७५ ई०) में की थी।[1]

श्रेयांसनाथचरित १३ सर्गात्मक महाकाव्य है। सर्गों का नामकरण विषयवस्तु के आधार पर किया गया है। सर्गान्त में भावी कथानक की संक्षेप में सूचना दे दी गई है। यह अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया है, केवल सर्गान्त में दो छन्दों में परिवर्तन है।

मानतुंगसूरि का एक पार्श्वनाथचरित भी उपलब्ध है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति संघवीपाड़ा भण्डार पाटन में है। प्रति अत्यन्त जीर्ण है। इसके रचयिता मानतुंगसूरि श्रेयांसनाथचरित के रचयिता से भिन्न जान पड़ते हैं।

२८- प्रभाचन्द्र : प्रभावकचरित[2]

प्रभाचन्द्र चन्द्रकुलीय राजगच्छ के चन्द्रप्रभ के शिष्य थे। प्रभाचन्द्र ने प्रभावकचरित की रचना हेमचन्द्र के स्वर्गवास के ८० वर्ष बाद वि०सं० १३३४ (१२७७ ई०) में की थी। इसका संशोधन आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने किया था।[3]

प्रभावकचरित बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विक्रम की प्रथम शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक के आचार्यों के चरित निबद्ध किये गये हैं। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में यह अपने ढंग का एकमात्र ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

२९- जिनप्रभसूरि : श्रेणिकचरित[4]

जिनप्रभसूरि लघुखरतरगच्छ के संस्थापक जिनसिंहसूरि के प्रशिष्य थे। रत्नशेखरसूरि ने इनके समीप अध्ययन किया था। तत्कालीन भारत का बादशाह मुहम्मद तुगलक जिनप्रभसूरि का बहुत सम्मान करता था। जिनप्रभसूरि ने श्रेणिक-चरित की रचना वि०सं० १३५६ (१२९८ ई०) में की थी। यह बात जिनप्रभसूरि ने स्वयं ग्रन्थ प्रशस्ति में कही है—

"स्कंदास्येषु कृशानुशीतगुमिते संवत्सरे वैक्रमे
बालेन्दुप्रतिपत्तिथौ विषगते सम्पूर्णमेतच्छनौ ।

१- जिनरत्नकोश, पृ० ४००।

२- निर्णयसागर बम्बई, सम्पा०-पं० हरिनंद शर्मा, १९०९ ई० में प्रकाशित।

३- द्रष्टव्य-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २०५।

४- जैनधर्मविद्याप्रसारक वर्ग पालिताना से ७ सर्ग प्रकाशित। शेष जैन शाला भण्डार खंभात में हस्तलिखित सुरक्षित हैं।

आदर्शं्व्यधितो दयाकरमुनिः काव्यप्रियोऽस्मादिमम्
आरम्भेऽस्य निमित्तभावमभजन्तस्यैव चाभ्यर्थनात् ।।"[१]

श्रेणिकचरित अष्टादश सर्गात्मक महाकाव्य है । इसमें महाराजा श्रेणिक (विम्वसार) का चरित वर्णित है । इसमें धार्मिक भावना का अतीव प्रदर्शन हुआ है । काव्य अनुष्टुप् छन्द में हैं, पर सर्गान्त में छन्दपरिवर्तन किया गया है । इस काव्य के अध्ययन से तत्कालीन समाज की जानकारी मिलती है । रत्नप्रभसूरि के समय बौद्धों का बाहुल्य था । उस समय राजगृह में ३६ हजार घर थे, जिनमें आधे से अधिक बौद्धों के थे ।[२]

३०- रामचन्द्र मुमुक्षु : शान्तिनाथचरित

पुण्याश्रव कथाकोश के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध रामचन्द्र मुमुक्षु ने १३वीं शताब्दी में शान्तिनाथचरित की रचना की । ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं । कन्नड़ कवि नागराज ने १३३१ ई० में रचित चम्पू में इनकी कृति का उल्लेख किया है । अतएव वे उनसे पूर्ववर्ती तो हैं ही ।[३]

३१-धर्मकुमार : शालिभद्रचरित[४]

धर्मकुमार नागेन्द्र कुल के विवुधप्रभ के शिष्य थे । उन्होंने शालिभद्रचरित की रचना वि० सं० १३३४ (१२७७ ई०) में की थी ।[५]

शालिभद्रचरित सातसर्गात्मक काव्य हैं । इसका कथानक हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के १०म पर्व महावीरचरित से लिया गया है । प्रद्युम्नसूरि ने इस काव्य का संशोधन करके और भी उपयोगी बना दिया है । इसमें महावीर के समकालीन एक धनी गृहस्थ शालिभद्र का चरित निवद्ध किया गया है ।

३२- देवेन्द्रसूरि : श्रेणिकचरित[६]

देवेन्द्रसूरि जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे । इनका स्वर्गवास-

१- श्रेणिकचरित्र, प्रशस्ति पद्य २-तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० १२३ से उद्धृत ।

२- द्र०-जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६२ ।

३- द्र०-तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ७०-७१ ।

४- यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वनारस, १९१० ई० में प्रकाशित ।

५- जिनरत्नकोश, पृ० ३८२ ।

६- ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्वर जैन संस्था रतलाम, १९३७ ई० में प्रकाशित ।

वि०सं० १३२७ (१२७० ई०) में हो गया था।[१] अतः इनका काल इससे पूर्ववर्ती है।

श्रेणिकचरित में ७२९ पद्य हैं। बीच-बीच में कहीं प्राकृत पद्यों का भी समावेश है। इसमें राजा श्रेणिक और उसके परिवार की अनेक धार्मिक घटनाओं का वर्णन है। इसे विशुद्ध धार्मिक चरितकाव्य कहा जा सकता है।

३३– विक्रम : नेमिचरित[२]

नेमिचरित के रचयिता सांगण के पुत्र विक्रम थे। श्रीनाथूराम प्रेमी ने इनका समय १३वीं शताब्दी माना है और विनयसागर ने १४वीं शताब्दी।[३]

यह काव्य निर्णयसागर से और हिन्दी पद्यानुवाद सहित एवं इन्दौर से नेमिदूत नाम से छपा हैं। किन्तु इसका वास्तविक नाम नेमिचरित है।

कवि ने स्वयं लिखा है—

"श्रीमन्नेमेः चरितविशदं सांगणस्यांगजन्मा।
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः।।"[४]

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस काव्य में दूत नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इस काव्य में मेघदूत के १२५ श्लोकों को अपनाया गया है। मालूम पड़ता है कि आजकल क्षेपक माने जाने वाले श्लोक उस समय भी प्रचलित थे।

तेरहवी शताब्दी के उक्त चरितकाव्यों के अतिरिक्त अनेक अन्य काव्य भी उपलब्ध हैं। इनमें वासवसेन कृत यशोधरचरित महत्त्वपूर्ण काव्य हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति बम्बई के सरस्वतीभवन और जयपुर के बाबा दुलीचन्द्र भण्डार में है।[५]

चतुर्दश शताब्दी

३४– कमलप्रभसूरि : पुण्डरीकचरित[६]

कमलप्रभसूरि पूर्णिमा गच्छ के रत्नप्रभसूरि के शिष्य थे। ग्रन्थप्रशस्ति में इन्होंने अपनी लम्बी गुरुपरम्परा दी है। पुण्डरीकचरित की रचना उन्होंने गुजरात

१- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १९० ।
२– निर्णय सागर बम्बई एवं दिग० जैनागम प्रका० सुमति कार्यालय कोटा से वि०सं० २००५ में प्रकाशित। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इन्दौर से भी इसी नाम से वी. नि०सं० २५०० में प्रकाशित।
३– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ५४९ ।
४- नेमिदूत (इन्दौर प्रका०) पद्य, १२६ ।
५– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २८९ की पाद टिप्पणी १ ।
६– जैन साहित्य संशोधक पूना, १८२५ ई० 'बृहट्टिपणिका' में प्रकाशित ।

प्रान्त के धवलक (धोलका) नगर में वि०सं० १३७२ (१३१५ ई०) में की थी—

"श्रीविक्रमराजेन्द्रात् त्रयोदशशतमिते ।
द्वाशप्तत्यधिके वर्षे विहितं धवलके ॥"[1]

पुण्डरीकचरित आठ सर्गों में विभक्त एक पौराणिक महाकाव्य है। प्रथम दो सर्गों में भगवान् ऋषभदेव और भरत-बाहुबलि का वर्णन है। इसके बाद पुण्डरीक का चरित निबद्ध किया गया है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार पुण्डरीक भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर थे। इस काव्य में कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। बीच-बीच में प्राकृत के गद्य पद्य भी आ गये हैं। इसमें महाकाव्य के नियमों का पालन नहीं किया गया है। अतः मालूम पड़ता है कवि को शास्त्रीय ज्ञान नहीं था।

३५– मेरुतुंगसूरि : महापुरुषचरित, कामदेवचरित, संभवनाथचरित

मेरुतुंगसूरि अंचल गच्छ के आचार्य थे। मेरुतुंग नाम के अनेक आचार्यों का संस्कृत साहित्य में उल्लेख मिलता है। किन्तु उक्त तीनों रचनायें एक ही अंचल-गच्छीय मेरुतुंगसूरि की जान पड़ती हैं।

महापुरुषचरित पाँच सर्गात्मक काव्य है। इसमें ऋषभदेव, अजितनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरों का जीवनचरित वर्णित है। कामदेव महावीर के समकालीन एक धनी धार्मिक गृहस्थ थे। उन्हीं का चरित कामदेवचरित में वर्णित किया गया है। इसका रचनाकाल वि०सं० १४०९ (१३५२ ई०) है।[2] इन्होंने वि०सं० १४१३ (१३५६ ई०) में तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ पर भी एक चरितकाव्य लिखा है।[3]

३६– मुनिभद्रसूरि : शान्तिनाथचरित[4]

ग्रन्थप्रशस्ति में मुनिभद्रसूरि ने अपना परिचय दिया है। वे बृहद्गच्छ के गुणभद्रसूरि के शिष्य थे। दिल्ली का बादशाह फीरोजशाह तुगलक मुनिभद्रसूरि का अत्यन्त सम्मान करता था। इन्होंने शान्तिनाथचरित की रचना वि०सं० १४१० (१३५३ ई०) में की थी, जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्ति में कहा गया है—

"अन्तरिक्षरजती हृदीश्वरब्रह्मवक्त्रशशिसंख्यवत्सरे ।
विक्रमे शुचितपौ जयातिथौ शान्तिनाथचरितं व्यरच्यत ॥"[5]

१– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ से उद्धृत, पृ० १८२।
२– जिनरत्नकोश, पृ० ८४।
३– वही, पृ० ४२२।
४– यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस, वी०नि०स० २४३७ में प्रकाशित।
५– शान्तिनाथचरित, प्रशस्ति पद्य १७।

शान्तिनाथचरित उन्नीस सर्गात्मक महाकाव्य है। इस काव्य में स्तुतियों का प्राधान्य है। अवान्तर कथानकों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा प्रौढ़, सालंकार और स्वाभाविक है। १४वें सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। कवि ने इस काव्य की रचना रघुवंश महाकाव्य, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित के समकक्ष जैन साहित्य में काव्यनिर्माण के लिये की है।[१] यह काव्य मुनिदेवसूरि के शान्तिनाथचरित के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है, पर यह उससे सौगुना अच्छा है।[२]

३७– भावदेवसूरि : पार्श्वनाथचरित[३]

वि०सं० १४१२ (१३ ५ ई०) में भावदेवसूरि ने पार्श्वनाथचरित की रचना की है। कवि एवं ग्रन्थ का परिचय इसी अध्याय के 'ख' भाग में दिया जायेगा।

३८– कीर्तिराज उपाध्याय : नेमिनाथचरित्र[४]

खरतरगच्छीय श्री कीर्तिराज उपाध्याय ने नेमिनाथचरित्र की रचना वि०सं० १४१५ (१३५८ ई०) में की थी। कीर्तिराज उपाध्याय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे।[५]

नेमिनाथचरित्र द्वादश सर्गात्मक महाकाव्य है। भाषा अत्यन्त प्रौढ़ किन्तु माधुर्य एवं प्रसाद गुण से सम्पन्न है। विशेषता यह है कि अन्य काव्यों की तरह इसमें पूर्वभवों का वर्णन नहीं किया गया है। द्वितीय सर्ग का प्रभाववर्णन द्रष्टव्य है। अष्टम सर्ग में षड्ऋतुओं का भी अच्छा वर्णन हुआ है।

३९– वर्धमान भट्टारक : वरांगचरित[६]

वर्धमान भट्टारक मूलसंघ वलात्कारगण सरस्वतीगच्छीय आचार्य थे।[७] वलात्कार गण में वर्धमान नामक दो भट्टारकों के नाम मिलते हैं। प्रथम न्यायदीपिका के रचयिता धर्मभूषण के गुरु और द्वितीय हुम्मच शिलालेख के लेखक।

१– वही, प्रशस्ति पद्य १३-१४।

२– विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य-तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० ३०४-४०४।

३– यशोविजय जैन ग्रन्थमाला वनारस, वी०नि०सं० २४३८ में प्रकाशित।

४– यशोविजय जैन ग्रन्थमाला भावनगर, वी०नि०सं० २४४० में प्रकाशित।

५– द्रष्टव्य–नेमिनाथचरित्र, १२।५३।

६– रावजी सखाराम दोशी सोलापुर, १९२७ ई० में प्रकाशित।

७– जिनरत्नकोश, पृ० ३४२।

वरांगचरित के रचयिता वर्धमान भट्टारक उक्त दो में प्रथम जान पड़ते हैं। डा० दरबारीलाल कोठिया नें धर्मभूषण को सायणाचार्य का समकालीन मानते हुए उनका समय चौदहवीं शती का उत्तरार्ध तथा पन्द्रहवीं शती का प्रथम पाद माना है।[1] उनके गुरु होने से इनका समय चौदहवीं शताब्दी का मध्य ठहरता है।

वरांगचरित त्रयोदशसर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण और नेमिनाथ के समकालीन धीरोदात्त नायक वरांगकुमार का चरित गुम्फित किया है। इस काव्य में कवि ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। रात्रिभोजन त्याग, शुद्ध अन्नग्रहण, मौनभोजन, कन्दमूलत्याग, पञ्च उदम्बरफलत्याग कवि की दृष्टि में जीवन के लिये अत्यावश्यक है। घटनाओं को नाटकीय रूप देकर कवि नें उन्हें सजीव बना दिया है।

४०– जयसिंहसूरि : कुमारपालचरित[2]

जयसिंहसूरि कृष्णर्षिगच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है— जयसिंहसूरि (प्रथम) 7 प्रसन्नचन्द्र 7 महेन्द्रसूरि 7 जयसिंहसूरि (द्वितीय) 7 जयसिंह सूरि (द्वितीय) ही प्रकृत कुमारपालचरित के रचयिता हैं। इनके गुरु महेन्द्रसूरि बादशाह मुहम्मदशाह द्वारा सम्मानित थे। कुमारपालचरित की रचना इन्होंने वि०सं० १४२२ (१३६५ ई०) में की थी।[3]

कुमारपालचरित दस सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें गुजरात के राजा कुमारपाल का जीवनचरित और उनके धार्मिक कार्यों का वर्णन है। इसका आधार हेमचन्द्राचार्य का कुमारपालचरित (द्वयाश्रयकाव्य) जान पड़ता है। जयसिंहसूरि का एक 'जिनयुगलचरित्र' भी उपलब्ध है। इसमें १० प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्ताव छठे प्रस्ताव तक ३१०० श्लोक प्रमाण ऋषभदेव का चरित्र वर्णित है। तपागच्छीय ज्ञानभण्डार जैसलमेर में इसकी ताडपत्रीय प्रति उपलब्ध है।[4]

४१-पद्मनन्दि : वर्धमानचरित

भट्टारक पद्मनन्दि प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। प्रभाचन्द्र का पट्टाभिषेक

१– न्यायदीपिका, प्रस्तावना, पृ० ९९-१००।

२– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० तथा गौड़ी जी जैन उपाश्रय पायधुनि बम्बई, १९२६ ई० में प्रकाशित।

३– द्रष्टव्य-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २२५।

४– श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित 'महावीर सम्बन्धी एक अज्ञात संस्कृत चरित्र' लेख, श्रमण वर्ष २६: अंक १–२, नव–दिस० ७४, पृ० ५३–५६।

१२५३ ई० में रत्नकीर्ति के पट्ट पर हुआ था। प्रभाचन्द्र ७४ वर्ष तक पट्टाधीश रहे। प्रभाचन्द्र ने ही अपने पट्ट पर इन्हें १३२७ ई० में नियुक्त किया था। एक शिलालेख के अनुसार भट्टारक पद्मनन्दि ने १३६३ ई० में मूर्ति प्रतिष्ठा कराई थी।[1] संभवतः यह अन्तिम समय रहा होगा। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय ईसा की १४वीं शताब्दी ही माना है।[2]

वर्धमानचरित ३०० पद्यात्मक काव्य है, जिसमें भगवान् महावीर का संक्षिप्त जीवनचरित निवद्ध है।

४२– भद्रगुप्त : धन्यशालिभद्रचरित

भद्रगुप्त रुद्रपल्लीय गच्छ के देवगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने धन्यशालिभद्रचरित की रचना वि०सं० १४२८ (१३७१ ई०) में की थी।[3]

धन्यशालिभद्रचरित में श्रेणिक (विम्वसार) और भगवान् महावीर के समकालीन धन्यकुमार और शालिभद्र नामक दो श्रेष्ठिकुमारों का वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इन्हें प्रत्येकवुद्ध की श्रेणी में रखा गया है।

४३– जयशेखरसूरि : जम्बूस्वामिचरित[4]

जयशेखरसूरि ने वि० सं० १४३६ (१३८१ ई०) में जम्बूस्वामिचरित की रचना की। ये अंचल गच्छ के विद्वान थे।[5]

जम्बूस्वामिचरित छः सर्गात्मक काव्य है। इसमें भगवान् महावीर के अन्तिम गणधर और २४वें कामदेव जम्बूस्वामी का चरित वर्णित किया गया है।

४४– जयतिलकसूरि : मलयसुन्दरीचरित[6], हरिविक्रमचरित[7], सुलसाचरित्र

जयतिलकसूरि आत्मागच्छीय आचार्य थे। इनका समय निश्चित ज्ञात नहीं है, किन्तु सुलसाचरित की प्राचीनतम प्रति वि० सं० १४५३ (१३९६ ई०) की मिलने के कारण ये उससे प्राचीन हैं।[8]

१– भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक २३९, पृ० २३६।
२– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ३२३।
३– जिनरत्नकोश, पृ० १८८।
४– जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, गुजराती अनुवाद सहित, १९१३ ई० में प्रकाशित।
५– जिनरत्नकोश, पृ० १३२।
६– देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार, १९१६ ई० में प्रकाशित।
७– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१६ ई० में प्रकाशित।
८– जिनरत्नकोश, पृ० ४४७।

मलयसुन्दरीचरित ४ प्रस्तावों और ८२४ पद्यों का काव्य है । इसमें मलयसुन्दरी का बड़ा ही रोचक उपाख्यान वर्णित है। मलयसुन्दरी तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निर्वाण से एक सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुयीं थीं ।[१]

हरिविक्रमचरित द्वादशसर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें हरिविक्रम का जीवन-चरित वर्णित है। सर्गों का नामकरण विषयवस्तु के आधार पर किया गया है। सुलसा भगवान् महावीर के समय श्राविकासंघ की प्रधान श्राविका थी, जो अपने सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध थीं। इन्हीं का चरित सुलसाचरित में निबद्ध है। यह ८ सर्गात्मक काव्य है।

४५– वाग्भट : ऋषभदेवचरित

महाकवि वाग्भट काव्यानुशासन के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये वाग्भट वाग्भटालंकार के रचयिता से सर्वथा भिन्न हैं । ये मेवाड़ के प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठी नेमिकुमार के पुत्र और राहड के अनुज थे । इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी है ।[२]

ऋषभदेवचरित सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। वाग्भट ने अपने काव्यानुशासन में 'यथा स्वोपज्ञऋषभदेवचरितमहाकाव्ये' कहकर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'यत्पुष्पदन्तमुनिसेनमुनीन्द्रमुख्यैः पूर्वं कृतं सुकविभिस्तदहं विधितनु ।
हास्यायकस्य ननु नास्ति तथापि सन्तः श्रृण्वन्तु कंचन ममापि सुयुक्तिसूक्तिम् ॥'[३]

उक्त उल्लेख से ऋषभदेवचरित का महाकाव्य होना भी सिद्ध है।

४६– जयानन्दसूरि : स्थूलभद्रचरित[४]

जयानन्दसूरि तपागच्छीय सोमतिलकसूरि के शिष्य थे। इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी है ।[५]

श्वेताम्बर साहित्य में स्थूलभद्र मान्य व्यक्ति हैं । इनका उल्लेख विविध प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इन्हीं का चरित इस ग्रन्थ में लिखा गया है।

पंचदश शताब्दी

४७– भट्टारक सकलकीर्ति : शान्तिनाथचरित[६], वीरवर्धमानचरित[७], ऋषभदेव-

१– मलयसुन्दरीचरित ८।८२४ ।
२– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५, पृ० ११५ ।
३– काव्यानुशासन (निर्णयसागर, द्वि०सं०), पृ० १५ ।
४– श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, १९१५ ई० में प्रकाशित ।
५– जिनरत्नकोश, पृ० ४५५ ।
६– जिनवाणी प्रकाशन कलकत्ता, शांतिपुराण नाम से १९३९ ई० में प्रकाशित ।
७– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७४ ई० में प्रकाशित ।

चरित[1], यशोधरचरित[2], धन्यकुमारचरित[3], सुकुमालचरित[4], सुदर्शनचरित[5], श्रीपालचरित[6], मल्लिनाथचरित[7]।

विपुलचरितकाव्य प्रणयन की दृष्टि से भट्टारक सकलकीर्ति का स्थान सर्वोत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण है। इनके पिता का नाम कर्मसिंह और माता का नाम शोभा था। ये हूंवड़ जाति के थे और अणहिलपुर पट्टन के रहने वाले थे। बलात्कारगण ईडर शाखा का आरम्भ भट्टारक सकलकीर्ति से ही होता है।[8]

प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने सकलकीर्ति का समय वि०सं० १४५०-१५१० (१३९३-१४५३ ई०) माना है।[9] किन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इनका काल वि० सं० १४४३–१४९९ (१३८६–१४५२ ई०) सिद्ध किया है।[10] इस आधार पर इनका समय चौदहवीं शती का अन्तिमचरण तथा पन्द्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध ठहरता है।

शान्तिनाथचरित १६ अधिकारों में विभक्त है। इसमें पौराणिक तत्त्व अधिक हैं। वर्धमानचरित १९ परिच्छेदात्मक महाकाव्य है। बीच-बीच में दार्शनिक तथा धार्मिक विषयों का समावेश किया गया है। ऋषभदेवचरित २० सर्गात्मक महाकाव्य है। यशोधरचरित में यशोधर महाराज के लोकप्रियचरित को आठ सर्गों में गुम्फित किया गया है। इसमें मुख्य रूप से अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित है। धन्यकुमारचरित में धन्यकुमार श्रेष्ठी की कथा वर्णित है। यह सात सर्गात्मक काव्य है। सुकुमालचरित ९ सर्गात्मक काव्य है। इसमें पूर्वभवों का चित्रण करते हुए बताया गया है कि एक जन्म में किया गया वैर जन्म-जन्मान्तर तक दुखदायी होता है। सुदर्शनचरित ८ सर्गों में विभक्त है। इसमें शीलव्रत के पालने में दृढ़ सेठ सुदर्शन का चरित वर्णित है।

१- जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता १९३७ ई० में प्रकाशित।
२- हस्तलिखित प्रति पार्श्वनाथ शास्त्र भण्डार जयपुर में है।
३- हिन्दी अनु०-जैन भारती बनारस, १९११ ई० में प्रकाशित।
४- रावजी सखाराम दोशी सोलापुर, वी०नि०सं० २४५५ में प्रकाशित।
५- वही, वी०नि०सं० २४५३ में प्रकाशित।
६- हस्तलिखित प्रति नया मन्दिर दिल्ली में है।
७- जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता, १९२२ ई० में प्रकाशित।
८- भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १५८।
९- वही, पृ० १५८।
१०- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३२९।

इनकी शैली उदात्त, भाषा आलंकारिक और सूक्तियों से समन्वित है। श्रीपालचरित में ७ परिच्छेद हैं। इसमें श्रीपाल का कुष्ठी होना, समुद्र में गिरा दिया जाना, शूली पर चढ़ाया जाना आदि परम्परागत घटनाओं का वर्णन काव्यमयी शैली में किया गया हैं। भाषा सरल, सरस और प्रवाही है। कहा जाता हैं कि श्रीपाल में एक करोड़ योद्धाओं के बराबर बल था, अतएव वे कोटिभट कहलाते थे। मल्लिनाथचरित ८७४ श्लोकात्मक सात सर्गों में विभक्त काव्य हैं। ग्राम नगरादि का बड़ा ही रमणीय वर्णन इन काव्य में किया गया हैं।

४८– माणिक्यसुन्दरसूरि . श्रीधरचरित[1]

माणिक्यसुन्दरसूरि आंचलिक गच्छीय मेरुतुंगसूरि के शिष्य थे। इनके विद्यागुरु जयशेखरसूरि थे। उपाध्याय धर्मनन्दन इनके प्रमुख शिष्यों में से थे।

श्रीधरचरित ९ सर्गात्मक महाकाव्य हैं। कवि की कल्पना का वैशिष्ट्य बड़ा ही अद्भुत है। श्रीधरचरित की रचना वि.सं० १४६३ (१४०६ ई०) में हुई थी।[2]

४९– ब्रह्म जिनदास : जम्बूस्वामिचरित, रामचरित

ब्रह्मचारी जिनदास कुन्दकुन्दान्वय सरस्वती गच्छ के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य थे। सकलकीर्ति का समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है, अतः इनका समय उनके कुछ समय बाद माना जा सकता है। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि मनोहर, मल्लिदास, गुणदास और नेमिदास इनके शिष्य थे। मूलतः ये राजस्थानी भाषा के कवि थे, पर संस्कृत में भी इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

जम्बूस्वामिचरित में ११ सर्गों में केवलज्ञानी जम्बूस्वामी का चरित वर्णित किया गया है। भाषा वर्णनानुकूल और सुभाषितों से समन्वित है। रामचरित में मर्यादापुरुषोतम राम का चरित वर्णित है। इसकी कथावस्तु रविषेणाचार्य के पद्मपुराण से ली गई है। भाषा सरल एवं आलंकारिक है। कथा के मध्य में दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों का प्रतिपादन किया गया है।[3]

५०– मुनिसुन्दरसूरि : जयानन्दकेवलिचरित[4]

ग्रन्थ की सर्गान्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि मुनिसुन्दरसूरि ज्ञानसागर के

१– चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला पाण्डवीपोल, अहमदाबाद, वि०सं० २००७ में प्रकाशित।

२– द्रष्टव्य–जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ॰ ३६३।

३– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ३४०।

४– हीरालाल हंसराज जामनगर, वि०सं० १९६८ में प्रकाशित।

प्रशिष्य और सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे।[1] इन्होंने जयानन्दकेवलिचरित की रचना वि०सं० १४७८ और १५०३ के मध्य (१४२१-१४४६ ई०) में की थी।[2]

जयानंदकेवलिचरित में जयानन्द केवली का चरित वर्णित है। प्रत्येकबुद्धों के समान कुछ केवलियों के चरितों पर भी जैन कवियों ने रोचक काव्य लिखे हैं।

५१- चारित्रसुन्दरगणि : महीपालचरित[3], कुमारपालचरित[4]

चारित्रसुन्दरगणि भट्टारक रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। रत्नसिंहसूरि सत्तपो गच्छ के आचार्य थे। कुमारपालचरित का रचनाकाल १४३० ई० के आसपास है।[5] अतः इसी के आसपास महीपालचरित की भी रचना की गई होगी।

महीपालचरित में राजा महीपाल की कल्पित चरितगाथा १४ सर्गों मे निबद्ध है। कुमारपालचरित में १० सर्ग हैं। इस काव्य से कुमारपाल और उनके वंशजों के बारे में कुछ ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। काव्य वीररस प्रधान है तथा शब्दालंकारों का बाहुल्य है।

५२- रामचन्द्र : विक्रमचरित्र[6]

रामचन्द्र साधुपूर्णिमा गच्छ के अभयचन्द्र के शिष्य थे। विक्रमचरित्र की रचना वि० सं० १४९० (ई० १४३३) में हुई थी।[7]

विक्रमचरित्र में राजा विक्रमादित्य के चरित्र का वर्णन है। इसमें प्रधानतया विक्रमादित्य राजा द्वारा प्राप्त पञ्चदण्डच्छत्र की घटना का वर्णन किया गया है। इसे पञ्चदण्डकथात्मकविक्रमचरित्र भी कहते हैं। प्रो० वेवर ने जर्मनी भाषा में प्रस्तावना के साथ रोमन लिपि में बर्लिन से १८७७ ई० में इसे 'पञ्चदण्डकथात्मकं विक्रमचरित्रम्' के नाम से छपाया भी था।

१- 'इति श्रीतपागच्छनायकश्रीदेवसुन्दरसूरिश्रीज्ञानसागरसूरिशिष्यश्रीसोमसुन्दरसूरिपदप्रतिष्ठितैः श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः विरचिते जयाचंदराजर्षिकेवलिचरित्रे ...।' सर्गान्तपुष्पिका।

२- जिनरत्नकोश, पृ० १३४।

३- हीरालाल हंसराज जामनगर, १९०९ ई० एवं १९१७ में प्रकाशित।

४- जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, वि०सं० १९७८ में प्रकाशित।

५- जैन साहित्य का वृहद् साहित्य, भाग ६, पृ० ४१६।

६- हीरालाल हंसराज जामनगर, द्वि०सं०, १९१४ ई० में प्रकाशित।

७- जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ३७९।

५३– जयसागरगणि : पृथिवीचन्द्रचरित

जयसागरगणि जिनवर्धनसूरि के शिष्य थे, जो खरतरगच्छ के थे। पृथिवीचन्द्रचरित की रचना इन्होंने वि०सं० १५०३ (१४४६ ई०) में की थी।[१]

पृथिवीचन्द्रचरित में राजर्षि पृथिवीचन्द्र का वर्णन है। इनकी गणना प्रत्येकबुद्धों में की गई है। वे सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विना किसी के उपदेश के ही केवलज्ञान पाकर मुक्त हो गये थे।

५४– जयानन्द : धन्यकुमारचरित[२], स्थूलभद्रचरित[३]

जयानन्द खरतरगच्छीय जिनशेखर के प्रशिष्य और जिनधर्मसूरि के शिष्य थे। इन्होंने धन्यकुमारचरित की रचना वि०सं० १५१० (१४५३ ई०) में की थी।[४]

धन्यकुमारचरित पाँच अध्यायात्मक काव्य है। इसमें धन्यकुमार नामक श्रेष्ठिकुमार का चरित वर्णित किया गया है। स्थूलभद्रचरित्र में स्थूलभद्र का वर्णन किया गया है।

५५- राजवल्लभ : भोजचरित्र[५], चित्रसेन पद्मावतीचरित्र[६]

सर्गान्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि राजवल्लभ धर्मघोष गच्छ में वादीन्द्र श्रीधर्मसूरि की सन्तान-परम्परा में श्री महीतिलकसूरि के शिष्य थे।[७] डा० बी०सी० एच० छावड़ा तथा एस० शंकरनारायणन् राजवल्लभ का समय १४४० ई० या उसके कुछ पहले मानते हैं।[८] इसी प्रकार डा० हीरालाल जैन और डा० ए० एन० उपाध्ये भी उन्हें राजा भोज (११वीं शती) के ४०० वर्ष वाद मानते हुये उनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य का मानते हैं।[९]

१– जिनरत्नकोश, पृ० २५६।
२– जैन आत्मानद सभा भावनगर, वि० सं० १९७३ में प्रकाशित।
३– देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, १९१५ ई० में प्रकाशित।
४– जिनरत्नकोश, पृ० १८७।
५– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६४ ई० में प्रकाशित।
६– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९२४ ई० में प्रकाशित।
७– 'इति धर्मघोषगच्छे वादीन्द्रश्रीधर्मसूरिसन्ताने श्रीमहीतिलकसूरि शिष्य पाठक श्री राजवल्लभकृते ·····।' सर्गान्त पुष्पिका।
८– भोजचरित्र, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ५।
९- वही, ग्रन्थमाला सम्पादकीय।

महाराजा भोज (११वीं शताब्दी) का चरित्र भारतीय परम्परा में बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। इस ग्रन्थ में कवि ने अन्नदान की महिमा का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। प्रस्तावों का नामकरण कथावस्तु के आधार पर किया गया है। चित्रसेनपद्मावतीचरित्र में महाराजा चित्रसेन और महारानी पद्मावती का चरित्र वर्णित है। इसका दूसरा नाम पद्मावतीचरित्र भी मिलता है।

५६– शीलसिंहगणि : श्रीचन्द्रकेवलिचरित्र[1]

शीलसिंहगणि तपागच्छीय जयानन्दसूरि के शिष्य थे। इन्होंने श्रीचन्द्रकेवलिचरित्र की रचना वि०सं० १४६४ (१४३७ ई०) में की थी।[2]

श्रीचन्द्रकेवलिचरित्र ४ अध्यायात्मक ग्रन्थ है, जिनमें क्रमशः ६१३, ७०५, ७२४ और ९६६ कुल ३००८ पद्य हैं। आकार की दृष्टि से यह महाकाव्य के समान जान पड़ता है। इसमें श्रीचन्द्रकेवली का वर्णन किया गया है।

५७– जिनहर्षगणि : वस्तुपालचरित्र[3]

जिनहर्षगणि जयसुन्दरसूरि के शिष्य थे। ये जयसुन्दरसूरि सोमसुन्दरसूरि के प्रशिष्य और मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य थे। ये तपागच्छ से सम्बद्ध थे।[4] इन्होंने वस्तुपालचरित की रचना वि०सं० १४९७ (१४४० ई०) में की थी।[5]

वस्तुपालचरित्र में महामात्य वस्तुपाल का चरित्र वर्णित है। यह एक ऐतिहासिक चरितकाव्य है।

५८– धर्मधर : नागकुमारचरित, श्रीपालचरित

जिनरत्नकोश के अनुसार धर्मधर वृद्धतपागच्छीय विजयरत्नसूरि के शिष्य थे।[6] कवि ने नागकुमारचरित में मूलसंघ सरस्वतीगच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और जिनचन्द्र का उल्लेख किया है।[7] अतएव इन्हें मूलसंघ के सरस्वती-

---

१– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० में प्रकाशित।
२– जिनरत्नकोश, पृ० ३९६।
३– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९११ ई० में प्रकाशित।
४– 'इति महामात्यवस्तुपालचरित्रे धर्ममाहात्म्यप्रकाशके श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिश्रीमुनिसुन्दरसूरि श्रीजयसुन्दरसूरि शिष्यश्रीजिनहर्षगणिकृते हर्षाङ्के । ' प्रस्तावान्त पुष्पिका।
५– भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १७२।
६– जिनरत्नकोश, पृ० ३९७।
७– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ५७।

गच्छीय होना चाहिये। इन्होंने नागकुमारचरित की रचना वि० सं० १५११ (१४५४ ई०) में की थी।[1] यह पुष्पदन्त के णायकुमारचरिउ के आधार पर लिखा गया है। श्रीपालचरित में चम्पापुर के राजकुमार श्रीपाल का वर्णन किया गया है। एक षड्यंत्र से श्रीपाल का राज्य छीन लिया गया था तथा कोढ़ियों में शरण पाने से उन्हें कोढ़ हो गया था। बाद में सिद्धचक्र के पाठ से उनका कोढ़ दूर हुआ था।

५९– विद्यानन्दि : सुदर्शनचरित[2]

विद्यानन्दि मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य और देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे।[3] डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने इनका कार्यकाल वि० सं० १४८९–१५३८ (१४३२–१४८१ ई०) माना है।[4] सुदर्शनचरित की रचना गंधारपुरी में वि० सं० १५१३ (१४५६ई०) में हुई थी।[5]

यह काव्य १२ अध्यायों में विभक्त है। द्वितीय अधिकार में श्रावकाचार एवं तत्त्वोपदेश तथा नवें अध्याय में बारह भावनाओं का वर्णन है। सुदर्शन मुनि को जैन परम्परा में महावीर का समकालीन अन्तःकृतकेवली माना गया है।

६०– सत्यराजगणि : पृथिवीचन्द्रचरित[6] श्रीपालचरित[7]

सत्यराजगणि पूर्णिमागच्छीय गुणसमुद्रसूरि के प्रशिष्य और पुण्यरत्नसूरि के शिष्य थे। इन्होंने पृथिवीचन्द्रचरित की रचना वि० सं० १५३५ (१४७८ ई०) में की थी। यह गद्य पद्यात्मक ग्रन्थ है।[8] श्रीपालचरित इससे बाद की रचना है। इसमें श्रीपाल का चरित वर्णित है।

---

१. वही, पृ० ५८।
२– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७० ई० में प्रकाशित।
३– जिनरत्नकोश, पृ० ४४४।
४– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६, पृ० १९८।
५– सुदर्शनचरित, प्रस्तावना, पृ० १७।
६– यशोविजय जैन ग्रथमाला भावनागर, वि० सं० १९७६ में प्रकाशित।
७– विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला सूरत, वि० सं० १९९५ में प्रकाशित।
८– 'सं० १५३५ वर्षे सितदशम्यां गुरौ अद्येह श्रीअहम्मदाबादनगरे श्रीपूर्णिमागच्छविभूषणश्रीगुणसागरसूरिपट्टालंकारश्रीपूज्यश्रीगुणसमुद्रसूरयः तत्पट्टोदयगिरिमिहिरकरणयः श्री पुण्यरत्नसूरिवराः सम्प्रति विजयन्ते। तेषां विनेयवर्येण सत्यराजगणिना लिखितमिदम्।' —पृथिवीचन्द्रचरित, पृ० ७४।

६१–भुवनकीर्ति : अंजनाचरित

श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने भुवनकीर्ति को भट्टारक सकलकीर्ति का शिष्य मानते हुए इनका समय वि०सं० १५०८–१५२७ (१४५१–१४७० ई०) माना है।[१] सुदर्शनचरित में भुवनकीर्ति को देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक का शिष्य बतलाया गया है।[२] जिनरत्नकोश में भी इनको देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक का शिष्य कहा गया है।[३] श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने बलात्कारगण ईडरशाखा के कालपट में सकलकीर्ति के बाद भुवनकीर्ति को रखा है।[४] किन्तु इनके मध्य देवेन्द्रकीर्ति को होना चाहिए।

अंजनाचरित में हनुमान् की माता एवं पवनञ्जय की पत्नी सती अंजना का प्रसिद्ध आख्यान निबद्ध है।

६२– ज्ञानसागर : विमलनाथचरित[५]

ग्रन्थ में दी गई अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि श्री ज्ञानसागर बृहत्तपागच्छ के रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। विमलनाथचरित की रचना इन्होंने वि० सं० १५१७ (१४६० ई०) में की थी।[६]

विमलनाथचरित ५ सर्गात्मक गद्यकाव्य है। इसमें तीर्थंकर विमलनाथ का वर्णन है। बीच-बीच में अवान्तरकथाओं का भी समावेश हुआ है। प्रथम तीन सर्गों में दान, शील-तप-धर्म और भावों का वर्णन हुआ है। शेष २ में तीर्थंकर विमलनाथ का वर्णन है।

रत्नसिंहसूरि के शिष्य द्वारा वि०सं० १५१६ (१४५९ ई०) में रचित एक जम्बूस्वामिचरित का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु वहाँ शिष्य का नामोल्लेख नहीं है।[७] संभवतः यह भी इन्हीं की रचना हो। इनकी एक और रचना शान्तिनाथचरित का भी उल्लेख मिलता है।[८]

१– भट्टारक सम्प्रदाय, बलात्कारगण-ईडरशाखा-कालपट, पृ० १५८।
२– सुदर्शनचरित १२।४९।
३– जिनरत्नकोश, पृ० ४४४।
४– द्रष्टव्य-भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १५८।
५– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१० ई० में प्रकाशित।
६– जिनरत्नकोश, पृ० ३५८।
७– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १५४।
८– वही, पृ० १०३, ११०।

६३– इन्द्रहंसगणि : भुवनभानुचरित्र[1]

इन्द्रहंसगणि धर्महंसगणि के शिष्य थे। भुवनभानुचरित्र की रचना उन्होंने वि०सं० १५५४ (१४९७ ई०) में की थी।[2] इस ग्रन्थ का दूसरा नाम वलिनरेन्द्रकथानक भी है।

इन्द्रहंसगणि द्वारा रचित दो अन्य रचनायें भी मिलती हैं—(१) विमलचरित और (२) वलिराजचरित। उन्होंने विमलचरित की रचना वि०सं० १५७८ (१५२१ ई०) में[3] और वलिराजचरित की रचना वि०सं० १५५७ (१५०० ई०) में की थी।[4] विमलचरित में तीर्थंकर विमलनाथ का चरित्र वर्णित नहीं है। अपितु इसमें मंत्री विमलशाह का चरित्र वर्णित है। इस काव्य का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।

६४– सोमकीर्ति : प्रद्युम्नचरित[5], यशोधरचरित[6], सप्तव्यसनचरित्र[7]

सोमकीर्ति लक्ष्मीसेन के प्रशिष्य और भीमसेन के शिष्य थे। श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने काष्ठासंघ-नंदीतटगच्छ कालपट में सोमकीर्ति का समय वि०सं० १५२६-१५४० (१४६९-१४८३ ई०) माना है।[8]

प्रद्युम्नचरित की रचना सं० १५३० (१४७३ ई०) में की गई थी।[9] यह १६ सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र निबद्ध है। यशोधरचरित की रचना वि०सं० १५३६ (१४७९ ई०) में हुई थी।[10] यह आठ सर्गों में विभक्त है। इसमें यशोधर का लोकप्रिय परम्परागत आख्यान निबद्ध है। सप्तव्यसनचरित्र में सातों व्यसनों के कारण दुःख भोगने में प्रसिद्ध व्यक्तियों के चरित्रों को अंकित किया गया है। द्यूतव्यसन में युधिष्ठिर महाराज की, मांसव्यसन में बक राजकुमार की, मदिराव्यसन में यादव लोगों की, वेश्याव्यसन में चारुदत्त वैश्य की, शिकार में चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की, चोरी में शिवभूति ब्राह्मण की और परस्त्रीव्यसन में

१– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई०।
२– जिनरत्नकोश, पृ० २९८।
३– वही, पृ० ३५८।
४– वही, पृ० २९८।
५– हिन्दी अनुवाद, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई, १९१० ई० में प्रकाशित।
६– हस्तलिखित प्रति नयामंदिर दिल्ली में है।
७– हिन्दी अनुवाद, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई १९१२ ई० में प्रकाशित।
८– भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २९८।
९– जिनरत्नकोश, पृ० २६४।
१०– वही, पृ० ३२०।

प्रतापी रावण की कथा निबद्ध है। इसकी रचना सोमकीर्ति ने वि०सं० १५२६ में माघ सुदी प्रतिपदा सोमवार के दिन की थी। इसकी श्लोकसंख्या २१९७ है।[१]

६५- भावचन्द्रसूरि : शान्तिनाथचरित[२]

भावचन्द्र पूर्णिमा गच्छ के पार्श्वचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और जयचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इन्होंने शान्तिनाथचरित की रचना वि०सं० १५३५ (१४७८ ई०) में की थी।[३]

शान्तिनाथचरित संस्कृत-गद्य में लिखित ६ प्रस्तावों में विभक्त काव्य है। इसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ का पूर्व ११ भवों सहित वर्णन किया गया है। प्रसंगतः दूसरे ग्रन्थों के प्राकृत एवं संस्कृत के पद्यों का भी उपयोग किया गया है। ग्रन्थकार द्वारा लिखित मूल प्रति लाल बाग बम्बई के एक ग्रन्थभण्डार से मिली है।[४]

६६- श्रुतसागरसूरि : यशोधरचरित, श्रीपालचरित

श्रुतसागरसूरि मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम विद्यानंदि था। विद्यानंदि देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य और पद्मनंदि के प्रशिष्य थे।[५] इनके गुरु विद्यानंदि ने सुदर्शनचरित की रचना वि.सं० १५१३ (१४५६ ई०) में की थी।[६] उनके शिष्य होने से इनका समय भी ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी ही ठहरता है।

यशोधरचरित संस्कृत गद्यात्मक ग्रन्थ है। केवल मंगलाचरण और प्रशस्ति पद्य में है। यह सिद्धचक्र पाठ का माहात्म्य दिखलाने के लिए लिखा गया था। श्रीपालचरित में श्रीपाल का आख्यान निबद्ध है। श्रुतसागरसूरि अपने समय के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी विद्वान् थे। विपुलसाहित्य निर्माण और मौलिकता की दृष्टि से उनका विशिष्ट महत्त्व है। इनकी अब तक कुल ३८ रचनायें (२४ कथा ग्रन्थ, ८ टीकाग्रन्थ, ६ व्याकरण और काव्य ग्रन्थ) उपलब्ध हुई हैं।[७]

६७- ब्रह्म अजित : हनुमच्चरित

ब्रह्म अजित भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य

१- सप्तव्यसनचरित्र, प्रशस्ति पद्य ६-७।
२- जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर, वि०सं० १९६७ में प्रकाशित।
३- जिनरत्नकोश, पृ० ३७९।
४- द्रष्टव्य-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ११०।
५- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३६१।
६- सुदर्शनचरित, प्रस्तावना, पृष्ठ १७।
७- द्रष्टव्य-तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृष्ठ ३९४।

थे। इनके पिता का नाम वीरसिंह और माता का नाम पीथा था।[१] इनके गुरु विद्यानन्दि का समय १४३२-१४८१ ई० है।[२] अतः इन्हें भी पन्द्रहवीं शताब्दी में रखा जा सकता है।

हनुमच्चरित द्वादशसर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें जैन परम्परामान्य अठारहवें कामदेव हनुमान और उनकी माता अंजना का चरित्र वर्णित है। इस काव्य का दूसरा नाम अंजनाचरित भी उल्लिखित है।[३]

षोडश शताब्दी

६८– लब्धिसागर : पृथिवीचन्द्रचरित[४]

लब्धिसागर वृद्धतपागच्छ के उदयसागर के शिष्य थे। इनका समय १५वीं और १६वीं शताब्दी का सन्धिकाल माना जा सकता है। क्योंकि इन्होंने श्रीपाल कथा की रचना वि०सं० १५५७ (१५०० ई०) में[५] तथा पृथिवीचन्द्रचरित की रचना वि०सं० १५५८ (१ ०१ ई०) में की थी।[६]

पृथिवीचंद्रचरित में राजा पृथिवीचंद्र का प्रसिद्ध आख्यान निबद्ध है। श्वेताम्बर परम्परानुसार पृथिवीचंद्र प्रत्येकबुद्धों की श्रेणी में आते हैं।

६९– रत्नकीर्ति : भद्रबाहुचरित[७]

संस्कृत साहित्य में रत्नकीर्ति नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्रकृत रत्नकीर्ति का रत्ननंदी नाम से भी उल्लेख पाया जाता है। ये अनन्तकीर्ति के प्रशिष्य और ललितकीर्ति के शिष्य थे।[८] भद्रबाहुचरित में की गई लुंकामत की समीक्षा के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय विक्रम की १६वीं शती का उत्तरार्ध (१५वीं शती ईसा का पूर्वार्ध) माना है।[९]

१– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ १३९।
२– वही, पृष्ठ १९८।
३– जिनरत्नकोश, पृष्ठ ५५९।
४– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१८ ई० में प्रकाशित।
५– जिनरत्नकोश, पृष्ठ २५६।
६– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ १७४।
७– मूलचंद किसनदास कापड़िया गाँधी चौक सूरत से एवं पं० उदयपाल काशलीवाल के हिन्दी अनुवाद के साथ जैन भारतीभवन बनारस सिटी, वी०नि०सं० २४३७ में प्रकाशित।
८– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृष्ठ ४३६।
९– वही, पृष्ठ ४३६-३७।

भद्रबाहुचरित में इतिहास प्रसिद्ध राजा चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु जैनाचार्य का आख्यान बड़े ही मनोरम ढंग से ४ सर्गों में गुम्फित किया गया है। कथानक परम्परा प्राप्त तथा शैली पौराणिक है।

७०–ब्रह्मनेमिदत्त : श्रीपालचरित, धन्यकुमारचरित प्रीतिंकरमहामुनिचरित

ब्रह्म नेमिदत्त मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के भट्टारक मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके दीक्षा गुरु का नाम भट्टारक विद्यानन्दि था।[१] श्रीपालचरित की रचना १५२८ ई० में हुई थी।[२]

श्रीपालचरित ६ सर्गात्मक काव्य है। इसमें कुष्टव्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ मयनासुन्दरी का विवाह और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उनके नीरोग होने का वर्णन किया गया है। धन्यकुमारचरित और प्रीतिंकरमहामुनिचरित पांच-पांच सर्गात्मक ग्रन्थ हैं। इनमें क्रमशः धन्यकुमार और महामुनि प्रीतिंकर का चरित वर्णित है। उक्त ग्रन्थद्वय के अतिरिक्त सीता-चरित नामक चरित काव्य का भी उल्लेख मिलता है।[३]

७१–भट्टारक शुभचन्द्र : चन्द्रप्रभचरित, करकण्डुचरित, चन्दनाचरित, जीवन्धर-चरित श्रेणिकचरित

भट्टारक शुभचन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य थे। प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने इनका भट्टारक काल वि० सं० १५७३-१६१३ (१५३५-१५५६ ई०) माना है।[४] किन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री इनका भट्टारक काल वि० सं० १५३५-१६२० (१४७८-१५६३ ई०) मानते हैं।[५] जो कुछ भी हो इनका रचना काल सोलहवीं शताब्दी का प्रथम चरण तो है ही।

चन्द्रप्रभचरित ८ सर्गात्मक काव्य है। करकण्डुचरित १५ सर्गात्मक महा-काव्य है। करकण्डु श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य प्रमुख ४ प्रत्येकबुद्धों में से एक हैं। दिगम्बर आचार्यों ने भी इनके ऊपर स्वतंत्र रचनायें लिखी हैं। चन्दनाचरित भी एक महाकाव्य है, जिसमें महासती चन्दना का चरित निबद्ध किया गया है। जीवन्धर-चरित में जीवन्धरकुमार का प्रिय आख्यान निबद्ध है। इनका प्रणयन वि० सं०

१– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ४०३।
२· भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १७४।
३– जिनरत्नकोश, पृ० ४४२।
४– भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १५८।
५– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३६४।

१५९६ (१५३९ ई०) में हुआ था[1] श्रेणिकचरित का नाम श्रेणिकपुराण भी है। इसकी हस्तलिखित प्रति नयामंदिर दिल्ली के ग्रन्थभण्डार में है।[2]

७२-पं० जिनदास : होलिरेणुकाचरित

पं० जिनदास रणस्तम्भ दुर्ग के समीप नवलक्षपुर के निवासी थे।[3] कवि ने ग्रन्थप्रशस्ति में ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० १६०८ (१५५१ ई०) दिया है।[4] अतएव उनका समय विवादास्पद नहीं है।

होलिरेणुकाचरित सात अध्यायों में विभक्त है। इसमें पञ्चनमस्कार मन्त्र का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। इसका दूसरा नाम होलिकारेणुपर्वचरित भी है।[5]

७३- विनयसागरगणि : शालिभद्रचरित

शालिभद्रचरित की रचना वि० सं० १६२३ (१५६६ ई०) में हुई थी।[6] कवि और काव्य दोनों के विषय में अन्य जानकारी नहीं मिलती है।

७४- कवि राजमल्ल : जम्बूस्वामिचरित[7]

कवि राजमल्ल आगरा के निवासी थे। ये अकबर बादशाह के समकालीन हैं। इन्होंने जम्बूस्वामिचरित की रचना साहू टोडर के लिए वि० सं० १६३२ (१५७५ ई०) में की थी।[8]

जम्बूस्वामिचरित त्रयोदश सर्गात्मक काव्य है। प्रारम्भिक ४ सर्गों में जम्बूस्वामि के पूर्वभवों का आख्यान है। पञ्चम सर्ग से जम्बूकुमार की कथा प्रारम्भ होती है। ग्यारहवें सर्ग में अनेक सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। अनुष्टुप् छन्द में रचित होने पर भी काव्य रमणीय है।

१- जिनरत्नकोश, पृ० ३९९।

२- द्रष्टव्य—अनेकान्त, वर्ष ४ किरण ५, जून १९४१, पृ० ३५२।

३- द्रष्टव्य—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ८४।

४- वसुखकायशीतांशुमिते संवत्सरे तथा।
ज्येष्ठमासे सिते पक्षे दशम्यां शुक्रवासरे ॥—वही, पृ० ८४ से उद्धृत।

५- जिनरत्नकोश, पृ० ४६३।

६- वही, पृ० ३८२।

७- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, (सं० ३५) १९११ ई० में प्रकाशित

८- जिनरत्नकोश, पृ० १३२।

७५–हेमविजय : पार्श्वनाथचरित[1]

कवि और काव्य दोनों का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में किया गया है।

७६–रविसागरगणि : साम्बप्रद्युम्नचरित[2]

रविसागरगणि के दीक्षागुरु तपागच्छीय हरिविजय सन्तानीय राजसागर थे। सहजसागर और विनयसागर इनके अध्यापक थे। रविसागरगणि ने साम्बप्रद्युम्न-चरित की रचना मांडलिनगर में खेंगार राजा के राज्यकाल में वि० सं० १६४५ (१५८८ ई०) में की थी।[3]

साम्बप्रद्युम्नचरित में प्रद्युम्न और उनके अनुज साम्बकुमार का वर्णन १६ सर्गों में किया गया है।

७७– विद्याभूषणभट्टारक : जम्बूस्वामिचरित

विद्याभूषण भट्टारक ने वि० सं० १६५३ (१५९६ ई०) में जम्बूस्वामिचरित की रचना की थी।[4] विश्वसेन के पट्टशिष्य विद्याभूषण ने वि० सं० १६०४ तथा १३३६ में दो मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई थी।[5] संभवतः ये विद्याभूषण ही जम्बू-स्वामिचरित के रचयिता विद्याभूषण हैं।

७८–पद्मसुन्दरचरित : भविष्यदत्तचरित, पार्श्वनाथचरित

पं० पद्मसुन्दर आनन्दमेरु के प्रशिष्य और पद्ममेरु के शिष्य थे।[6]

भविष्यदत्तचरित में पुण्यपुरुष भविष्यदत्त का आख्यान निबद्ध है। इसकी हस्तलिखित प्रति (वि० सं० १६१५, १५५८ ई०) बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में उपलब्ध है।[7] यह पांच सर्गों या अध्यायों में विभक्त है। इसका रचनाकाल प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १६१४ (१५५७ ई०) कार्तिक शुक्ला

१– चुन्नीलाल ग्रन्थमाला बम्बई वि० सं० १९७२ तथा मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला बनारस सिटी, १९१६ में प्रकाशित।

२– हीरा लाल हंसराज जामनगर, १९१७ ई० में प्रकाशित।

३– द्रष्टव्य— जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १४७।

४– वही, पृ० १५५।

५– भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ६७६–६७७ पृ० २७१।

६– देखें-जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान (टंकित प्रति), पृ० ४७-४८।

७– द्रष्टव्य-तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ८३।

पंचमी है।[1] पद्मसुन्दर का पार्श्वनाथचरित भी प्राप्त होता है। इसका विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में किया गया है।

७९- उदयवीरगणि : पार्श्वनाथचरित[2]

कवि और काव्य दोनों का विवेचन इसी अध्याय के 'ख' भाग में किया गया है।

८०-चारुचन्द्र : उत्तमकुमारचरित[3]

चारुचन्द्र भक्तिलाभ के शिष्य थे। ये १६वीं शताब्दी के विद्वान् थे। उत्तमकुमारचरित में ६८६ पद्य हैं। बीच-बीच में अन्य ग्रन्थों से प्राकृत पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। अनेक अवान्तर कथायें भी संक्षेप में दी गई हैं।[4]

उत्तमकुमार एक धार्मिक एवं साहसी राजकुमार थे। उनकी साहसपूर्ण घटनाओं का वर्णन इस काव्य में किया गया है।

८१- भट्टारकवादिचन्द्र : सुलोचनाचरित, यशोधरचरित

भट्टारक वादिचन्द्र मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण की सूरत शाखा के थे। ये भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्ट पर आसीन हुए थे। प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने इनका समय वि० सं० १६३७-१६६४ (१५८०-१६०७ ई०) माना है।[5] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री भी यही समय मानते[6] हैं।

सुलोचनाचरित में ९ परिच्छेद हैं। यह कथात्मक काव्य है। यशोधरचरित में महाराज यशोधर का चरित वर्णित है।

८२- दोड्डय्य : भुजबलिचरित[7]

कवि और ग्रन्थ दोनों का परिचय जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित भुजबलिचरित की भूमिका में इस प्रकार दिया गया है—

आत्रेयगोत्रीय जैन विप्रोत्तम पंडितमुनि के शिष्य पिरियपट्टन के निवासी

१- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ८१।
२- जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर, वि० सं० १९७० में प्रकाशित।
३- हीरालाल हंसराज जामनगर, १९०९ में प्रकाशित।
४- द्रष्टव्य-जिनरत्नकोश, पृ० ४१।
५- भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २०१।
६- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ७२।
७- जैन सिद्धांत भास्कर भाग-१०, वि० सं० २००० के परिशिष्ट में श्री पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

करणितिलक देवय्य के पुत्र १६वीं शताब्दी के कवि दौड्डय्य का यह भुजवलिचरित भुजवलिशतकम् के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस लघुकलेवर संस्कृतकाव्य में कवि ने पुराण प्रसिद्ध श्री बाहुबलि (भुजवलि) की मैसूरराज्यान्तर्गत श्रवणवेलगोलस्थ लोक विख्यात आश्चर्यकारी अलौकिक अनुपम दिव्यमूर्ति के इतिहास को सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है।

सप्तदश शताब्दी

८३–देवविजयगणि : पाण्डवचरित,[1] रामचरित्र[2]

देवविजयगणि तपागच्छ के विजयदानसूरि के प्रशिष्य और रामविजय के शिष्य थे। इन्होंने अहमदावाद में रहकर वि० सं० १६६० में पाण्डवचरित की रचना की थी। इसका संशोधन शान्तिचन्द्र के शिष्य रत्नचन्द्र ने किया था।[3]

पाण्डवचरित गद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें १८ सर्ग हैं। यह देवप्रभसूरि के पाण्डवचरित का सरल संस्कृत गद्य में रूपान्तर की तरह जान पड़ता है, परन्तु अविकल रूपान्तर नहीं है। कहीं-कहीं तो देवप्रभ के पाण्डवचरित के पद्य भी उद्धृत किये गये हैं।

रामचरित्र दस सर्गों में विभक्त संस्कृत गद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें राक्षस–वानरवंश की उत्पत्ति, रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, सीता, राम, लक्ष्मण आदि का वर्णन तथा अन्त में मर्यादापुरुषोत्तम राम की मुक्ति का वर्णन किया गया है।

८४– गुणविजयगणि[4] : नेमिनाथचरित[5]

गुणविजयगणि तपागच्छीय विजयसेनसूरि के शिष्य थे। इन्होंने नेमिनाथ–चरित की रचना वि० सं० १६६८ (१६११ ई०) में की थी।[5] किन्तु डा० गुलाब-चन्द्र चौधरी ने उन्हें तपागच्छीय हीरविजयसूरि के पट्टधर कनकविजय पण्डित के प्रशिष्य और वाचक विवेकहर्ष का शिष्य कहा है।[6]

नेमिनाथचरित तेरह सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथ का ९ पूर्वभवों सहित वृत्तान्त वर्णित है। प्रसंगतः जरासंघवध, श्रीकृष्णवृतान्त, प्रद्युम्न

१– यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस, वी० नि० सं० २४३८ में प्रकाशित।

२– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० में प्रकाशित।

३– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ५४।

४– देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत, १९२० ई० में प्रकाशित।

५– जिनरत्नकोश, पृ० २१७।

६– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७१।

और साम्ब का वर्णन, नलदमयन्ती–जीवनचरित्र आदि विषयों का समावेश हुआ है।

८५– रत्नचन्द्रगणि : प्रद्युम्नचरित[1]

रत्नचन्द्र तपागच्छीय शान्तिचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने प्रद्युम्नचरित की रचना सूरत में वि० सं० १६७४ (१६१७ ई०) में विजयादशमी के दिन की थी।[2]

प्रद्युम्नचरित सोलह सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण, सत्यभामा, रुक्मणी आदि का भी चरित्र-चित्रण हुआ है। काव्य के बीच-बीच में शकुनों के शुभाशुभ की सूचना दी गई है।

८६– ब्र० कामराज : जयकुमारचरित

विक्रम की सत्तरहवीं शती के उत्तरार्ध (ईसा की सत्तरहवीं शती के पूर्वार्ध) में ब्रह्मचारी कामराज ने जयकुमारचरित की रचना की।[3]

जयकुमारचरित तेरह सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें जयकुमार और उनकी पत्नी सुलोचना का चरित वर्णित हुआ है। इसका नाम जयपुराण भी है।

८७– ज्ञानविमलसूरि : श्रीपालचरित्र[4]

ज्ञानविमलसूरि नयविमलसूरि के शिष्य थे। इन्होंने श्रीपालचरित की रचना संस्कृत गद्य में वि० सं० १७४५ (१६८८ ई०) में की थी।[5] बीच बीच में पद्य भी देखने को मिलते हैं। चरित अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु प्रवाही भाषा में लिखा गया है।

८८– जगन्नाथ : सुषेणचरित्र

१७वीं शती में जगन्नाथ कवि ने सुषेण-चरित्र की रचना की है।[6] संभवतः इसमें धर्मनाथ तीर्थंकर के सेनापति सुषेण का अथवा वरांगकुमार के सौतेले भाई सुषेण का वर्णन होगा। अभी तक काव्य देखने में नहीं आया है।

८९-मेघविजय उपाध्याय : शान्तिनाथचरित[7]

मेघविजय उपाध्याय कृपाविजयगणि और उपाध्याय जिनप्रभसूरि के शिष्य

१– वी० वी० एन्ड कम्पनी खारगेट भावनगर, १९१७ ई० में प्रकाशित :

२– जिनरत्नकोश, पृ० २६४।

३– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १७९।

४– देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, वम्बई १९२१ ई० में प्रकाशित।

५– 'प्रथमादर्शे लिखितं शरदेन्दुमुनीन्दुसम्मिते वर्षे।
राधसितद्वितीयादिवसे श्रीउन्नताख्यपुरे ॥–श्रीपालचरित्र, प्रशस्ति पद्य २०।

६– संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ५२।

७– अभयदेवसूरि ग्रन्थमाला वीकानेर से प्रकाशित।

थे। ये हीरविजयसूरि की परम्परा से सम्बद्ध तथा बादशाह अकबर के कल्याणमित्र थे। इनके ग्रन्थों का रचनाकाल १६५२-१७०३ ई० माना जाता है।[1]

शान्तिनाथचरित नैषधीयचरित प्रथम सर्ग की समस्यापूर्ति के रूप में लिखा गया है। यह छः सर्गात्मक काव्य है। मेघविजय ने इसकी रचना अपने शिष्य की प्रेरणा से की थी। इनका दूसरा चरितनामान्त ग्रन्थ लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित है। इसमें हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का अनुकरण किया गया है। इसमें १० सर्ग हैं। काव्यतत्त्वों की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व नहीं है।

अष्टादश शताब्दी

९०- विश्वभूषणभट्टारक-भक्तामरचरित

विश्वभूषण भट्टारक अनन्तभूषण भट्टारक के शिष्य थे।[2] इनका विशेष परिचय ज्ञात नहीं है। वि० सं० १८७६ (१८१९ ई०) के एक शिलालेख में मसाढ़ नगर के जैन मन्दिर में एक प्रतिमा विराजमान कराने का उल्लेख है। लेख में आरा की भट्टारक परम्परा भी वर्णित है। इसमें मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय के भट्टारक विश्वभूषण, जिनेन्द्रभूषण और महेन्द्रभूषण का उल्लेख है। यह लेख भट्टारक महेन्द्रभूषण के समय का है।[3] इस प्रकार यदि दो भट्टारकों का काल ८०-१०० वर्ष भी मान लिया जाये, तो विश्वभूषण का समय १७१९-१७३९ ई० के आस पास अर्थात् अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ठहरता है। और इन्हीं भट्टारक विश्वभूषण को भक्तामरचरित का रचयिता होना चाहिए।

भक्तामरचरित में ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हुए विभिन्न समय के विभिन्न विद्वानों को समकालीन बताया गया है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ कोई महत्त्व नहीं रखता है।

९१-रूपचन्द्रगणि : गौतमचरित्र[4]

रूपचन्द्रगणि दत्तगच्छ के थे। उन्होंने सं० १८०७ (१७५० ई०) में जोधपुर नगर में अभयसिंह राजा के राज्यकाल में गौतमचरित्र (गौतमीयकाव्य) की रचना की थी। इस पर वि० सं० १८५२ (१७९५ ई०) में अमृतधर्म के शिष्य उपाध्याय

१- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६, पृ० ७८।

२- जिनरत्नकोश, पृ० २८९।

३- जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेखांक ७५५, पृ० ५७९।

४- देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था सूरत, १९४० ई० में प्रकाशित।

क्षमाकल्याणगणि ने गौतमीयप्रकाश नामक टीका लिखी थी।[1]

गौतमचरित्र ग्यारह सर्गात्मक काव्य है। इसमें जैनसंघ का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से ये मनोरम है।

एकोनविंशति शताब्दी

९२- रूपविजयगणि : पृथिवीचन्द्रचरित[2]

रूपविजयगणि तपागच्छीय संविग्न शाखा के पद्मविजयगणि के शिष्य थे। इन्होंने पृथिवीचन्द्रचरित की रचना वि० सं० १८८२ (१८२५ ई०) में की थी।[3]

पृथिवीचन्द्रचरित ग्यारह सर्गात्मक काव्य है, जो संस्कृत गद्य में लिखा गया है। वीच-वीच में कहीं-कहीं संस्कृत और प्राकृत के पद्य भी उद्धृत किये गये हैं।

विंशति शताब्दी

९३- भूरामल्लशास्त्री (ज्ञानसागर महाराज) : समुद्रदत्तचरित,[4] महावीरचरित[5] (वीरोदय काव्य)

श्री भूरामल्ल जी शास्त्री ही मुनिदीक्षा के बाद ज्ञानसागर महाराज कहलाये। आपका जन्म राजस्थान में जयपुर के समीपवर्ती राणौली ग्राम में सेठ चतुर्भुज जी के घर वि० सं० सं० १९४८ (१८९१ ई०) हुआ था। आपने वि० सं० २००४ में ब्रह्मचर्य प्रतिमा, २०१२ में क्षुल्लकदीक्षा और सं० २०१४ में आचार्य शिवसागर जी महाराज से खानियां (जयपुर) में मुनिदीक्षा धारण की थी।[6] इनकी लिखी गई समुद्रदत्तचरित, वीरोदय (महावीरचरित), सुदर्शनोदय, दयोदय आदि अनेक रचनायें उपलब्ध हैं। वैसे तो ये सभी चरित काव्य हैं, परन्तु समुद्रदत्तचरित और महावीरचरित चरितनामान्त होने से यहां विवेच्य हैं।

समुद्रदत्तचरित ९ सर्गात्मक काव्य हैं। इसमें कुल ३४५ पद्य हैं। अन्त में ४ प्रशस्तिपद्य हैं, जिनमें उनके अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है। महावीरचरित (वीरोदय) २२ सर्गात्मक महाकाव्य है। प्रारम्भ में किया गया भारत की दुर्दशा का चित्रण वडा ही हृदयद्रावक है। २२वें सर्ग में महावीर के बाद जैनसंघ में भेद का उल्लेख करते

१- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६। पृ० १९६।

२- जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर, १९३६ ई० में प्रकाशित।

३- द्रष्टव्य पृथिवीचन्द्रचरित्र, प्रशस्ति पद्य ५-११।

४- दि० जैन जैसवाल समाज अजमेर, वी० नि० सं० २४९५ में प्रकाशित।

५- मुनि ज्ञानसागर, जैन ग्रन्थमाला, १९६८ ई० में प्रकाशित।

६- सुदर्शनोदयकाव्य, ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय के आधार पर।

हुए कवि ने जैन धर्म के उत्तरोत्तर ह्रास पर चिन्ता व्यक्त की है।

इस तरह सातवीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि बीसवीं शताब्दी तक के चरित-नामान्त काव्यों का एक कालानुक्रमिक सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु जैन साहित्य के विपुलभण्डार के सभी चरितनामान्त काव्यों का समावेश फिर भी नहीं हो सका है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी कृतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका समय-निर्धारण नहीं किया जा सका है। उन चरितनामान्त काव्यों का संक्षिप्त परिचय दे देना भी समुचित ही होगा।

अज्ञातकालिक चरितनामान्त काव्य

९४-ऋद्धिचन्द्र : मृगांकचरित्र[1]

ऋद्धिचन्द्र भानुचन्द्र उपाध्याय के शिष्य थे। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—विजयसेनसूरि 7 विजयदेवसूरि 7 भानुचन्द्र 7 ऋद्धिचन्द्र।[2] मृगांकचरित्र में कुल २८८ पद्य हैं, जिनमें अन्तिम ५ प्रशस्ति पद्य हैं। इस कृति को उदयचन्द्र ने शुद्ध किया था।[3] बीच-बीच में एकाध प्राकृत भाषा के पद्य का भी समावेश है।

९५- हर्षकुञ्जर उपाध्याय : सुमित्रचरित्र[4]

सुमित्रचरित्र में ३ प्रस्ताव हैं, जिनमें कुल ६३१ पद्य हैं। इसमें सुमित्र के जन्म, परदेशगमन, पाणिग्रहण, राज्याभिषेक, राज्यसंचालन, पूर्वभव, संयम-ग्रहण तथा मुक्ति का वर्णन है।

९६- शुभवर्धनगणि–पाण्डवचरित्र[5]

पाण्डवचरित्र की सर्गान्तपुष्पिका वाक्य से ज्ञात होता है कि शुभवर्धनगणि तपागच्छीय श्री सोमसुन्दरसूरि की परम्परा में साधुविजयगणि के शिष्य थे।[6]

१- प्रकाशन त्रुटित (मुद्रित प्रति गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद ग्रन्थालय में है। अनुक्रमांक १३१५ सं० १, दः १५।१५।

२- मृगांकचरित्र, पद्य २४८।

३- वही, पद्य २८८।

४- हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० में प्रकाशित।

५- वही, १९१७ ई० में प्रकाशित।

६- "इति तपागच्छाधिराजश्रीसोमसुन्दरसूरिसन्ताने वाचनाचार्यचक्रमण्डलीशिरोमणि-पंडितश्रीसाधुविजयगणिशिष्यपरमाणुपण्डितश्रीशुभवर्धनविरचिते श्रीपाण्डवचरित्र-महाकाव्ये ......।पाण्डवचरित्र, सर्गान्तपुष्पिका।

पाण्डवचरित्र ६ सर्गात्मक ग्रन्थ हैं। इसमें ११०६ पद्यों में पाण्डवों का चरित वर्णित किया गया है।

९७–हर्षवर्धनगणि : सदस्यवत्सचरित्र[१]

रचयिता का परिचय ज्ञात नहीं हो सका है। यह ग्रन्थ सरल संस्कृत गद्य में लिखा गया है। कवि ने इसमें दान का माहात्म्य प्रकट किया हैं।

९८– जिनसूरि : रूपसेनचरित्र[२]

जिनसूरि विशालराज सूरीश सुधाभूषण के शिष्य थे, यह प्रशस्ति पद्य से ज्ञात होता है।[३] रूपसेनचरित्र गद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें दान का महत्त्व प्रकट करने के लिए रूपसेन महाराज और कनकावती महारानी की कथा को विद्ध किया गया है।

९९– त्रैलोक्यसागर : रत्नसारचरित्र[४]

तीर्थंकर महावीर के उपदेश के प्रसंग में परिग्रह परिमाणव्रत में रत्नसार की कथा कही गई है। उसी कथा का इसमें वर्णन है। संभवतः अन्त में रचनाकाल दिया गया होगा। क्योंकि गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद में इसकी मुद्रित, किन्तु जीर्ण प्रति मिली है। उसमें 'आश्विने शुभमासे तु पक्षे कृष्णेऽष्टमी दिने' आदि पद्य हैं। यहाँ के वाद पद्य खंडित हो गया है।

१००–मतिवर्धनगणि : समरादित्यचरित्र[५]

कवि परिचय अज्ञात है। समरादित्यचरित्र सरल सस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें उज्जयिनी के राजा समरादित्य और उनके वैरी गिरिसेन चाण्डाल के ९ भवों का वर्णन किया गया है। अन्त में समरादित्य केवली होकर मोक्षपद प्राप्त करते हैं। यह हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा के आधार पर लिखा गया है।

१०१– वत्सराजमुनि–शान्तिनाथचरित्र[६]

कवि परिचय अज्ञात है। ग्रन्थान्त पुष्पिका से केवल इतना पता चलता है कि

१– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१३ में प्रकाशित।

२– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० में प्रकाशित।

३– "विशालराजसूरीशसुधाभूषणसद्‌गुरोः।
शिष्येण जिनसूरेण सुकृतां कृता कथा ॥—रूपसेनचरित्र, प्रशस्ति पद्य ३।

४– मीठाभाई कल्याणचन्द्र जैन पेढ़ी, रतलाम से प्रकाशित।

५– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१५ ई० में प्रकाशित।

६– हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१४ ई० में प्रकाशित।

वत्सराजमुनिवाचक रत्नचारित्र के शिष्य थे ।[1]

उक्त चरितनामान्त काव्यों के अतिरिक्त पद्मनन्दि का वर्धमानचरित,[2] प्रभञ्जन राजर्षि का यशोधरचरित[3] आदि चरितनामान्त काव्यों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार शताधिक कवियों के अनेक चरितनामान्त काव्यों का विवेचन किया गया है। इन कवियों में कुछ जैनेतर भी हैं, पर उन्होंने जैन आख्यानों या विषयों पर लिखा है। इन काव्यों के अध्ययन से संस्कृत भाषा की व्यापकता, प्रयोगवैचित्र्य भावगरिमा तथा दार्शनिक एवं आलंकारिक सिद्धांतों की नई-परीक्षा संभावित है। अतएव इनका सम्यक् विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है।

१- "इति श्री वाचकरत्नचरित्रशिष्येण मुनिश्रीवत्सराजविरचितं श्री शान्तिनाथ-चरित्रं समाप्तम् ।"—शान्तिनाथचरित्र, ग्रन्थान्त पुष्पिका ।

२- जिनरत्नकोश, पृ० ३४२ ।

३- वही, पृ० ३२० ।

(ख) प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में तीर्थंकर पार्श्वनाथ–विषयक साहित्य

जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरित को जैन कवियों ने तीर्थंकर महावीर के बाद प्रथम स्थान दिया है। भारतवर्ष की सभी भाषाओं में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ऊपर लिखे गये अनेक काव्य उपलब्ध हैं। क्योंकि पार्श्वनाथ का आख्यान बड़ा ही रोचक तथा घटना प्रधान है। जैन शास्त्रों की मान्यतानुसार पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बीत जाने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ है।[1] वीर-निर्वाण सम्वत् और ईस्वीसन् में ५२७ वर्ष का अन्तर है। तीर्थंकर महावीर की आयु कुछ कम ७२ वर्ष की थी।[2] अतएव ५२७+७२=५९९ वर्ष ईस्वी पूर्व में महावीर का जन्म सिद्ध होता है। महावीर के जन्म के २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५९९+२५०=८४९ वर्ष ईस्वी पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण-समय मान्य है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं–संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में २० से भी अधिक काव्य तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवनचरित को लेकर विविध काव्य-विधाओं में लिखे गये हैं। उन्हीं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

१– पार्श्वाभ्युदय[3] : जिनसेन

पार्श्वाभ्युदय तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विषय में लिखा गया प्रथम काव्य तथा समस्यापूर्ति काव्यों में भी आद्य और सर्वोत्तम रचना है। चार सर्गात्मक इस काव्य में क्रमश: ११८, ११८, ५७ और ७१ कुल ३६४ पद्य हैं। कविकुलगुरु महाकवि

१– "पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पञ्चाशत् द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥"—उत्तरपुराण ७४।२७९।

२– "द्वासप्ततिसमा: किञ्चिदूनास्तस्यायुष: स्थिति:।" —वही, ७४।२८०।

३– निर्णयसागर, बम्बई, १९०९ ई० में तथा श्री गुलाबचन्द्र हिराचन्द्र कान्सट्रक्शन हाउस बम्बई–१, १९६५ ई० में (संस्कृत व्याख्या तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित) प्रकाशित।

कालिदास के मेघदूत के पद्यों के कहीं-कहीं एक चरण और कहीं-कहीं दो चरणों को लेकर इस सम्पूर्ण काव्य की रचना समस्यापूर्ति के रूप में की गई है। इसमें भी कालिदास के मेघदूत की तरह मन्दाक्रान्ता छन्द का ही प्रयोग हुआ है। अन्त में ५ मालिनी और १ पद्य वसन्ततिलका छन्द में है। आचार्य जिनसेन (८वीं शताब्दी) के समय मेघदूत का क्या रूप था-यह जानने के लिए पार्श्वाभ्युदय का अत्यन्त महत्त्व है।

पार्श्वनाथविषयक उत्तरकालीन काव्यों की तरह इस काव्य में तीर्थंकर पार्श्व-नाथ के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का समावेश नहीं हो सका है। कथावस्तु बहुत ही संक्षिप्त है। अरविन्द (पोदनपुर के राजा) द्वारा बहिष्कृत कमठ सिन्धुतट पर जाकर तपस्या करने लगता है। कमठ का छोटा भाई मरुभूति भ्रातृ-प्रेम के कारण उसके पास जाता है, किन्तु क्रोधावेश में आकर कमठ उसे मार डालता है। अनेक जन्मों तक यही चक्र चलता रहता है। अन्तिम जन्म में कमठ शम्बर और मरुभूति पार्श्वनाथ बनता है। शम्बर पूर्व वैर के कारण साधना में रत पार्श्वनाथ के ऊपर अनेक उपसर्ग उत्पन्न करता है। शम्बर यक्ष मेघरूप धारण करके पार्श्वनाथ को भी मेघरूप में मान-कर अलकापुरी जाने को कहता है। शम्बर अलकापुरी का बड़ा ही शृंगारी वर्णन करता है, पर पार्श्वनाथ विचलित नहीं होता। शम्बर फिर पाषाणवृष्टि करता है। उसी समय धरणेन्द्र और देवी पद्मावती आकर पार्श्वनाथ के उपसर्ग को दूर कर देते हैं। अन्त में शम्बर भी पार्श्वनाथ के केवल ज्ञान की उत्पत्ति को देखकर क्षमायाचना करता है।

इस काव्य में शम्बर यक्ष के रूप में, राजा अरविन्द कुबेर के रूप में, पार्श्वनाथ को मेघ के रूप में चित्रित किया गया जान पड़ता है। काव्य में धार्मिक प्रतिपादन कुछ भी नहीं किया गया है। बीच-बीच में सूक्तियों का भी समावेश किया गया है। कालिदास के मेघदूत का रस शृंगार है, जबकि पार्श्वाभ्युदय का शान्त। शृंगाररस की पंक्तियों का शान्तरस में परिवर्तन जिनसेन जैसे परिनिष्ठित कवि द्वारा ही संभव है।

पार्श्वाभ्युदय की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता जिनसेन सेनसंघ के आचार्य वीरसेन के शिष्य और राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समकालीन थे।[1] पार्श्वा-भ्युदय की सर्गान्त-पुष्पिका में जिनसेन को अमोघवर्ष का गुरु कहा गया है।[2] आचार्य

१- पार्श्वाभ्युदय, ४।७०-७१।

२- "इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टिते पार्श्वा-भ्युदये नाम — सर्गः।"—पार्श्वाभ्युदय सर्गान्त पुष्पिका।

जिनसेन के महापुराण के पूरक उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र ने प्रशस्ति में उल्लेख किया है कि अमोघवर्ष जिनसेन का परम भक्त था।[1] राजा अमोघवर्ष का राज्यकाल ८१५–८७७ ई० माना जाता है।[2] अतः जिनसेन का समय इनसे कुछ पूर्व होना चाहिए। शक सं० ७०५ (७८३ ई०) में रचित हरिवंशपुराण में जिनसेनाचार्य ने पार्श्वाभ्युदय के रचयिता जिनसेन का उल्लेख किया है।[3] अतः पार्श्वाभ्युदय का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी ठहरता है। राजा अमोघवर्ष का तो जिनसेन से लड़कपन से ही सम्पर्क था।[4] अतः उनका समय आठवीं शताब्दी मानना आपत्तिजनक नहीं है।

पार्श्वाभ्युदय काव्य पर योगिराट् की एक संस्कृत टीका मिलती है, जिसका नाम सुबोधिका है। इस टीका में पार्श्वाभ्युदय की अत्यन्त प्रशंसा की गई है। यह टीका मेघदूत पर लिखित मल्लिनाथ की संस्कृत टीका का अनुकरण करती है। टीकाकार का समय शक सं० १३२१ के बाद का सिद्ध होता है, क्योंकि उन्होंने शक सं० १३२१ (१३९९ ई०) में रचित इरुग्दण्डनाथ के नानार्थरत्नमालाकोश का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है।[5] टीकाकार ने कालिदास और जिनसेन को समकालीन बताने का साहस किया है,[6] किन्तु यह बात प्रमाणविरुद्ध और सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

२– पार्श्वनाथचरित[7] : वादिराजसूरि

चूंकि यह ग्रन्थ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है, अतः इसका विवेचन स्वतंत्र अध्यायों में आगे विस्तृत रूप से किया गया है। कवि-परिचय, समय आदि पर भी द्वितीय अध्याय में विवेचन किया गया है।

१– 'यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्, पादाम्भोजरजःपिशंगमुकुट-प्रत्यग्रत्नद्युतिः। संस्मर्ता स्वमोघवर्षनृपतिः पूतो हमद्येत्यलम्, स श्रीमान्जिन-सेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम्॥' —उत्तरपुराण प्रशस्तिपद्य ९।

२– द्रष्टव्य : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ३३७।

३– "याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ॥"–हरिवंशपुराण, १।४०।

४– द्र०–भारतीय इतिहास–एक दृष्टि (ज्योतिप्रसाद जैन), पृ० ३०१।

५– द्र०–पार्श्वाभ्युदय (निर्णयसागर) की श्री पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा लिखित भूमिका, पृ० ७।

६– पार्श्वाभ्युदय, टीकाकार की अन्त्य प्रशस्ति, पृ० २७०।

७– माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७३ में प्रकाशित।

३- पासणाहचरिउ[1] : पद्मकीर्ति

अपभ्रंश भाषा में लिखित यह पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) १८ सन्धियों में विभक्त है। इसमें विविध छन्दों में लिखित ३१० कड़वक तथा लगभग ३३२३ पंक्तियां हैं।[2]

ग्रन्थ में कवि ने परम्पराप्राप्त कथानक को ही अपनाया है। इसकी प्रथम सन्धि में मगधदेशस्थ पोदनपुर नगर के राजमन्त्री विश्वभूति के कमठ और मरुभूति नामक पुत्रों, कमठ द्वारा मरुभूति की पत्नी के साथ अनुचित व्यवहार, राजा द्वारा कमठ का नगर से निर्वासन, मरुभूति का कमठ द्वारा मार डालना तथा मरणानन्तर मरुभूति का अशनिघोष (वज्रघोष) नामक हाथी होने का वर्णन किया गया है। द्वितीय सन्धि में राजा अरविन्द को मुनि-दीक्षा धारण करने का वर्णन है। तृतीय सन्धि में राजा की तपश्चर्या, विहार तथा अशनिघोष हाथी को उपदेश देना आदि वर्णित किया गया है। चतुर्थ सन्धि में अशनिघोष को कुक्कुट सर्प द्वारा काटा जाना, मरणानन्तर स्वर्ग प्राप्ति और कुक्कुट सर्प को नरक प्राप्ति होने का चित्रण किया गया है। पञ्चम सन्धि में मरुभूति के जीव का स्वर्ग से चयकर अपर-विदेह में राजा होना, कमठ के जीव का नरक से निकलकर भील होना तथा भील द्वारा तपस्या में लीन राजा को मार दिये जाने का वर्णन है। राजा का जीव मरणानन्तर ग्रैवेयक में और भील मरकर नरक जाता है। षष्ठ सन्धि में मरुभूति के जीव का ग्रैवेयक से चयकर विदेह क्षेत्र के विजयदेश का राजा कनकप्रभ होना वर्णित है। सप्तम सन्धि में कनकप्रभ राजा द्वारा धारण की गई मुनिदीक्षा की प्रशंसा, उनका ध्यानस्थ होना, नरक से चयकर सिंह पर्याय में उत्पन्न कमठ के जीव द्वारा कनकप्रभ पर आक्रमण, फलस्वरूप कनकप्रभ का मरण आदि का वर्णन किया गया है। यहाँ तक तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। अष्टम संधि से पार्श्वनाथ का वर्णन प्रारम्भ होता है।

१- श्री प्रफुल्लकुमार मोदी के सम्पादकत्व में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी से १९६५ ई० में प्रकाशित।

२- 'अट्ठारहसंधिउ एहु पुराणु तेसट्ठिपुराणे महापुराणु।
सयतिण्णि दहोत्तर कडवायहं णाणाविहछंदसुहावयाहं।
तेतीस सयइं तेवीसयाइं अक्खरइं किंपि सविसेसयाइं।
एयएत्थु सत्थि गंथहा पमाणु फुडु पयडु असेसु वि कयपमाणु।'
—पासणाहचरिउ, १८।२०

अष्टम से अष्टादश सन्धि तक हयसेन और वामा के गर्भ से पार्श्वकुमार की उत्पत्ति, यवनराज के साथ पार्श्व द्वारा युद्ध, यवनराज का बन्दी बनाया जाना,बाद में यवनराज का छोड़ा जाना,कुमार पार्श्व द्वारा कमठ के जीव ब्राह्मण कुलोत्पन्न मिथ्या-तापसी मिथ्या तप से अलग होने की सलाह, तपस्या में लीन पार्श्वकुमार पर असुरेन्द्र कमठ के जीव द्वारा उपसर्ग,नागराज द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा,केवलज्ञानोत्पत्ति, असुरेन्द्र का पार्श्वनाथ की शरण में जाना और समवशरण का विवेचन किया गया है। अन्त में ग्रन्थ परिचय और गुरु परम्परा का उल्लेख किया गया है । इस ग्रन्थ में जैन सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन हुआ है। काव्यत्व की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है।

पद्मकीर्ति आचार्य माधवसेन के प्रशिष्य तथा जिनसेन के शिष्य थे।[1] पासणाहचरिउ की प्रशस्ति में कवि ने ग्रन्थ का रचनाकाल सं० ९९९ कार्तिक मास की अमावस्या उल्लिखित किया है।[2] किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह सम्वत् शक है या विक्रम। दक्षिणभारत में प्रायः शक सम्वत् का ही प्रयोग होता है, अतः इसे शक सम्वत् ही मानना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थ का रचनाकाल सं० ९९९ (१०७७ ई०) ठहरता है।

डा० हीरालाल जैन और डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने पासणाहचरिउ का रचना काल एक स्थल पर ९९२ वि० सं० (९३५) उल्लिखित किया है[3]। वहीं डा० नेमिचन्द्र शास्त्री तो यह भी संभावना कर डालते हैं कि वादिराज (१०२५ ई०) ने अपने पार्श्वनाथचरित की रचना में पासणाहचरिउ का भी अध्ययन किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।[4] पता नहीं उक्त दोनों विद्वानों ने वि०सं० ९९२ कैसे लिख दिया, जबकि ग्रन्थकार स्वयं सं० ९९९ का उल्लेख करते हैं। यही नहीं अन्य स्थल पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री स्वयं पद्मकीर्ति के समय पर विचार करते हुए उनके पासणाहचरिउ की समाप्ति विभिन्न प्रमाणों के आधार पर उसी ग्रन्थ में शक

१- पासणाहचरिउ, संधि १८, कडवक २२।

२- 'णय-सय णउआणउये कत्तियमासे अमावसीदिवसे।
रइयंपासुपुराणं कइणा इह पउमणामेण ॥'-वही, प्रशस्ति गाथा ४, पृ० १७१।

३- भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १५७ एवं तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ९७।

४- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ९७ एवं संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० १७९।

सं० ६६६ ही स्वीकार करते हैं।[1] अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह 'पासणाह-चरिउ, वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित से पश्चाद्वर्ती है।

६–पासणाहचरिउ : देवदत्त

अपभ्रंश के चरितकाव्यों में डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने देवदत्त के 'पासणाह-चरिउ' (पार्श्वनाथचरित) का उल्लेख किया है।[2] इनकी कृति और इनका अपना परिचय उपलब्ध नहीं होता है।

जम्बूस्वामिचरिउ के रचयिता महाकवि वीर के पिता का नाम देवदत्त था। देवदत्त अपभ्रंश के अच्छे विद्वान् थे। महाकवि वीर ने अपभ्रंश साहित्य में अपने को प्रथम, पुष्पदन्त को द्वितीय तथा अपने पिता देवदत्त को तृतीय स्थान प्रदान किया है।[3] संभव है, यही देवदत्त पासणाहचरिउ के रचयिता हों। यदि पासणाह-चरिउ के रचयिता देवदत्त महाकवि वीर के पिता देवदत्त से अभिन्न हैं तो उनका समय ईसा की १०वीं शती का अन्तिम भाग माना जा सकता है। क्योंकि महाकवि वीर के जंबुसामिचरिउ का रचनाकाल १०१९ ई० मान्य है।[4]

५– पासणाहचरिय[5] : देवप्रभसूरि

पासणाहचरिय प्राकृतभाषा में लिखित गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें ५ प्रस्ताव हैं। इसका परिमाण ६००० ग्रन्थाग्रप्रमाण है।[6]

प्रथम प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के पूर्वभवों का में से दो भवों का वर्णन मिलता है। प्रथम भव में पार्श्वनाथ मंत्रिभूति थे। उनका भाई कमठ था। कमठ के द्वारा मारे जाने पर मरुभूति गजराज और कमठ मर कर सर्प हुआ।

द्वितीय प्रस्ताव में तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम भव का वर्णन है। मरुभूति और कमठ का जीव उक्त भवों में क्रमशः कनकवेग विद्याधर और सर्प, व्रजनाभ राजा और भील, कनक चक्रवर्ती और सिंह था।

तृतीय प्रस्ताव में उन दोनों का क्रमशः पार्श्वनाथ और कठ नामक तपस्वी

१– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० २०६।
२– अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० ३५।
३– जम्बूसामिचरिउ, १।४–५।
४– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा–भाग ३, पृ० १२७।
५– जैन आत्मानंद सभा भावनगर, (गुजराती अनुवाद सहित), वि० सं० २००५ में प्रकाशित।
६– जिनरत्नकोश, पृ० ३४४।

होने का वर्णन है। कठ योनि के बाद वही जीव मेघमाली नामक देव होता है तथा पूर्व वैर के कारण तपस्या में लीन पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करता है।

चतुर्थ प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के केवलज्ञानप्राप्ति का वर्णन है तथा पञ्चम प्रस्ताव में उनका विहार एवं अन्त में सम्मेद शिखर (वर्तमान में पारसनाथ हिल नाम से प्रसिद्ध बिहार का पर्वत) पर निर्वाणप्राप्ति का वर्णन किया गया है।

इस पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के केवल ६ भवों का ही वृत्तान्त वर्णित है, जबकि अन्य प्रायः सभी पार्श्वनाथचरितों में पूर्व ६ भवों सहित वृतान्त मिलता है। बीच के ४ भवों को कवि ने छोड़ दिया है। अन्य पार्श्वनाथचरितों में जहाँ कमठ को मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा पर आसक्त दिखाया गया है। वहाँ इस पासणाहचरिउ काव्य में वसुन्धरा को कमठ पर आसक्त दिखाया गया है। कथानक में पर्याप्त परिवर्तन करने पर भी कोई कमी प्रतीत नहीं होती है।

आचार्य देवप्रभसूरि का दीक्षा के पूर्व गुणचन्द्रगणि नाम था। इसीलिए भ्रान्तिवश जिनरत्नकोश में देवभद्र के आगे भी गणि जोड़ दिया गया है। देवभद्र सन्मति उपाध्याय और प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे। ये दोनों अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इन्होंने पासणाहचरिउ की रचना वि० सं० ११६८ (१११११ ई०) में की थी।[१] इस प्रकार इनका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है।

६– पासणाहचरिउ[२]–विबुधश्रीधर

पासणाहचरिउ अपभ्रंश में लिखित पौराणिक महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु १२ संधियों में विभक्त है। ग्रन्थ २५०० पद्य प्रमाण है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित निबद्ध है। काव्यत्व की दृष्टि से यह उत्तम कोटि की रचना है। नदियों, नगरों आदि का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया गया है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग है तथा भाषा आलंकारिक है। कथावस्तु परम्पराप्राप्त है।

अपभ्रंश एवं संस्कृत–साहित्य में ७ श्रीधर विद्वानों का उल्लेख मिलता है।[३] किन्तु पासणाहचरिउ में प्रदत्त प्रशस्ति में इनका परिचय उल्लिखित होने से अंधकाराच्छन्न नहीं है। ये हरयाणा के मूल निवासी थे। वहाँ से चलकर यमुना पार दिल्ली आये। वहीं पर अग्रवाल नट्टल साहु की प्रेरणा से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की

१– जिनरत्नकोश, पृ० २४४, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १३५।
१– हस्तलिखित प्रति अग्रवाल दि० जैन मन्दिर मोतीकटरा आगरा में है।
३– द्रष्टव्य–परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित लेख 'अनेकान्त' वर्ष ८, किरण १२।

थी।[1] यही कारण है कि दिल्ली का बड़ा ही रम्य वर्णन पासणाहचरिउ में हुआ है। कवि श्रीधर विबुध की माता का नाम वील्हा और पिता का नाम बुधगोल्ह था। पार्श्वनाथचरित (पाषणाहचरिउ) में कवि ने ग्रन्थ का रचनाकाल अंकित किया है, अतः इनका समय विवादास्पद नहीं है। पासणाहचरिउ की रचना वि० सं० ११८९ (११३२ ई०) में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को पूर्ण हुई थी।[2]

७– पासणाहचरिउ : देवचन्द्र

प्रस्तुत पासणाहचरिउ में ११ सन्धियाँ और २०२ कड़वक हैं। देवचन्द्र ने अपभ्रंश में लिखित इस कृति में पार्श्वनाथ भगवान् के पूर्व भवों के साथ उनके जीवन पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति पं० परमानन्द शास्त्री के निजी संग्रह में है। इसका लेखनकाल वि० सं० १५४९ (१४९२ ई०) है। इसी की एक प्रति पासपुराण नाम से सरस्वती भवन नागौर में भी है। इनका रचनाकाल वि० सं० १५२० (१४६३ ई०) है। प्रति पूर्ण है।[3]

पासणाहचरिउ की प्रशस्ति में इन्हें मूलसंघ के वासवसेन का शिष्य कहा गया है। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—श्रीकीर्ति 7 देवकीर्ति 7 मोनीदेव 7 माधवचन्द्र 7 अभयनन्दी 7 वासवचन्द्र 7 देवचन्द्र। देवचन्द्र ने पासणाहचरिउ की रचना गुंदिज्ज नगर के पार्श्वनाथमंदिर में की थी।[4] एक वासवसेन नामक विद्वान का उल्लेख श्रवणवेलगोल के एक शिलालेख में किया गया है।[5] संभवतः यहीं वासवसेन इनके गुरु होंगे। उक्त शिलालेख में वासवसेन को 'स्याद्वादतर्ककर्कशधिषणः' कहा गया है। देवचन्द्र के काल–निर्धारण में कोई आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री भाषा शैली के परीक्षण आदि के आधार पर देवचन्द का समय ईसा की १२वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं।[6]

१– द्र०—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १५६।
२– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १३९।
३– अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४७।
४– परमानंदशास्त्री द्वारा लिखित 'अपभ्रंश भाषा का पासचरिउ और कविवर देवचन्द' लेख-अनेकान्त वर्ष ११, किरण ४-५, जून–जुलाई १९५२, पृ० २११–२१२।
५– जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक ५५, पद्य २५।
६– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १८२।

८– पार्श्वनाथचरित : माणिक्यचन्द्रसूरि

पार्श्वनाथचरित १० सर्गात्मक महाकाव्य है। यह ६७७० श्लोक प्रमाण है। इसमें अंगीरस शान्त है तथा अन्य रसों का अंग रूप में प्रयोग हुआ है। काव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है। सर्गान्त में छन्दों का परिवर्तन है। सर्गान्त के छन्दों में शार्दूलविक्रीडित, मालिनी तथा स्रग्धरा का अधिक प्रयोग है। यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति शान्तिनाथ भण्डार खम्भात में है।[1]

माणिक्यचन्द्र सूरि राजगच्छीय नेमिचन्द्र के प्रशिष्य और सागरचन्द्र के शिष्य थे।[2] ये महामात्य वस्तुपाल के समकालीन थे। माणिक्यचन्द्रसूरि ने पार्श्वनाथचरित की रचना वि० सं० १२७६ (१२१९ ई०) में दीपावली के दिन वेलाकूल देवकूपक में की थी।[3] वि० सं० १२९० (१२३३ ई०) में लिखित जिनभद्र की प्रबंधावली में माणिक्यचन्द्र का उल्लेख तथा उनके साथ वस्तुपाल के सम्बन्ध का भी विवरण दिया गया है।[4] डा० रामजी उपाध्याय ने माणिक्यचन्द्र के पिता का नाम सागरेन्द्र लिखा है।[5] परन्तु इस तरह का उल्लेख अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिला है। संभवतः डा० उपाध्याय ने उनके गुरु के नाम सागरचन्द्र (सागरेन्दु) को ही पिता का नाम समझ लिया है।

९– पार्श्वनाथचरित : विनयचन्द्रसूरि

विनयचन्द्रसूरिकृत पार्श्वनाथचरित विनयांकित महाकाव्य है। इसका कथानक परम्परा प्राप्त है। कोई भी मौलिक परिवर्तन या परिवर्धन इसमें नहीं हुआ है। बीच-बीच में अनेक अवान्तरकथाओं का भी समावेश किया गया है। धार्मिक विचार धाराओं का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। अभी तक यह मुद्रित नहीं हुआ है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर पाटन में है।[6] काव्य सरल एवं प्रसादगुणसम्पन्न है। स्वाभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उपमा आदि अर्थालंकारों तथा

१– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१।

२– जिनरत्नकोश, पृ० २४१।

३– 'रसर्षिरविसंख्यायां समायां दीपपर्वणि।
समर्थितमिदं वेलाकूले श्रीदेवकूपके॥
—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६, पृ० १२१ से उद्धृत।

४– वही, पृ० १२१।

५– संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, पृ० ४१८।

६– जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१।

अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है, पर सर्गान्त में इन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, शिखरिणी आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

विनयचन्द्रसूरि की गुरु परम्परा ग्रन्थ-प्रशस्ति के अनुसार इस प्रकार है—चन्द्रगच्छीय शीलगुणसूरि > मानतुंगसूरि > रविप्रभसूरि > (१) नरसिंहसूरि (२) नरेन्द्रप्रभसूरि और (३) विनयचन्द्रसूरि। इनका साहित्यिक काल वि० सं० १२८६ से १३४५ तक (१२२९–१२८८ ई०) तक माना जाता है।[1] कवि ने संस्कृत, प्राकृत एवं गुजराती में अनेक काव्यों की रचना की है।

१०–पार्श्वनाथचरित : सर्वानन्दसूरि

यह पाँच सर्गात्मक काव्य है। इसकी एक ताड़पत्रीय प्रति संघवी पाड़ा भण्डार पाटन में मिलती है, जो अत्यन्त जीर्ण है। इसमें १५६ पृ० नहीं है, कुल ३४५ पृष्ठ हैं।[2] चन्द्रप्रभचरित्र की रचना इन्होंने वि० सं० १३०३ में की थी।[3] जिनरत्नकोश के अनुसार पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल वि०सं०१२९१(१२३४ ई०) माना गया है।[4]

सर्वानन्दसूरि शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और गुणरत्नसूरि के शिष्य थे। चन्द्रप्रभचरित्र के अन्त में प्राप्त गुरुपरम्परा इस प्रकार है—जयसिंह > चन्द्रप्रभसूरि > धर्मघोषसूरि > शीलभद्रसूरि > सर्वानन्दसूरि।[5] ऊपर दिये गये ग्रन्थों के रचनाकाल के आधार पर इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

११-पार्श्वनाथचरित्र[6] : भावदेवसूरि

यह आठ सर्गात्मक भावांकित महाकाव्य है। इसके आठों सर्गों में क्रमशः ८६५, १०६५, ११०९, १६२, २५४, १३६०, ८३६ और ३९३ पद्य हैं। अन्त में

१– वही, पृ० १२३।

२– वही, पृ० १२१।

३– 'श्री सर्वानन्दसूरिभुजगगगनशमीगर्भशुभ्रांशुवर्षे ।'—चन्द्रप्रभचरित्र, प्रशस्तिपद्य ७, (वही पृ० ६८ से उद्धृत)।

४– जिनरत्नकोश, पृ० २४५।

५– द्रष्टव्य–जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १८।

६– यशोविजय जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, वी० नि० सं० २४३८ में प्रकाशित। (संशोधक-संपा–श्री पं० हरगोविन्ददास, बेचरदास)।

३० पद्यात्मक प्रशस्ति हैं। सर्गों का विभाजन कथावस्तु के आधार पर किया गया है। प्रथम सर्ग में तीन भवों का, द्वितीय सर्ग में चतुर्थ एवं पञ्चम भव का, तृतीय सर्ग में षष्ठ एवं सप्तम भव का तथा चतुर्थ सर्ग में अष्टम एवं नवम भव का वर्णन है। इस प्रकार चार सर्गों में ९ पूर्वभवों के वर्णन के बाद पञ्चम सर्ग से तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित प्रारम्भ होता है। पञ्चम सर्ग में पार्श्वनाथ का जन्म, जन्माभिषेक, बाल्यकाल, विजययात्रा आदि का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में विवाह, दीक्षा, केवलज्ञान, समवशरण एवं उपदेश आदि का वर्णन है। सप्तम सर्ग में गणधर-देशना और शासनदेव का वर्णन है। अन्तिम अष्टम सर्ग में भगवान् का विहार और निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

सर्गान्त पुष्पिका में पार्श्वनाथचरित्र को महाकाव्य कहा गया है।[1] यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा करने पर यह महाकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, पर इसका आकार आदि महाकाव्य का ही है। अनेक शास्त्रों की समीक्षा करके कवि ने इस काव्य में परम्परा प्राप्त कथानक का ग्रथन किया है। कवि इस बात को स्वयं स्वीकार करता है।[2] बीच-बीच में अनेक अवान्तर कथानकों का समावेश है, जिनमें मुख्य रूप से धर्म का उपदेश दिया गया है। ग्रन्थ में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्गान्त में वसन्ततिलका और शार्दूलविक्रीडित छन्द का भी प्रयोग है। प्रशस्ति पद्यों में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी और शिखरिणी छन्दों का प्रयोग हुआ है।

ग्रन्थ-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि खाण्डिल्लगच्छ के चन्द्रकुल में भावदेवसूरि नामक एक विद्वान् हुए। उनके तीन शिष्य थे—(१) विजयसिंहसूरि, (२) वीरसूरि और (३) जिनदेवसूरि। पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता भावदेवसूरि इन तीनों में से जिनदेवसूरि के शिष्य थे।[3] पार्श्वनाथचरित्र की रचना भावदेवसूरि ने वि० सं० १४१२ (१३५५ ई०) में पत्तन नामक नगर में की थी। इसका उल्लेख पार्श्वनाथ

१- 'इति श्रीकालिकाचार्यसन्तानीयश्रीभावदेवसूरिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे महाकाव्येऽष्टसर्गभावांके वर्णनो नाम ..।' सर्गान्तपुष्पिका।

२- समीक्ष्य बहुशास्त्राणि श्रुत्वा श्रुतधराननात्।
ग्रन्थोऽयं ग्रथितः स्वल्पसूत्रेणापिमया रसात्॥
—पार्श्वनाथचरित्र, प्रशस्तिपद्य १५।

३- द्रष्टव्य–पार्श्वनाथचरित्र, प्रशस्ति पद्य, ४-१४।

चरित्र की प्रशस्ति में किया गया है।[1] श्री पं० हरगोविन्ददास वेचरदास जी ने प्रशस्ति पद्य में उल्लिखित 'रविविश्ववर्षे' का अर्थ १३१२ किया है[2] जो उचित जान नहीं पड़ता है। क्योंकि रवि-१२ और विश्व-१४ गणना ही उचित है। इस आधार पर भावदेवसूरि चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

१२-पार्श्वनाथपुराण : सकलकीर्ति

यह २३ सर्गात्मक काव्य है। इसका नाम पार्श्वनाथचरित भी उपलब्ध होता है। कथा का प्रारम्भ वायुभूति के जीवन से होता है। वायुभूति का जीव ही अनेक जन्मों में की गई साधना के द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थंकर होकर निर्वाण प्राप्त करता है। पार्श्वनाथपुराण की कथावस्तु को वर्ण्यविषय के आधार पर सर्गों में विभक्त किया गया है।

सकलकीर्ति ने संस्कृत और राजस्थानी में अनेक ग्रन्थों की रचना की। १५वीं शताब्दी में विद्यमान पद्मपुराण के रचयिता जिनदास इनके शिष्य थे।[3] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री सकलकीर्ति का समय वि० सं० १४४३-१४९९ (१३८६-१४४२) मानते हैं।[4] किन्तु प्रो० विद्याधर जौहरापुरकर ने बलात्कारगण ईडर शाखा में आचार्य-परम्परा का निर्देश करते हुए सकलकीर्ति का समय वि० सं० १४५०-१५१० (१३९३-१४५३ ई०) माना है।[5] इस आधार पर इनका साहित्यिक काल पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

१३-पासणाहचरिउ[6] : रइधू

इसकी कथावस्तु ७ सन्धियों में विभक्त है। रइधू की समस्त कृतियों में अपभ्रंश भाषा का यह काव्य श्रेष्ठ, सरस एवं रुचिकर है। इसमें संवाद प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा ही सुन्दर तथा नाटकीय है। ये संवाद पात्रों के चरित्र चित्रण में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। रइधू के पासणाहचरिउ की अनेक हस्तलिखित

---

१. 'श्री पत्तनाख्यनगरे रविविश्ववर्षे, पार्श्वप्रभोश्चरितरत्नमिदं ततान।
—पार्श्वनाथचरित्र, प्रशस्तिपद्य १४।

२- वही, प्रस्तावना, पृ० २।

३- जिनरत्नकोश, पृ० २३४, ३३१।

४- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३२९।

५- भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १५७।

६- रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर से प्रकाशित।

प्रतियाँ कोटा, ब्यावर, जयपुर, आगरा के ग्रन्थभण्डारों में भरी पड़ी हैं[1], जिससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

रइधू काष्ठासंघ की माथुरगच्छ की पुष्करगणीय शाखा से संवद्ध है। अपभ्रंश, संस्कृत एवं हिन्दी में इनकी ४० के लगभग रचनायें मिलती हैं। इनके पिता का नाम हरिसिंह, पितामह का नाम संघपति देवराज, माता का नाम विजयश्री तथा पत्नी का नाम सावित्री था। इनका एक पुत्र भी था, जिसका नाम उदयराज था।[2] कवि ने ग्वालियर शहर का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है, जिससे ग्वालियर की तत्कालीन राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, धार्मिक स्थिति आदि का पता चलता है। डा० राजाराम जैन ने इनका समय वि० सं० १४५७–१५३६ (१४००–१४७९ ई०) माना है।[3]

१४– पासणाहचरिउ : असवाल कवि

अपभ्रंश भाषा में निवद्ध यह ग्रन्थ १३ सन्धियों में विभक्त है। कथावस्तु परम्परागत है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का पूर्व ९ भवों सहित वर्णन किया गया है। कमठ का जीव मरुभूति के जीव से ९ भवों तक निरन्तर वैर करता रहता है। १०वें भव में मरुभूति का जीव तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में आत्मकल्याण करता है। पार्श्वनाथ ३० वर्ष की आयु में दीक्षा धारण कर लेते हैं और कठोर तपस्या करने के फलस्वरूप सम्मेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस ग्रन्थ की एक ही हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, जो श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर मोतीकटरा आगरा में है। इसमें ९१ से ९७ तक के पन्ना नहीं है।[4] काव्यत्व की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है।

असवाल कवि गोलाराड वंश के लक्ष्मण के पुत्र थे। इस काव्य में इन्होंने मूलसंघ के वलात्कारगण के आचार्यों का उल्लेख किया है। अतः जान पड़ता है कि

१– द्रष्टव्य-अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ० १४६।

२– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० २००–२०१।

३– महाकवि रइधू के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १२०।

४– अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४६।
'इगवीर हो णिव्वुइं वुच्छराइं सत्तरिसहुंचउसभवत्थराइं।
पच्छइंसिरिणिवविक्कमगयाइं एउणसीदीसहुंच उदहसयाइं ॥
भावदंतम एयारसि मुणेहु वरिक्केपूरिउ गंथु एहु।'

वे इसी से संवद्ध थे। ग्रंथ रचना चौहानवंशी राजा पृथिवीसिंह के राज्यकाल में वि० सं० १४७९ (१४२२ ई०) में हुई थी।[१]

१५- पासपुराण : तेजपाल

पासपुराण पद्धड़िया छन्द में लिखित एक खण्डकाव्य है। ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भट्टारक हर्षकीर्तिभण्डार अजमेर[२], वड़े घड़े का मंदिर अजमेर तथा आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर में है। वड़े घड़े का मन्दिर अजमेर तथा आमेरशास्त्रभण्डार जयपुर की प्रति का रचनाकाल क्रमशः वि० सं० १५१६ और १५७७ (१४५९ और १५२० ई०) है।[३]

कवि तेजपाल मूलसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति, भुवनकीर्ति और विशालकीर्ति की आम्नाय से संवंधित थे। इन्होंने पासपुराण की रचना मुनि पद्मनंदि के शिष्य शिवनन्दि भट्टारक के संकेत से वि० सं० १५१५ (१४५८ ई०) में की थी।[४] इस आधार पर वि० सं० १५१६ में लिखित वड़े घड़े का मन्दिर अजमेर की हस्त-लिखित प्रति उसी समय लिखी गई प्रतीत होती है। इस प्रकार कवि का समय ईसा की १५वीं शताब्दी सिद्ध है।

१६- पार्श्वनाथचरित : (पार्श्वनाथकाव्य) पद्मसुन्दरगणि

प्रस्तुत काव्य सप्तसर्गात्मक है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णित है। पद्मसुन्दरगणि आनन्दमेरु के प्रशिष्य और पद्ममेरु के शिष्य थे।[५] ये नागौरी तपागच्छ के विद्वान् थे। धातुतरंगिणी के रचयिता हर्षकीर्ति इन्हीं की परम्परा के थे। उन्होंने धातुतरंगिणी में इनका परिचय इस प्रकार दिया है—

"साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डितं
क्षौमग्रामसुखासनाद्यकवर श्रीसाहितो लब्धवान्।
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योऽधिकं
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयं पाठकम्[६] ॥"

१- अनेकान्त, वर्ष १३, किरण १० अप्रैल १९५५, पृ० २५२ से उद्धृत।
२- वही, पृ० २११।
३- अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४६।
४- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० २१०।
५- जिनरत्नकोश, पृ० २४४।
६- जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२० से उद्धृत।

इससे स्पष्ट होता है कि पद्मसुन्दर ने अकबर बादशाह की सभा में किसी महान् पण्डित को परास्त किया था और अकबर ने उन्हें सम्मानित किया था। उन्हें रेशमी दुपट्टा, ग्राम और सुखासन भेंट में दिया था। वे हिन्दू राजा मालदेव (जोधपुर नरेश) द्वारा भी सम्मानित थे।

रायमल्लाभ्युदय की रचना इन्होंने दिगम्बर विद्वान् अग्रवाल जातीय रायमल्ल के अनुरोध पर[1] वि० सं० १६१५ (१५५८ ई०) में की थी।[2] अतएव उनका समय ईसा की १६वीं शताब्दी है।

१७- पार्वनाथचरित[3] : हेमविजयगणि

यह काव्य छः सर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ४६६, ३०५, ६३५, ६८३, ४७४ और ४७५ कुल ३०३६ पद्य हैं। अन्त में १६ प्रशस्ति पद्य हैं। सर्गान्तिपुष्पिका से ज्ञात होता है कि हेमविजयगणि कमलविजयगणि के शिष्य थे,[4] जो भट्टारक हीर॰ विजयसूरि और विजयसेनसूरि की परम्परा से संबद्ध थे।[5] इस ग्रन्थ का अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के पार्श्वनाथचरित अंश की हूबहू नकल उतारी गई है।

कोई ने ग्रन्थ प्रणयन और परिमाण का उल्लेख ग्रन्थ प्रशस्ति में स्वयं किया है। उनके अनुसार पार्श्वनाथचरित की रचना वि० सं० १६३२ (१५७५ ई०) में हुई थी तथा ग्रन्थ ३१६० अनुष्टुप् प्रमाण है।[5]

१- वही, भाग ६, पृ० ६७।

२- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ८३।

३- मुनि श्री मोहनलाल जी जैन ग्रन्थमाला सरस्वती फाटक, बनारस, १९१६ ई० में प्रकाशित।

४- 'इति श्रीतपागच्छाधिराजभट्टारकसार्वभौमश्रीहीरविजयसूरिश्रीविजयसेनसूरिराज्ये समस्तसुविहितावतंसपण्डितकोटीकोटीरहीर पं० कमलविजयगणिशिष्य भुजिष्यग॰ हेमविजयगणिविरचिते ---। —पार्श्वनाथचरित, सर्गान्तपुष्पिका।

५- 'दृक्कृशानुरससोममितेऽब्दे शक्रमन्त्रिणि दिने यसंज्ञे।
हस्तभे च बहुलेतरपक्षे फाल्गुनस्य चरितं व्यरचीदम्॥
अनुष्टुभां सहस्राणि त्रीणि वर्णाश्चतुर्दश।
षष्ठियुक्तं शतं चैकं सर्वसंख्यात्र वाङ्मये'॥
—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य १४-१५।

१८– पार्श्वपुराण : वादिचन्द्र

यह एक पौराणिक काव्य है, जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र पौराणिक शैली में लिखा गया है। यह १५०० श्लोकप्रमाण है। कवि वादिचन्द्र पवनदूत के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके गुरु का नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र और गुरु के गुरु का नाम ज्ञानभूषण था।[1] पार्श्वपुराण की एक हस्तलिखित प्रति इटावा के सरस्वती भण्डार में है।[2]

पार्श्वपुराण में वादिचन्द्र ने अपने लिए प्रभाचन्द्र के पट्ट का अधिकारी बतलाते हुए उन्हें अनेक दार्शनिकों से महान् बताया है तथा पार्श्वपुराण की रचना वि० सं० १५४० (१५८३ ई०) में कार्तिक शुक्ला पंचमी को वाल्मीकनगर में करने का उल्लेख किया है।[3] इस प्रकार कवि का रचनाकाल ईसा की १६वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

१९– पार्श्वनाथचरित[4] : उदयवीरगणि

यह ग्रन्थ आठ सर्गात्मक है, जिनमें हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की परम्परा के अनुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित संस्कृत गद्य में लिखा गया है।

प्रथम सर्ग में पार्श्वनाथ के पूर्वभवों में से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भव का, द्वितीय सर्ग में चतुर्थ एवं पंचम भव का, तृतीय सर्ग में षष्ठ एवं सप्तम भव का, चतुर्थ सर्ग में अष्टम एवं नवम भव का वर्णन किया गया है। इसके बाद पार्श्वनाथ तीर्थंकर का वर्णन प्रारम्भ होता है। पंचम सर्ग में स्वर्ग से गर्भ में आना, जन्म,

---

१– जिनरत्नकोश, पृ० २४६।

२– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६९।

३– सांख्यः शिष्यति सर्वथैव किं न वैशेषिको रंकति।
यस्य ज्ञानकृपाणतो विजयतां सोऽयं विजयचन्द्रमाः॥
तत्पट्टमण्डनं सूरिर्वादिचन्द्रः व्यरीरचत्।
पुराणमेतत्पार्श्वस्य वादिवृन्दशिरोमणिः॥
शून्याब्दे रसाब्जांके वर्षे पक्षे समुज्ज्वले।
कार्तिके मासि पंचम्यां वाल्मीके नगरे मुदा॥
—भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ४९२, पृ० १८६ से उद्धृत।

४– जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९७० में प्रकाशित।

जन्माभिषेक, विवाह के लिए उत्सव आदि का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में विवाह, दीक्षा, केवलज्ञान, समवशरण एवं उपदेश आदि का वर्णन है। सप्तम सर्ग में गणधरदेशना एवं अष्टम सर्ग में भगवान् का विहार, निर्वाण महोत्सव आदि का वर्णन है।

ग्रन्थ के बीच-बीच में प्रसिद्ध ग्रन्थों से सूक्तियों को उद्धृत किया गया है। अन्य अवान्तर कथाओं का भी प्रसंगानुसार समावेश हुआ है।

उदयवीरगणि तपागच्छीय हेमसूरि के प्रशिष्य और संघवीर के शिष्य थे। हेमसूरि जगच्चन्द्रसूरि के प्रशिष्य और हेमविजयसूरि के शिष्य थे। उक्त परम्परा का उल्लेख उदयवीरगणि ने पार्श्वनाथचरित की सर्गान्त-पुष्पिका में स्वयं किया है।[१] प्रशस्ति के अनुसार पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल वि० सं० १६५४ (१५९७ ई०) है।[२]

२०–पार्श्वपुराण : चन्द्रकीर्ति

यह पन्द्रह सर्गात्मक काव्य है, जो २७१० ग्रन्थाग्रप्रमाण है। इसकी रचना वि० सं० १६५४ (१५९७ ई०) में श्रीभूषण भट्टारक के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने वैसाख शुक्ला सप्तमी को गुरुवार के दिन देवगिरि के पार्श्वनाथजिनालय में की थी।[३] इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई में है।[४]

चन्द्रकीर्ति के गुरु श्रीभूषण भट्टारक काष्ठासंघीय थे। वे काष्ठासंघ के नन्दी तटगच्छ के भट्टारक थे। वाचस्पति गैरोला ने उनकी परम्परा को इस प्रकार बतलाया है—रामसेन 7 नेमिषेण 7 विमलसेन 7 विशालकीर्ति 7 विश्वसेन 7 विद्याभूषण 7 श्रीभूषण। श्रीभूषण के उत्तराधिकारी के रूप में पद्मकीर्ति का उल्लेख किया है।[५] किन्तु प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने काष्ठासंघ नंदीतटगच्छ की परम्परा का इस

१– 'इति तपागच्छीयश्रीपूज्यश्रीजगच्चन्द्रसूरिपट्टपरम्परालंकारश्रीहेमविजयसूरिसन्तानीयश्रीपूज्यगच्छाधिराजहेमसूरिविजयराज्ये पूज्य पं० संघवीरगणिशिष्य पं० उदयवीरगणिविरचिते ...... ।' —पार्श्वनाथचरित, सर्गान्त पुष्पिका।

२– 'वेदबाणर्तुचन्द्राख्यसंख्ये वर्षे वचोऽष्टके ।
मासे च सितसप्तम्यां ग्रन्थोऽयं निर्मितो मुदा ॥"—वही, प्रशस्ति पद्य ९।

३– जिनरत्नकोश, पृ० २४६–२४७।

४– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२५, पादटिप्पणी ६।

५– संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६३।

प्रकार का उल्लेख किया है—धर्मसेन 7 विमलसेन 7 विशालकीर्ति 7 विश्वसेन 7 विद्याभूषण 7 चन्द्रकीर्ति। प्रो० जोहरापुरकर ने चन्द्रकीर्ति का समय वि०सं० १६५४–१६८१ (१५९७–१६२४ ई०) माना है।[1] इस प्रकार चन्द्रकीर्ति का भट्टारक है। रहने का समय ईसा की पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी का संधिकाल माना जा सकता है।

भारत के धार्मिक जीवन में जिस महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन सम्प्रदाय के पूज्य तीर्थंकर के रूप में आपके पावन जीवन को जन–मानस में प्रचारित करने की भावना से अनेक कवियों ने सभी भारतीय भाषाओं में काव्यों का निर्माण किया है। इनके आकलन से भारत को धार्मिक साहित्य का इतिहास अवश्य समृद्धतर होगा।

१– भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २९९।

द्वितीय अध्याय

ग्रन्थकार और ग्रन्थ

अनेक वादिराज

संस्कृत-साहित्य के विशाल भण्डार के अनुशीलन से पता चलता है कि भारतवर्ष में सुरभारती के सेवक वादिराज नामधारी अनेक विद्वान् हुए हैं। श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने वादिराजसूरि और उनकी रचनाओं पर विचार करते हुए वादिराज नामधारी तीन विद्वानों का उल्लेख किया है—

१- एक वादिराज पोमराज के पुत्र हुए, जिन्होंने ज्ञानलोचन नाम का स्तवन बनाया है।

२- एक वादिराज अध्यात्माष्टक और वाग्भटालंकार की टीका के कर्ता हुए।

३- एक वादिराज यशोधरचरित कर्नाटक के कर्ता हुए।[1]

श्री नाथूराम प्रेमी ने ज्ञानलोचनस्तोत्र के रचयिता पोमराज के पुत्र वादिराज को ही वाग्भटालंकार की चन्द्रिका नामक टीका का भी रचयिता माना है। उन्होंने लिखा है कि—'अभी तक इनकी दो रचनायें उपलब्ध हुई हैं। एक तो वाग्भटालंकार की कविचन्द्रिका नाम की टीका और एक ज्ञानलोचन स्तोत्र नाम का छोटा सा स्तोत्र। पहले ग्रन्थ की उत्थानिका और प्रशस्ति से मालूम होता है कि खण्डेलवाल वंश में उत्पन्न हुए थे और उनके पिता का नाम पौमराज (पद्मराज) श्रेष्ठी था।"[2]

श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने अध्यात्माष्टक के रचयिता और वाग्भटालंकार के टीकाकार को एक ही वादिराज माना है। जबकि ज्ञानलोचनस्तोत्र के रचयिता और वाग्भटालंकार के टीकाकार पोमराज के पुत्र वादिराज एक ही हैं। प्रेमी जी

१- एकीभावस्तोत्र, प्रस्तावना, पृ० १६।

२- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४८६-९०।

की भी यही मान्यता है। अध्यात्माष्टक के रचयिता वादिराज इनसे भिन्न जान पड़ते हैं। डा० के० कृष्णमूर्ति ने ज्ञानलोचनस्तोत्र के रचयिता को पोमराज के पुत्र वादिराज मानते हुए, उन्हें अध्यात्माष्टक के रचयिता होने में सन्देह व्यक्त किया है।[1]

श्रुतसागर सूरि ने यशस्तिलकचम्पू की टीका में वादिराज के एक पद्य को उद्धृत करके उसे सोमदेव के शिष्य वादिराज कृत कहा है। वह पद्य इस प्रकार है—

"कर्मगाकवलिताऽजनितोऽजातत्पुरान्तरजनंगमवाटे ।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमशेत्यशुभधाम न जीवः ॥"[2]

किन्तु यह पद्य उपलब्ध वादिराजकृत कृतियों में नहीं मिलता है। न ही कोई वादिराज सोमदेवाचार्य के शिष्य ही हैं। संभव है यह पद्य अन्य किसी वादिराज का हो जो सोमदेवाचार्य के शिष्य रहे हों। इतना तो निश्चित है कि वादिराज नामक किसी विद्वान् का सोमदेवाचार्य का शिष्य होना अन्यत्र उल्लिखित नहीं है।

डा० ए० बी० कीथ ने दक्षिण निवासी कनकसेन वादिराज रचित २९६ पद्यात्मक यशोधरचरित का उल्लेख करते हुए उनके शिष्य श्रीविजय का समय ९५० ई० माना है।[3] २९६ पद्यात्मक एक यशोधरचरित वादिराजकृत उपलब्ध है तथा ये भी दक्षिण के निवासी थे। किन्तु उनके शिष्य का नाम श्रीविजय नहीं था और न उनका अपना नाम कनकसेन वादिराज। उपलब्ध यशोधरचरित के रचयिता वादिराज ने यशोधरचरित से पूर्व पार्श्वनाथचरित की रचना १०२५ ई० में की थी। अतएव ९५० ई० में विद्यमान श्रीविजय उनके शिष्य नहीं हो सकते हैं। अतः डा० कीथ का निर्देश श्रीविजय के गुरु किसी अन्य वादिराज की ओर जान पड़ता है।

डा० हुल्त्स ने अजितसेन वादीभसिंह को वादिराज द्वितीय का शिष्य कहा है। ये अजितसेन वादीभसिंह यादवराज एरेयंग शान्तरराज तेलगु के गुरु थे।[4] अतः हुल्त्स द्वारा निर्दिष्ट वादिराज भी उक्त वादिराजों से भिन्न ठहरते हैं।

एक वादिराज (जैनेतर) संस्कृत-साहित्य में महाभारत के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये वादिराज दक्षिण भारत के निवासी थे। परन्तु इनके पाठ पूर्ण रूप से न तो दक्षिणीय कोश से ही मिलते हैं और न उत्तरीय से ही। विराट् पर्व की

१- द्रष्टव्य-यशोधरचरित (संपा०-डा० के० कृष्णमूर्ति), इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४७-४८
२- यशस्तिलकचम्पू (संपा०-सुन्दरलाल शास्त्री), द्वितीय आश्वास, पृ० २६५।
३- संस्कृत साहित्य का इतिहास (मूल-कीथ, अनु० मंगलदेवशास्त्री), पृ० १७७।
४- द्रष्टव्य-यशोधरचरित (संपा०-डा० के० कृष्णमूर्ति), इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७।

टीका के अन्त में वादिराज ने अपने गुरु मध्व को प्रणाम किया है। इसके आधार पर वे माध्वमतानुयायी जान पड़ते हैं। इनकी टीका का नाम लक्षाभरण है। यह विराट् और उद्योगपर्व पर प्रकाशित उपलब्ध है। इनका समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।[1]

इनके अतिरिक्त यशोधरचरित, पार्श्वनाथचरित, एकीभावस्तोत्र न्यायविनिश्चयविवरण तथा प्रमाणनिर्णय ग्रन्थों के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध वादिराज हैं, जो अपने समय के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् थे।

उक्त विवेचन के आधार पर वादिराज नामधारी विभिन्न कालों मे विद्यमान सात विद्वानों का उल्लेख मिलता है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) वाग्भटालंकार की चन्द्रिका टीका और ज्ञानलोचन स्तोत्र के रचयिता पोमराज (पद्मराज) के पुत्र वादिराज। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा वाग्भटालंकार की टीका 'चन्द्रिका' की रचना इन्होंने वि० सं० १७७९ में दीपमालिका के दिन गुरुवार को चित्रा नक्षत्र में वृश्चिक लग्न के समय की थी।[2]

(२) अध्यात्माष्टक के रचयिता वादिराज।

(३) श्रुतसागर सूरि द्वारा उल्लिखित सोमदेव के शिष्य वादिराज।

(४) डा० कीथ द्वारा उल्लिखित कनकसेन वादिराज, जिनके श्रीविजय (९५० ई०) शिष्य थे।

(५) हुल्त्स द्वारा निर्दिष्ट अजितसेन वादीभसिंह के गुरु वादिराज द्वितीय।

(६) महाभारत के टीकाकार दक्षिणभारत निवासी माध्वमतानुयायी वादिराज।

(७) यशोधरचरितादि ग्रन्थों के रचयिता वादिराज, जो न्यायविनिश्चय पर विवरण नाम्नी टीका के भी रचयिता हैं।

उक्त सात वादिराजों के अतिरिक्त अन्य वादिराज नामधारी विद्वानों का भी संकेत मिलता है। श्री नाथूराम प्रेमी ने किसी सूची-पत्र के आधार पर वादिराज कृत रुक्मणियशोविजय, वादमञ्जरी, धर्मरत्नाकर और अकलंकाष्टकटीका नामक चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[3] संभव है इन ग्रन्थों के रचयिता उक्त

१– संस्कृत साहित्य का इतिहास-बलदेव उपाध्याय, अष्टम सं० १९६८ ई०, पृ० १२०

२– जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

२– द्र०–श्री प्रेमी जी द्वारा लिखित तथा विद्वद्रत्नमाला में प्रकाशित "श्रीवादिराजसूरि' हिन्दी लेख का संस्कृतानुवाद, पार्श्वनाथचरित, प्रस्तावना, पृ० १५।

वादिराजों से कोई भिन्न वादिराज हों। किन्तु किसी सूची-पत्र के उल्लेख के आधार पर किसी निर्णय को नहीं कर सकते हैं।

पूर्वोक्त वादिराजों में अन्त में उल्लिखित वादिराज ही पार्श्वनाथचरित के रचयिता हैं। पार्श्वनाथचरित में उल्लेख के अतिरिक्त इनकी अपर कृति यशोधरचरित में भी पार्श्वनाथचरित की रचना करने का उल्लेख किया गया है।[1]

परिचय :

संस्कृत-साहित्य के अधिकांश कवियों एवं आचार्यों ने अपने व्यक्तिगत परिचय को सर्वथा अछूता ही रहने दिया। यद्यपि गद्यकार बाण और नाटककार भवभूति आदि कुछ इने-गिने कवियों ने भले ही अपना कुछ परिचय निर्दिष्ट कर दिया हो, पर अधिकांश कवि-परम्परा ने इसे उपेक्ष्य ही समझा है। वादिराजसूरि ने भी अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में स्वगुरुनाम, ग्रन्थप्रणयनकाल, तत्कालीन राजा आदि के निर्देश के अतिरिक्त अपने वंश, माता-पिता आदि के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। न ही इस संबंध में कोई बाह्य प्रमाण ही आज तक उपलब्ध हुए हैं। फिर भी आलोचन-प्रत्यालोचन मार्ग से अन्तःबाह्य साक्ष्यों के आधार पर जो भी विवरण प्राप्त हो सका है, वह इस प्रकार है—

द्राविड़ संघ :

श्री वादिराजसूरि दिगम्बर सम्प्रदाय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। भले ही उनकी सम्पूर्ण कृतियों का अध्ययन विधिवत् न हो सका हो, परन्तु उनके सरस एकीभावस्तोत्र से धार्मिक समाज, न्याय विनिश्चयविवरण से तार्किक समाज और यशोधरचरित से साहित्य-समाज सर्वथा सुपरिचित है। जहाँ एक ओर वादिराजसूरि को महान् कवियों में स्थान प्राप्त है, वहाँ दूसरी ओर श्रेष्ठ तार्किकों की पंक्ति में भी वे उत्तम स्थान पाने वाले हैं। वादिराजसूरि द्राविड़ संघ के अन्तर्गत नंदिसंघ के अरुंगल नामक अन्वय (शाखा) के आचार्य थे।[2] द्राविड़ संघ का अनेक प्राचीन शिलालेखों में द्रविड़, द्रमिड़, द्रविण, द्रविड, द्रमिल, द्राविड़, दविल, दरविल आदि नामों से उल्लेख पाया जाता है।[3] ये नाम-गत

१- श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा यशोधरी कथा॥—यशोधरचरित १।६।

२- श्रीमद्द्रविडसंघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽस्त्यरुङ्गलः। अन्वयो भाति·· जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखांक २८८।

३- द्रष्टव्य- वही, भाग ३, की डा० गुलाबचन्द्र चौधरी लिखित प्रस्तावना, पृ० ३३।

भेद किस प्रकार हुए– इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु संभव है कि यह भेद लेखकों के प्रमाद का परिणाम हो। अथवा इन शब्दों में भाषावैज्ञानिक विकास की दृष्टि से कालगत अन्तर भी संभव है। प्राचीन काल में चेर, चोल और पाण्ड्य इन तीन देशों के निवासियों को द्राविड़ कहा जाता था।[1] द्राविड़ शब्द पर विचार करते हुए श्री गणेश प्रसाद जैन ने लिखा है कि–'द्राविड शब्द भी संस्कृत भाषा का मौलिक शब्द नहीं है। द्राविड़ तामिष शब्द का परिवर्धित रूप है, इसके सम्बन्ध में केरल के प्रसिद्ध आचार्य महाकवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर की सम्मति इस प्रकार से है– द्राविड़ों के व्यवहार की भाषा का सामान्य नाम तमिष था। पिंगल निघण्टु के अनुसार तमिष शब्द का अर्थ है 'मिठास और विशिष्टता।' इनमें से किसी एक अर्थ में तमिष का प्रयोग हुआ होगा। द्राविड़ शब्द की उत्पत्ति नीचे दिये क्रमानुसार है– तमिष 7 तमिल 7 दमिल 7 द्रमिल 7 द्रमिड़ 7 द्रविड 7 द्राविड़।'[2]

तमिल–द्रविड देश (वर्तमान दक्षिण भारत) में उत्पन्न होने के कारण यह संघ संभवतः द्राविड़ कहा गया होगा। अरुंगल वहाँ किसी स्थान विशेष का नाम होगा। आज भी अरुंगल नाम का एक स्थान तामिल प्रान्त में गुडियपत्तम तालुका में होने का निर्देश डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने किया है और इसे प्राचीन जैनस्थान माना है।[3] शिलालेखों में सर्वत्र 'द्रविडसंघ–नन्दिसंघ अरुंगलान्वय' का एक साथ उल्लेख होने से कहा जा सकता है कि द्रविड देश में नन्दि नामक कोई संघ था, जिसकी उत्पत्ति अरुंगल नामक स्थान–विशेष से हुई थी।

यापनीय सम्प्रदाय और नन्दि संघ :

दक्षिण भारत में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अतिरिक्त यापनीय नामक एक तीसरे सम्प्रदाय का भी पता चलता है। इसका नाम गोप्य संघ भी मिलता है, परन्तु इस नामकरण का क्या अभिप्राय था, नहीं कहा जा सकता है। इस यापनीय या गोप्यसंघ में भी एक नन्दिसंघ था।[4] इस सम्प्रदाय के साधुओं का आचार

१– द्र० श्री गणेश प्रसाद जैन लिखित "दक्षिण भारत में जैन धर्म और संस्कृति" लेख। श्रमण, वर्ष २१, अंक १, नवम्बर १९६९, पृ० १८।

२– वही, पृ० १८।

३– जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ की डा० गुलाबचन्द्र चौधरी लिखित प्रस्तावना, पृ० ३७।

४– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६६।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के साधुओं के आचार का मिश्रित रूप था। ये साधु दिगम्बर सम्प्रदाय की तरह निर्वस्त्र रहते थे पर कुछ मान्यतायें स्त्रीमुक्ति, केवलिक-वलाहार आदि श्वेताम्बरों की तरह थी। डा० वाचस्पति गैरोला ने भ्रान्तिवश वादिराजसूरि को यापनीय संघ का मान लिया है।[1] किन्तु वादिराजसूरि इस संघ या सम्प्रदाय के आचार्य नहीं थे। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी द्राविड़ संघ के नन्दि संघ का आधार यापनीय संघ के नन्दि संघ को ही मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि "यापनीय का नन्दिसंघ, जो कि चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक एक संघटित संघ था, को ही आगे चलकर द्राविड़ संघ ने अपना लिया है।[2]" जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि वादिराजसूरि यापनीय सम्प्रदाय के नन्दि संघ के आचार्य न होकर द्राविड़ संघान्तर्गत नन्दिसंघ के आचार्य थे। भले ही द्राविड़ संघ ने यापनीय सम्प्रदाय के नन्दिसंघ को क्यों न अपनाया हो। अतः उन्हें यापनीय सम्प्रदाय का मानना भ्रामक तथा असंगत है। विभिन्न शिलालेखों में उन्हें स्पष्ट रूप से द्राविड़-संघीय नन्दिसंघ की अरुंगल शाखा का आचार्य माना गया है–

"श्रीमद्द्रविडसंघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः ।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारासिपारगैः ॥
एकत्र गुणिनस्सर्वे वादिराज ! त्वमेकतः ।
तस्यैव गौरवं तस्य तुलायामुन्नतिः कथम् ॥"[3]

द्राविड़ संघ की उत्पत्ति :

देवसेनाचार्य ने अपने दर्शनसार में विभिन्न संघों की उत्पत्ति के प्रसंग में द्राविड़ संघ की उत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है–

"श्री पूज्यपादशिष्यो द्राविडसंघस्य कारदो दुष्टः ।
नाम्ना वज्रनन्दि प्राभृतवेदी महासत्त्वः ॥
अप्राशुकचणकानां भक्षणतः वर्जितो मुनीन्द्रैः ।
परिचितं विपरीतं विशोभितं वर्गणं चोद्यम् ॥
वीजेषु नास्ति जीवः उद्भक्षणं नास्ति प्राशुकं नास्ति ।
सावद्यं न खलु मन्यते न गणयति गृहकल्पितमर्थम् ॥

१– संस्कृत साहित्य का इतिहास – वा० गैरोला, पृ० २३३–३४।
२– द्रष्टव्य – जैन शिलालेख, संग्रह भाग ३ की डा० गुलाबचन्द्र चौधरी लिखित प्रस्तावना, पृ० २७।
३– जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २८८।

कच्छं क्षेत्रं वसतिं वाणिज्यं कारयित्वा जीवन् ।
स्नात्वा शीतलनीरे पापं प्रचुरं स संचयति ।।
पञ्चशते षड्विंशति (तमे) विक्रमराज्यस्य मरणप्राप्तस्य ।
दक्षिणमुदराजातो द्राविड़संघो महामोहः ।।"[१]

अर्थात् श्री पूज्यपाद (अपरनाम देवनन्दि) आचार्य का शिष्य दुष्ट वज्रनन्दि द्राविड़ संघ को उत्पन्न करने वाला था। यह प्राभृत ग्रन्थों (समयसार, प्रवचनसार आदि) का ज्ञाता और महान् पराक्रमी था। मुनिराजों ने उसे अप्राशुक-सचित्त चनों के खाने से रोका। विगड़कर उसने विपरीत गर्हित प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों की रचना की। उसकी मान्यतानुसार वीजों में जीव नहीं होता है, मुनियों को खड़े-खड़े भोजन करने की विधि नहीं है। कोई वस्तु प्राशुक नहीं है। वह सावद्य को नहीं मानता था तथा गृहकल्पित अर्थ को भी नहीं गिनता था। कछार, खेत, वसतिका और वाणिज्य आदि कराकर जीवन-निर्वाह करते हुए शीतल जल में नहाकर प्रचुर पाप का संग्रह किया। अर्थात् उसने उपदेश दिया कि मुनिजन खेती करावें, रोजगार करावें, वसतिका वनवावें और शीतल जल में स्नान करें तो भी कोई दोष नहीं है। विक्रमादित्य राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष वीतने पर दक्षिण मदुरा में महामोहरूप द्राविड़ संघ की उत्पत्ति हुई।

पंच जैनाभास और द्राविड़ संघ :

द्राविड़ संघ का उत्पत्ति स्थान मदुरा माना गया है। मदुरा पाण्ड्य राजाओं

१- मूल प्राकृत :

"सिरिपुज्जपादसीसो द्राविडसंघस्स कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ।।
अप्पासुयचयणाणं भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहि ।
परिरइय विवरीयं विसेसियं वग्गणं चोज्जं ।।
वीएसु णत्थि जीवो उब्भसण णत्थि फासुगं णत्थि ।
सावज्जं णहु मण्णइ णगणइ गिहकप्पियं अट्ठं ।।
कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं करिऊण जीवन्तो ।
ण्हन्तो सीयलणीरे पावं पउरं स संजेदि ।।
पच्चसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ।।
—दर्शनसार, गाथा २४-२८ (जैन हितैषी, भाग ३, अंक ५-६, मई जून १६७७ में प्रकाशित)।

की सबसे प्रसिद्ध राजधानी रही है और तमिल संघ का केन्द्र भी ।[1] आचार्य इन्द्रनन्दि ने नीतिसार में द्राविड संघ की गणना पाँच जैनाभासों में की है–

"गोपुच्छिका श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छकश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥"[2]

स्पष्ट है कि आचार्य इन्द्रनन्दि द्राविड़ सम्प्रदाय को जैन न मानकर जैनाभास मान रहे हैं । जान पड़ता है कि यहाँ पाँच संघों या सम्प्रदायों की गणना जैनाभास के रूप में की गई है, उसका प्रमुख कारण मुनियों के आचारशास्त्र के कुछ विरोधी आचरण से है । क्योंकि इस संघ के साधु बीजों के जीव नहीं मानते थे, अप्राशुक–प्राशुक (सचित्ताचित्त) में कोई भेद नहीं करते थे और वसति में रहने, वाणिज्य कराने व शीतल नीर से स्नान करने में मुनियों के लिए कोई पाप नहीं मानते थे ।

वास्तव में यदि विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि द्राविड़ संघ का कोई भी सिद्धान्त जैनागम के विल्कुल प्रतिकूल नहीं है, जिसके कारण उसे जैन न कहकर जैनाभास कहा जाये । और अगर कुछ प्रतिकूलता है भी तो वह तात्कालिक परिस्थितिजन्य है । क्योंकि आजीविका आदि की बात यद्यपि गर्हणीय है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जाने विना उसको सर्वथा अनुचित ही नहीं ठहराया जा सकता है । किन्तु मुनि-परम्परा से थोड़ा भी हटकर चलना उस समय अत्यन्त अनुचित माना जाता था । यही कारण है कि द्राविड़ संघ की गणना जैनाभासों में की गई । अथवा यह भी माना जा सकता है कि संघीय द्वेष के कारण भी मूल संघ के आचार्य देवसेन ने दर्शनसार में ऐसी बातें कह दी हों और इसी आधार पर आगे चलकर द्राविड़ संघ को जैनाभास कह दिया गया हो । क्योंकि द्राविड़ संघ का साहित्य पढ़ने से देवसेनाचार्य द्वारा उल्लिखित सभी मान्यताओं का समर्थन नहीं होता है ।

जन्मभूमि, माता-पिता और गुरु शिष्य :

महाकवि वादिराज ने किस जन्मभूमि को व किस माता-पिता के कुल को अलंकृत किया—इस सम्बन्ध में कोई भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है । यतः आचार्य वादिराजसूरि द्रविड़ संघ के थे, अतः इनके दक्षिणात्य होने की संभावना की जाती है । द्रविड़ देश को वर्तमान आन्ध्र और तमिलनाडु

---

१ श्री डी० जी० महाजन लिखित 'तमिल क्षेत्रीय जैन योगदान' लेख-श्रमण, वर्ष २० अंक ८, जून १९६९, पृ० ८ ।

२– नीतिसारसमुच्चय (संपा०–पं० गौरीलाल) श्लो० १० ।

(प्राचीन नाम मद्रास) का कुछ भाग माना जा सकता है। अनुमान के आधार पर कुछ विद्वानों ने इनका जन्मस्थान तमिलनाडु (दक्षिण-मद्रास) माना है।[1] जन्मभूमि, माता-पिता आदि के बारे में प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी कृति के रचनाकाल, गुरु एवं गुरु के गुरु का उल्लेख उनकी अपनी कृति पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में होने का कारण संदेहास्पद नहीं है। अतः यहाँ पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति के कुछ पद्यों का उल्लेख कर देना समीचीन होगा।

"श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थ-
नित्यावगाहामलवुद्धिसत्त्वैः।
प्रसिद्धभागी मुनिपुंगवेन्द्रैः
श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निर्वर्तितांहाः ॥
तस्मिन्नमूदुद्यतसंयमश्री-
स्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः।
सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः
श्रीपालदेवो नयवर्त्मगामी ॥
तस्याभवत्भव्यपयोरुहाणां
तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः
शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ॥
तत्पादपद्मभ्रमरेणभूम्ना
निश्रेयसश्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निवद्धा
जैनी स्ववुद्धयेयमनिर्दयापि ॥"[2]

श्री वाङ्मयरूपी पुण्यतीर्थ में अवगाहन करने से निर्मल वुद्धिरूपी सत्त्व जिन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसे श्रेष्ठ मुनिवरों द्वारा यह नन्दि संघ प्रसिद्ध हुआ। उस प्रसिद्ध नन्दिसंघ में आश्चर्यजनक संयमरूपी लक्ष्मी के धारक, त्रैविध विद्याधरों द्वारा जिनका यशोगान किया गया है और जो न्यायमार्ग पर चलने वाले थे, ऐसे सिंहपुर में प्रमुख श्रीपालदेव नामक आचार्य थे। भव्यरूपी कमलों के अन्धकार को नष्ट करने वाले,

---

१- द्रष्टव्य : जैनाचार्य (सम्पा०-मोहनलाल शास्त्री), पृ० ६१।

१- पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य १-४।

नित्य उदीयमान लक्ष्मीं वाले तथा कुमार्गरूपी नये प्रभाव का निषेध करने वाले मति-सागर नामक सर्वश्रेष्ठ प्रधान शिष्य हुए। उनके चरणकमलों का भ्रमरस्वरूप अर्थात् शिष्य और मोक्षरूपी लक्ष्मी के अभिलाषी वादिराज ने इस दोषरहित जैनी कथा की स्वयं अपनी वुद्धि के अनुसार रचना की।

इन प्रशस्ति पद्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि सिंहपुर के प्रधान श्रीपाल-देव वादिराजसूरि के गुरु के गुरु थे और श्रीपालदेव के शिष्य श्रीमतिसागर उनके गुरु थे।

यशस्तिलकचम्पू के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने वादिराज और वादीभसिंह को सोमदेवाचार्य का शिष्य वतलाते हुए लिखा है कि—'स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः ।' वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः, वादिराजोऽपि मदीय-शिष्य' इत्युक्तत्वात्।[1] इसके पूर्व श्रुतसागर सूरि ने 'उक्तं च वादिराजेन' कहकर एक पद्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

"कर्मणा कवलितोऽजनि सोऽजा तत्पुरान्तरजनांगमवाटे ।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीवः ॥"[2]

यह श्लोक वादिराजसूरि के किसी भी ग्रन्थ मे नहीं मिलता है। और न ही उपलब्ध अन्य वादिराजकृत ग्रन्थों में भी। अतः यह वादिराज कोई दूसरे ही होना चाहिये। सोमदेवसूरि के नाम से उल्लिखित 'वादीभसिंहोऽपि मदीय शिष्यः, वादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' वाक्य का उल्लेख भी उनके किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। अद्यावधि सोमदेवाचार्य की यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृत और अध्यात्म-तरंगिणी (योगमार्ग) ये तीन रचनायें उपलब्ध हैं। इन तीनों ही रचनाओं में उक्त वाक्य का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः पार्श्वनाथचरितादि ग्रन्थों के रचयिता वादिराज का सोमदेवाचार्य का शिष्य होना कथमपि संगत नहीं माना जा सकता है। यशस्तिलकचम्पू का रचनाकाल चैत्रशुक्ला त्रयोदशी शक सं० ८८१ (९५९ ई०) है।[3] जवकि वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित का प्रणयनकाल शक सं० ९४७ (१०२५ ई०) है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के रचनाकाल में ६६ वर्षों का दीर्घकालीन

१- यशस्तिलकचम्पू (सम्पा०-सुन्दरलाल शास्त्री), श्रुतसागरी टीका द्वितीय आश्वास, पृ० २६५।

२- वही, पृ० २६५।

३- 'शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः सिद्धार्थसंवत्सरा-न्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्याम्... ' —यशस्तिलकचम्पू, पृ० ४८१।

अन्तर है। वादिराज की यशोधरचरितादि रचनायें तो पार्श्वनाथचरित के बाद की हैं। अतः ६६ वर्ष या उससे भी अधिक का कालगत अन्तर भी सोमदेवाचार्य और वादिराज के गुरु-शिष्य होने में बाधक है।

गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह के गुरु का नाम पुष्पसेन निर्दिष्ट है। वादिराजसूरि ने न्यायनिश्चयविवरण[1] और पार्श्वनाथचरित[2] की प्रशस्ति में अपने गुरु का नाम मतिसागर बतलाया है। श्री पन्नालाल जैन ने वादीभसिंह और वादिराज की सोमदेवाचार्य की शिष्यता का खण्डन करते हुए लिखा है कि—"श्रुतसागरसूरि के यशस्तिलक चम्पू के टीका वाले उद्धरण का जब तक कहीं अन्य स्थलों से समर्थन नहीं होता, तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं लिया जा सकता है। न्यायविनिश्चयालंकार की प्रशस्ति में वादिराज ने अपने गुरु का नाम मतिसागर बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पसेन का स्मरण करते हैं, तब सोमदेव की शिष्यता निर्भ्रान्त कैसे हो सकती है।"[3]

शाकटायन व्याकरण की टीका 'रूपसिद्धि' के रचयिता श्री दयापाल मुनि वादिराज के सतीर्थ (सहपाठी या सधर्मा) थे। मल्लिषेण प्रशस्ति में रूपसिद्धि के रचयिता के रूप में दयापाल मुनि का उल्लेख किया गया है:—

"हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सतां मूर्धनि यः प्रभावैः॥"[4]

हुम्मच में प्राप्त शिलालेखों में द्राविड़ संघ के आचार्यों का परिचय मिलता है। वहाँ वादिराज के सतीर्थों में दयापाल मुनि के अतिरिक्त पुष्पसेन और श्रीविजय (पण्डित पारिजात) का भी नाम आया है। श्रीविजय की तो एक पद्य में प्रशंसा भी की गई है—

यद्विद्यातापसोः प्रशस्तमुभयं श्रीहेमसेने मुनौ
प्रागासीत्सुचिराभियोगबलतो नीतं परामुन्नतिम्।

१– "श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः॥
—न्यायविनिश्चयविवरण, प्रशस्ति पद्य ५।

२– पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ४।

३– गद्यचिन्तामणि, श्री पन्नालाल जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० १७।

४– जैन शिलालेख, संग्रह भाग १, लेखांक ५४, पद्य ३८।

प्राय: श्रीविजयेतदेतदखिलं तत्पीठिकायां स्थिते
संक्रान्त: कथमन्यथानतिचिराद् विद्येशीदृक् तप: ॥

उक्त शिलालेखों में वादिराज, दयापालमुनि, पुष्पसेन और श्रीविजय (पण्डित पारिजात) चारों को कनकसेन वादिराज अपरनाम हेमसेन का शिष्य बतलाया गया है।[1] हुम्मच के इन शिलालेखों में द्राविड़ संघ के कुछ आचार्यों की परम्परा इस प्रकार दी गई है—

मौनिदेव
|
विमलचन्द्र भट्टारक
|
कनकसेन वादिराज (हेमसेन

दयापाल (रूपसिद्धि के कर्त्ता)	पुष्पसेन	वादिराज (षट्तर्कषण्मुख, जगदेकमल्लवादि)	श्रीविजय (पण्डित पारिजात)

पुष्पसेन
|
गुणसेन[2]

श्रेयांसदेव	कमलभद्र	अजितसेन (वादीभसिंह)	कुमारसेन

अब प्रश्न उठता है कि वादिराज के गुरु का नाम मतिसागर निर्दिष्ट है और जहाँ उनके गुरु का नाम कनकसेन वादिराज (हेमसेन) कहा है इसकी संगति कैसे मानी जा सकती है। इसका समाधान यही किया जा सकता है कि मतिसागर वादिराज के दीक्षागुरु रहे हों और कनकसेन वादिराज (हेमसेन) उनके विद्यागुरु।

१– जैन शिलालेख, संग्रह भाग २, लेखांक २१३–२१६।
२– जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, की डा० गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ३८।

इस आधार पर दयापालमुनि, पुष्पसेन और श्रीविजय (पण्डितपारिजात) का वादिराज का सहपाठी होना भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि श्रीविजय हेमसेन मुनि के पद पर बैठे थे।[1]

अन्यत्र हुम्मच में पार्श्वनाथवसति के एक शिलालेख में वादिराज के शिष्य का नाम पुष्पसेन बताया गया है--

"तर्कव्याकरणाब्धिमस्खलमतिज्ञानेन यः पप्लुने
श्रीनन्द्यान्वयराजभूषणमणिः श्रीवादिराजो मुनिः।
तच्छिष्यः परवादिपर्वतपविः साहित्यरत्नाकरः
जीयाद् द्राविडजैनसंघतिलकः श्रीपुष्पसेनो मुनि ॥"[2]

इसका एक ही समाधान माना जा सकता है कि या तो इस शिलालेख में वादिराज मुनि कनकसेन वादिराज (हेमसेन) के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो कि पुष्पसेन वादिराज, दयापाल और श्रीविजय के गुरु उल्लिखित किए गए हैं। अथवा फिर यह भी माना जा सकता है कि पहले पुष्पसेन वादिराज के सतीर्थ रहे हों और बाद में पुष्पसेन ने वादिराज को अपना गुरु मान लिया हो। इस प्रकार पुष्पसेन का वादिराज का शिष्य होना भी माना जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि एक ही नाम के अनेक विद्वान् होने के कारण इस तरह की भ्रान्तियाँ प्रायः हो जाती हैं।

वादिराज नाम या उपाधि :

वादिराज कवि का का असली नाम था या कोई उपाधि? यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि जिस प्रकार यशस्तिलकचम्पू के रचयिता का असली नाम तो अजितसेन था, पर वे वादीभसिंह इस उपाधि के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। उसी प्रकार वादिराज का असली नाम तो कुछ और ही रहा होगा[3]। कालान्तर में वे वादिराज नाम से प्रसिद्ध हो गये और उनका असली नाम लुप्तप्राय हो गया। टी० ए० गोपीनाथराव ने वादिराज का वास्तविक नाम कनकसेन वादिराज माना है।[4] इसका कारण यह हो सकता है कि कीथ, विन्टरनित्ज आदि कुछ पाश्चात्य इतिहासज्ञों ने कनकसेन वादिराज कृत २९६ पद्यात्मक तथा ४

१- द्रष्टव्य-जैन हितैषी, भाग ८, अंक ११ में श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित —'वादिराजसूरि' लेख, पृ० ५११।

२- जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेखांक ५०३।

३- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७८।

४- इन्ट्रोडक्शन टू यशोधरचरित, पृ० ५।

सर्गात्मक यशोधरचरित नामक काव्य का उल्लेख किया है।[1] किन्तु उक्त पाश्चात्य इतिहासज्ञों ने संभवतः प्रमादवश वादिराज की जगह कनकसेनवादिराज लिखने की भूल की है। क्योंकि विभिन्न शिलालेखों में द्राविड़ संघ के आचार्यों का निर्देश करते हुए कनकसेन वादिराज और वादिराज को अलग-अलग आचार्य निर्दिष्ट किया गया है।[2] दूसरी बात यह भी है कि कनकसेन वादिराज के गुरु का नाम श्रीपालयोगीन्द्र बतलाया गया है[3], जबकि वादिराज के गुरु का नाम सर्वत्र मतिसागर निर्दिष्ट है। एक अन्य शिलालेख में स्पष्ट रूप से वादिराज का दूसरा नाम कनकसेन बतलाया गया है --

"द्रमिलगणद नन्दिसंघदरुंगलान्वयद श्रीवादिराजापरनामधेयश्रीमत्कनसेन-पण्डितदेव ... ।[4]

यह शिलालेख शक सं० ९९९ (१०७७ ई०) का उत्कीर्ण है। किन्तु ये वादिराज प्रकृत वादिराज से भिन्न, श्रीपाल योगीन्द्र के शिष्य कनकसेन वादिराज ही होना चाहिए। संभवतः ये कनकसेन वादिराज (हेमसेन) वादिराज के विद्यागुरु भी थे। अतः स्पष्ट है कि वादिराज सूरि का नाम कनकसेन वादिराज मानने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

डा० नेमिचन्द्रशास्त्री ने वादिराज का नाम कनकसेन होने के संबंध में शंका व्यक्त करते हुए लिखा है कि—"ऐतिहासिक शोध और खोज के आधार पर कुछ विद्वानों ने कवि का नाम कनकसेन बतलाया है। पर सबल तर्कों से इसकी सिद्धि नहीं हो पाती। अतः अभी तक उक्त तथ्य मान्य नहीं हो सका है।[5] इसी प्रकार पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कनकसेन-वादिराज को पार्श्वनाथचरितादि के रचयिता वादिराज से भिन्न माना है।[6]

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास (मूल-कीथ, अनु० मंगलदेवशास्त्री), पृ० १७७। एवं जैनिज्म इन दी हिस्ट्री आफ इन्डियन लिट्रेचर—एम० विन्टरनिज, संपा०-जिनविजयमुनि, पृ० १६।
२- जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेखांक ४९३।
३- जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक ४९३, ४९५।
४- वही, भाग २, लेखांक २१६।
५- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ८९।
६- द्रष्टव्य-श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित "वादिराज और वादीभसिंह" —लेख, जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष २३ किरण, १ (वि० सं० २४६०)।

एक अन्य शिलालेख में जगदेकमल्ल वादिराज का नाम वर्धमान कहा गया है।[1] जगदेकमल्ल प्रकृत वादिराज की उपाधि है। अतः इस उल्लेख के आधार पर वादिराज का नाम वर्धमान होने की संभावना की जाती है। वादिराजसूरि द्वारा विरचित एकीभावस्तोत्र (कल्याणकल्पद्रुम) पर नागेन्द्रसूरि विरचित एक टीका उपलब्ध होती है। टीकाकार ने प्रारम्भिक प्रतिज्ञा वाक्य में स्पष्ट रूप से वादिराज का दूसरा नाम वर्धमान लिखा है—

"श्रीमदवादिराजापरनामवर्धमानमुनीश्वरविरचितस्य परमाप्तस्तवस्यातिगहनगंभीरस्य सुखाववोधार्थं भव्यासु जिघृक्षापारतन्त्रैर्ज्ञानभूषणभट्टारकैः्परद्धो नागचन्द्रसूरिर्यथाशक्ति छायामात्रमिदं निवन्धनमभिधत्ते" किन्तु यह टीका अत्यन्त अर्वाचीन है। टीका की एक प्रति झाल्लरापाटन के पन्नालाल सरस्वती भवन में है।[3] यह प्रति सं० १६७६ (१६१९ ई०) फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मण्डुलाचार्य यशःकीर्ति के शिष्य ब्रह्मदास ने वैंराढ नामक नगर में आत्मपठनार्थ लिखी थी। इस वात का उल्लेख लेखक ने स्वयं किया है।[4] संभव है दीक्षा के वाद का उनका नाम वर्धमान रहा हो। किन्तु वादिराज नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाने से प्रचलित हो गया है। दीक्षा के वाद नाम परिवर्तन की परम्परा जैन सम्प्रदाय में है। जो कुछ भी कहा जाय, पर सव संभावनामूलक है। अतः कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वादिराज ने स्वयं पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति[5] और यशोधरचरित[6] में अपना नाम वादिराज ही कहा है। अतः नामों के झमेले में न पड़कर इनका वास्तविक नाम वादिराज ही स्वीकार करना चाहिए।

१– "श्रीवर्धमानगजदेकमल्लवादिराजदेवरु ·····।"

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेखांक ३४७।

२– "कल्याणकल्पद्रुम" की श्री जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ६।

३– वही, पृ० ७।

४– "सम्वत् १६७६ वर्षे मिती फाल्गुण सुदि ८ शुभदिने श्रीमदुत्तमवैराढनगरे श्रीमन्मण्डलाचार्य श्री १०८ यशःकीर्ति तच्छिष्येणेदं ब्रह्मदासेन स्वहस्तेन आत्मपठनार्थं लिखितमस्ति।"

५– "वादिराजेन कथा निवद्धा जैनी स्ववुद्धयेयमनिंदयापि।"

—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ४।

६– "तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरीकथा।—यशोधरचरित १।६।

समय एवं स्थान

वादिराजसूरि के समय दक्षिण में चालुक्य-नरेश जयसिंह का शासन था। इनके राज्यकाल की सीमायें १०१६–१७–१०४२ ई० (शक सं० ९३८–९६४) मानी जाती हैं।[१] क्योंकि इनके राज्यकाल से संबंधित अनेक शिलालेख प्राप्त होते हैं, जिनका काल उक्त अवधि का है। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने जयसिंह का काल १०१५ ई० से १०४२ ई० तक माना है,[२] जो उक्त काल का ही समर्थन करता है फादर हराश व श्री गुजर द्वारा निर्मित कल्याणी के चालुक्य वंश की वंशावली में जयसिंह (तृतीय) का समय १०१७ ई०–१०४३ ई० माना है।[३] जगदेकमल्ल जयसिंह की उपाधि हैं।[४] इसके अतिरिक्त विभिन्न शिलालेखों में उन्हें पृथिवीवल्लभ, महाराज-धिराज, परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर और परमभट्टारक आदि उपाधियों के साथ उल्लिखित किया गया है।

महाकवि विल्हण नें चालुक्य वंश की उत्पत्ति दैत्यों के नाश के लिए ब्रह्मा चुलुका (चुल्लू) से बताई है। उन्होंने चालुक्य वंश की परम्परा का प्रारम्भ हारीत से करते हुए उनकी वंशावली का निर्देश इस प्रकार किया है— मानव्य 7 तैलप 7 सत्याश्रय 7 जयसिंहदेव।[५] जयसिंहदेव के उत्तराधिकारी आहवमल्ल द्वारा अपनी राजधानी कल्याणनगर बसाकर उसे बनाने का उल्लेख विक्रमांकदेवचरित में किया

१– द्रष्टव्य–विक्रमांकदेवचरित, द्वितीय भाग, परिशिष्ट द्र० 'चालुक्यवंशावली'।

२– जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, की डा० गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा लिखित प्रस्ता-वना, पृ० ८८।

३– द्रष्टव्य—विक्रमांकदेवचरित, भाग २, संलग्न परिशिष्ट 'कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यवंश की वंशावली'।

४– "यस्याखिलव्यापि यशोऽवदातमकाण्डदुग्धाम्बुधिवृद्धिशंकाम्।
करोतिमुग्धामरसुन्दरीणामभूत्स भूयो जगदेकमल्लः ॥
सदावनस्थः पटुविक्रमाढ्यो मदान्दगन्धेभघटाविपाटी।
धरोर्जितप्रस्फुरितप्रभासेरराज योऽसौ जयसिंहराजः ॥"
—एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२ (विक्रमांकदेवचरित, भाग ३, परिशिष्ट 'ग' से उद्धृत)।

५– विक्रमांकदेवचरित, १।५८–७९।

गया है।[१] जिससे स्पष्ट होता है कि उनके पूर्व शासक जयसिंह की राजधानी अन्यत्र थी।

जयसिंह के शासन काल और उनकी राजधानी में ही वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित, न्यायविनिश्चयविवरण, यशोधरचरित आदि ग्रन्थों की रचना की थी। वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित, न्यायविनिश्चयविवरण, यशोधरचरित आदि ग्रंथों की रचना की थी। वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में महाराज जयसिंह की राजधानी को लक्ष्मी का निवास कहा है—

"लक्ष्मीवासे वसतिकटके कट्टगातीरभूमौ (कट्टगेरीतिभूमौ)
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यन्दसिंधुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥"[२]

इस प्रशस्ति पद्य में महाराज जयसिंह की राजधानी को "कट्टगातीर भूमौ" कहकर उसे कट्टगा नदी के किनारे स्थित बतलाया गया है। किन्तु विद्वानों की अत्यन्त खोज और शोध के बाद भी यह पता नहीं चल सका कि यह कट्टगा नदी कहाँ है। इस संबंध में श्री नाथूराम प्रेमी का कथन है कि जहाँ मुद्रित प्रति में "कट्टगातीरभूमौ" छपा है, वहाँ पर "कट्टगेरीति भूमौ" होना चाहिए।[३] इस प्रकार उनकी राजधानी कट्टगा नदी के किनारे न होकर कट्टगेरी नामक स्थान में मानी जा सकती है। यह स्थान वर्तमान में बदामी (बादामी)[४] से १२ मील उत्तर की तरफ है। यह पुराना शहर है और इसके चारों ओर शहर-पनाह के चिह्न मौजूद हैं।[५] श्री प्रेमी जी ने लिखा है कि 'हमारा अनुमान है कि शुद्ध पाठ "कट्टगेरीति भूमौ" होगा, जो उत्तरभारत के अर्धदग्ध लेखकों की कृपा से "कट्टगातीरभूमौ" बन गया है। उन्हें क्या पता कि कट्टगेरी जैसा अड़बड़ नाम भी किसी राजधानी का हो सकता है?

१- वही, २।१।

२- पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५।

३- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९९।

४- बदामी एक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ सप्तम शताब्दी में निर्मित १६ फुट गहरी और ३१ × १९ फुट लम्बी चौड़ी एक जैन गुफा हैं। कहा जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष ने राज्य त्यागकर जैन दीक्षा ली थी और यहीं निवास किया था।

५- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९९।

जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर या आहवमल्ल ने कल्याण नामक नगरी बसाई और वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की। इसका उल्लेख विक्रमांकदेवचरित में किया गया है। कल्याण का नाम इसके पहले के किसी भी शिलालेख या ताम्रपत्र में उपलब्ध नहीं हुआ है। अतएव इसके पहले चालुक्यों की राजधानी कट्टगेरी में रही होगी। इस स्थान में चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि) का ई० सं० १०६८ का कन्नड़ी शिलालेख भी मिला है, जिससे उसका चालुक्य राज्य के अन्तर्गत होना स्पष्ट होता है। कट्टगा नाम की कोई नदी उस तरफ नहीं है।[१]

पार्श्वनाथचरित के अतिरिक्त न्यायविनिश्चयविवरण एवं यशोधरचरित की रचना भी जयसिंह की राजधानी में ही सम्पन्न हुई थी। न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति के निम्नलिखित श्लोक से निश्चित होता है कि इसकी रचना उनकी राजधानी में ही हुई—

"श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति—
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥[२]"

यशोधरचरित में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने इसकी रचना जयसिंह की राजधानी और उनके राज्यकाल में की थी। किन्तु यशोधरचरित में जयसिंह के नामोल्लेख के साथ ऐसा संकेत कर दिया गया है। यशोधरचरित के अधोलिखित पद्यों से यह स्पष्ट हो जाता है—

"कुर्वन् कार्यबृहस्पतिप्रभृतिभिः संदर्शितं मन्त्रिभिः
संतृप्यन्नमृतेन क्लृप्तविधिना श्रीवैद्यविद्यार्णवैः ॥
व्यातन्वञ्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्।
राजा सोऽपि यशोमतिः प्रविलसत्साम्राज्यलक्ष्मीपतिः ॥"[३]

"गुरुषु निवयवृत्ति बन्धुषु प्रेमबन्धं
रिपुषु करकृपाणं दर्शयन्नाहवेषु।
अधिगतनयसिंधु सत्यसन्धः स राजा
रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार ॥"[४]

१- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९९–४०० ।
२– न्यायविनिश्चयविवरण, प्रशस्ति पद्य ५ ।
३– यशोधरचरित ३।८३।
४– यशोधरचरित ४।७३।

उक्त पद्यों में बड़े ही कौशल के साथ वादिराज ने जयसिंह का नामोल्लेख कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि यशोधरचरित की रचना भी जयसिंह के राज्यकाल में हुई थी।

किसी भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण द्वारा वादिराज का जन्मकाल ज्ञात नहीं हो सका है। परन्तु, चूंकि उन्होंने अपने पार्श्वनाथचरित की रचना शक सं० ९४७ क्रोधन संवत्सर में कार्तिकशुक्ला तृतीया को की थी,[१] अतः वादिराजसूरि का जन्मकाल करीब ३०–४० वर्ष पूर्व मानकर शक सं० ९०७-९१७ (९८५–९५ ई०) के आसपास माना जा सकता है। पंचवस्ति के शिलालेख जो कि ११४७ ई० का उत्कीर्ण है, में वादिराज को गंगवंशीय राजा राजमल्ल (चतुर्थ) सत्पवाक् का गुरु बताया गया है। यह राजा ९७७ ई० में गद्दी पर बैठा था तथा समरकेशरी चामुण्डराय जैन, इसका मन्त्री था।[२] चामुण्डराय बड़े शक्तिशाली थे। वे सेनापति होने पर भी राजा कहलाते थे तथा जैन धर्म के प्रसिद्ध भक्त थे।[३] ऐसा मानने पर वादिराज का समय ९७७ ई० के पूर्व ठहरता है। जो कुछ भी हो, पर उनका समय ९५० ई० से १०५० ई० के मध्य मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पार्श्वनाथचरित का प्रणयन सिंहचक्रेश्वर या चालुक्यचक्रवर्ती जयसिंहदेव की राजधानी में शक सं० ९६४ में लिखा है।[४] उनका यह लिखना असंगत है। क्योंकि पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में काल का स्पष्ट उल्लेख "शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने' कहकर किया गया है। इसकी अंक गणना नग-सात, वार्धि-चार तथा रन्ध्र-नौ स्वीकृत हैं। अतएव सदेह का कोई स्थान ही नहीं रहता। "अंकाना वामा गतिः" इस नियम के अनुसार ७४९ का विपरीत करने पर ९४७ आता

१– "शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥"

—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५।

२– एकीभावस्तोत्र, श्री परमानंद जैन शास्त्री लिखित प्रस्तावना, पृ० ४।

३– द्रष्टव्य—श्रीनाथूराम प्रेमी का 'वादिराजसूरि' लेख, जैन हितैषी भाग ८ अंक ११, पृ० ५११।

४– संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, प्रथम भाग काव्य खण्ड पंचम परिच्छेद, पृ० २४५।

है। यही शक सं० ९४७ पार्श्वनाथचरित का प्रणयन काल है।

एक और विचित्र बात देखने में आई कि डा० हीरालाल जैन जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वादिराज को कहीं दसवीं, ग्यारहवीं और कहीं-कहीं तेरहवीं शती तक में पहुंचा दिया है। डा० जैन यशोधरचरित से संबद्ध काव्यों पर विचार करते हुए लिखते हैं कि– "इसी कथानक पर वादिराजसूरि कृत यशोधरचरित (१०वीं शती) चार सर्गात्मक काव्य ·· ········· ।"[1] वादिराजसूरि के एकीभावस्तोत्र का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि– "वादिराज (११वीं शती) कृत एकीभावस्तोत्र में २६ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द के हैं।[2]" आगे फिर उन्हें ११वीं शती में ही रखते हुए डा० जैन कहते हैं– "मूल सूत्रों पर लघु कौमुदी के समान एक छोटी टीका दयापालमुनि कृत रूपसिद्धि है। कर्ता के गुरु मतिसागर पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिराजसूरि के समसामयिक होने के कारण ११वीं शती के सिद्ध होते हैं।"[3] स्पष्ट है डा० जैन वादिराजसूरि को १०-११वीं शताब्दी का ही मानते हैं। परन्तु पता नहीं कैसे डा० जैन ने एक स्थल पर अकलंक के न्यायविनिश्चय पर विचार करते हुए उसकी विवरण टीका के रचयिता वादिराज सूरि को तेरहवीं शती का लिख दिया है। उन्होंने लिखा है 'अकलंक की दूसरी रचना न्यायविनिश्चय है और उस पर भी लेखक ने स्वयं एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतन्त्र प्रति प्राप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (१३वीं शती) द्वारा रचित विवरण नाम्नी टीका पर से किया गया है।[4]"

स्पष्ट है कि वादिराजसूरि का तेरहवीं शती में लिखा जाना या तो मुद्रण दोष है अथवा फिर डा० जैन ने काल निर्धारण में पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति का उपयोग नहीं किया है और फलतः एक ही व्यक्ति को १०वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक स्थापित करने का विचित्र प्रयास किया है।

कृतियां

वादिराजसूरि बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। न्याय और साहित्य, दोनों ही के क्षेत्र में उनकी लेखनी निर्बाध चली है। अद्यावधि वादिराजसूरि की

१– भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १७१।

२– वही, पृ० १२६।

३– वही, पृ० १८८।

४– भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ८६।

पाँच असंदिग्ध कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१- पार्श्वनाथचरित
२- यशोधरचरित
३- एकीभावस्तोत्र
४- न्यायविनिश्चयविवरण और
५- प्रमाणनिर्णय।

उक्त पाँच कृतियों के अतिरिक्त श्री अगरचन्द नाहटा ने उनकी त्रैलोक्य दीपिका ओर अध्यात्माष्टक नामक दो कृतियों का और उल्लेख किया है।[1]

श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने एक लेख में उनके काकुत्स्थचरित नामक काव्य का उल्लेख किया था।[2] उनकी इस मान्यता का आधार था, वादिराजसूरि के यशोधरचरित का निम्नलिखित पद्य—

"श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा ॥[3]"

श्री प्रेमी जी ने पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित पद से भ्रान्तिवश पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थचरित नामक दो काव्य होने की संभावना की थी। किन्तु यहाँ एक वचन का निर्देश 'पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित" नामक एक ही काव्य होने की पुष्टि करता है। यदि पृथक्-पृथक् दो काव्य होते तो अवश्य द्विवचनान्त प्रयोग किया जाता। प्रेमी जी की उक्त भूल को परवर्ती लेखक आँख बन्द करके दुहराते रहे। श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने वादिराजसूरिकृत काकुत्स्थचरित का उल्लेख करते हुए लिखा है - "नाम से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ में संभवतः रामचन्द्रजी का चरित वर्णित होगा। क्योंकि काकुत्स्थ शब्द रामचन्द्र और रघुवंश के लिए भी आता है।[4] उन्होंने यशोधरचरित के उक्त श्लोक को ही प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[5] बाद

१- द्रष्टव्य—श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित "जैन साहित्य का विकास" लेख, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण १, जून ४६, पृ० २८।

२- द्रष्टव्य—श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित "वादिराजसूरि" लेख, जैन हितैषी, भाग ८ अंक ११, पृ० ५०६।

३- यशोधरचरित १।६।

४- एकीभावस्तोत्र, प्रस्तावना, पृ० १२-१३।

५- वही, पृ० १३।

में श्री प्रेमी जी ने अपनी भूल को स्वयं स्वीकार करते हुए उक्त श्लोक में आये काकुत्स्थ पद को पार्श्वनाथ भगवान् के वंश का परिचायक माना है।[1] अतः काकुत्स्थ-चरित पृथक् काव्य नहीं है। पार्श्वनाथचरित का ही नाम यशोधरचरित में पार्श्व-नाथकाकुत्स्थचरित उल्लिखित किया गया है। त्रैलोक्यदीपिका और अध्यात्माष्टक ये दो कृतियाँ संदिग्ध हैं।

विद्वद्रत्नमाला में प्रकाशित अपने लेख में श्री नाथूराम प्रेमी ने एक सूचीपत्र के आधार पर वादिराजकृत चार ग्रन्थों–वादमंजरी, धर्मरत्नाकर रुकमणियशोविजय और अकलंकाष्टक टीका का उल्लेख किया है।[2] किन्तु मात्र सूचीपत्र को दृष्टि में रखकर, बिना किसी अन्य तथ्यों के प्राप्त हुए, इनके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि ये वादिराज के ग्रन्थ हैं। क्योंकि संस्कृत साहित्य के इतिहास में अनेक वादिराज नामधारी विद्वान् मिलते हैं। अब यहाँ संक्षेप में वादिराजसूरिकृत रचनाओं का परिचय प्रस्तुत है।

१– पार्श्वनाथचरित[3]

यह पार्श्वनाथ विषयक संस्कृत चरितकाव्यों में प्रथम काव्य है। पार्श्वनाथ-चरित की सर्गान्त पुष्पिका में इसका नाम पार्श्वनाथ जिनेश्वरचरित[4] और यशोधर-चरित में काकुत्स्थचरित[5] कहा गया है। इस महाकाव्य में बारह सर्ग हैं। सर्गों का विभाजन और नामकरण कथावस्तु के आधार पर इस प्रकार किया है—

१– अरविन्द महाराजसंग्रामविजयः
२– स्वयंप्रभागमनम्
३– वज्रघोषस्वर्गगमनम्
४– वज्रनाभचक्रवर्तिप्रादुर्भावः
५– वज्रनाभचक्रवर्तिचक्रप्रादुर्भावः
६– वज्रनाभचक्रवर्तिप्रबोधः

१– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०३, पाद टिप्पणी २।
२– द्रष्टव्य—पार्श्वनाथचरित में वादिराजसूरि का परिचय, विद्वद्रत्नमाला में प्रकाशित नाथूराम प्रेमी का हिन्दी लेख का संस्कृतानुवाद।
३– माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई से वी० नि० सं० २४९२ (विक्रमाब्द १९७३) में प्रकाशित।
४– द्रष्टव्य—पार्श्वनाथचरित, सर्गान्त पुष्पिका।
५– यशोधरचरित, १।६।

७– वज्रनाभचक्रवर्तिदिग्विजय:
८– आनन्दराज्याभिनन्दनम्
९– दिग्देविपरिचरणम्
१०– कुमारचरितम्
११– केवलज्ञानप्रादुर्भाव:
१२– भगवन्निर्वाणगमनम् ।

द्वादश सर्गात्मक इस महाकाव्य में क्रमश: ११५, १२३, १२४, १४२, ११२, १४१, १६२, १०३, ९६, ८९, ८८ और ६३ श्लोक हैं । जिनरत्नकोश में पार्श्वनाथ चरित का परिचय पार्श्वनाथपुराण नाम से दिया गया है ।[1]

पार्श्वनाथचरित में कवि ने मंगलाचरण में अनेक कवियों और आचार्यों का उल्लेख किया है, जो कालानुक्रमिक जान पड़ता है । अत: ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है । उल्लिखित कवियों और आचार्यों पर आगे स्वतंत्र विचार किया गया है ।

पार्श्वनाथचरित की रचना १०२५ ई० में चालुक्यचक्रवर्ती महाराज जयसिंह की राजधानी में की गई थी । इसका प्रधानरस शान्त है, पर अंग रसों के रूप में अन्य सभी रसों का प्रयोग किया गया है । इसमें विभिन्न अलंकारों और छन्दों का प्रयोग किया गया है । इस काव्य में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित होते हैं। शोध का मुख्य विषय होने के कारण विशेष वर्णन स्वतंत्र रूप से आगे किया जायेगा, अत: यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है । डा० मंगलदेवशास्त्री और श्री कामताप्रसाद जैन ने पार्श्वनाथचरित की गणना उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्यों में की है ।[2]

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में आचार्य शुभचन्द्र ने पार्श्वनाथचरित पर टीका लिखने का उल्लेख किया है । टीका का नाम पंजिका था । उन्होंने यह पंजिका भट्टारक श्रीभूषण के अनुरोध पर लिखी थी और इसकी प्रथम प्रति श्रीपाल वर्णी ने तैयार की थी ।[3] किन्तु यह पंजिका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है । श्री नाथूराम प्रेमी

१– जिनरत्नकोश, पृ० २४६ ।

२– द्रष्टव्य—डा० मंगलदेवशास्त्री द्वारा लिखित "संस्कृत साहित्य के विकास में जैन विद्वानों का योगदान" लेख, वर्णी अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ३१४ एवम् श्री कामताप्रसाद जैन द्वारा लिखित "जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री" लेख, प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० २४६ ।

३– द्रष्टव्य—जिनरत्नकोश, पृ० २४६ ।

ने इसका स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी के ग्रन्थभण्डार में होने का उल्लेख किया है।[1]

२- यशोधरचरित

यह चार सर्गात्मक काव्य है। यद्यपि कवि ने सर्गान्त पुष्पिका में इसे महाकाव्य कहा है[2], परन्तु वस्तुतः यह खण्डकाव्य है। इसके प्रत्येक सर्ग में क्रमशः ६२,७५, ८३ और ७४ पद्य हैं। डा० कीथ और विन्टरनित्ज् ने २९४ पद्यात्मक जिस यशोधरचरित का उल्लेख कनकसेन वादिराजकृत होने का किया है, वस्तुतः वह यही है। कनकसेन वादिराज नाम भ्रान्ति से लिखा गया जान पड़ता है यह काव्य हिंसा का दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखाने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है।

प्रथम सर्ग : यौधेय देश की राजधानी राजपुर नगर में दक्षिण की ओर चण्डमारी नामक देवी का स्थान था। यहाँ पर अकाल या महामारी आदि रोगों के समय नरबलि देना आवश्यक माना जाता था। एक बार वहाँ का राजा बलि देने के लिए देवी के मन्दिर में पहुंचा। उसकी आज्ञा से चण्डकर्मा अभयरुचि और अभयमति नामक एक क्षुल्लक, क्षुल्लिका को पकड़ लाया। राजा ने उनका परिचयादि कुछ प्रश्न पूंछे। बड़ी ही स्पष्टता के साथ उन दोनों ने अपनी जानकारी दे दी। राजा ने उनकी स्पष्टवादिता को देखकर उनके विशेष वृत्तान्त को जानना चाहा। राजा के पूछने पर उन दोनों ने अपना परिचय देना प्रारम्भ किया।

द्वितीय सर्ग : अवन्ती देश के महाराजा यशोध और उनकी महारानी चन्द्रावती से यशोधर नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे वह यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। उसका विवाह यथासमय अमृतमती के साथ कर दिया गया। यशोधर और अमृतमती से कुछ समय बाद एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम यशोमति रखा गया। यशोध के तपस्वी हो जाने पर उसका पुत्र यशोधर राजा बना। एक दिन राजा यशोधर ने अपनी रानी को एक कुबड़े महावत के साथ रति करते देखा। उसका हृदय ग्लानि और विरक्ति से भर गया। उदासीन होकर वह अपनी माता के पास पहुंचा।

तृतीय सर्ग : उदासीन पुत्र को देखकर माता ने बलि की सलाह दी। निषेध करने पर आटे की मुर्गी बनाकर बलि देना निश्चित किया गया। यशोधर का विरक्त

१- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३३ की पाद टिप्पणी।

२- इति वादिराजविरचिते यशोधरचरिते महाकाव्ये ......- सर्गः।
—यशोधरचरित, सर्गान्त पुष्पिका।

चित्त यह सब देखकर दीक्षा को तत्पर हो गया। इसी बीच उसकी पत्नी ने उसे और उसकी माता को विष देकर मार डाला।

चतुर्थ सर्ग : वे माँ और बेटे यशोमति रानी के गर्भ से बहिन-भाई के रूप में उत्पन्न हुए। आखेट के समय जब यशोमति ने एक ऋषि से यह वृत्तान्त सुना तो उसे वैराग्य हो गया। उसके साथ पुत्र-पुत्री ने भी क्षुल्लक-क्षुल्लिका की दीक्षा ले ली। वही हम दोनों आपके पास लाये गये हैं। यह सुनकर राजा मारिदत्त तथा चण्डमारी देवी को भी विराग हो गया।

यशोधरचरित में प्रसंगत: चार्वाकसिद्धान्त का खण्डन, आत्मा की सिद्धि जैसे दार्शनिक पक्षों का सरलता के साथ प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा के महत्व का बड़ा ही अच्छा प्रतिपादन है। काव्यत्व की दृष्टि से यशोधरचरित समृद्ध,रसालंकार-समन्वित श्रेष्ठ काव्य है। द्वितीय सर्ग में संध्या का बड़ा ही रमणीय एवं उदात्त वर्णन किया गया है।

३– एकीभावस्तोत्र :

जैनों में जिन स्तोत्रों का प्रतिदिन पाठ होता है, उनमें एकीभावस्तोत्र का अपना विशिष्ट महत्व है। इस स्तोत्र में मात्र २५ पद्य हैं, किन्तु वे अत्यन्त सरस एवं हृद्य हैं। अन्तिम श्लोक को छोड़कर सभी मन्दाक्रान्ता छन्द में रचित हैं। जिनरत्नकोश में पद्यों की संख्या २६ बतलाई गई है। पर वस्तुत: अंत में प्राप्त होने वाला पद्य वादिराज की प्रशंसापरक है और वह उनके किसी भक्त द्वारा जोड़ा गया जान पड़ता है। अन्य स्तोत्रों की तरह इस स्तोत्र में किसी एक तीर्थंकर की स्तुति नहीं की गई है। यह तो सामान्य स्तुति ग्रन्थ है। इसकी गणना उच्चकोटि के स्तोत्रों में की जाती है। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इस स्तोत्र के संबंध में लिखा है:— "वादिराज का एकीभावस्तोत्र उस निष्ठावान् और भक्ति–विभोर मानस का परिष्पन्दन है, जिसकी साधना से भव्य चरम लक्ष्य पा सकता है।"[1]

इस स्तोत्र का नाम एकीभावस्तोत्र प्रारम्भिक पद्य के "एकीभाव" पद से प्रारम्भ होने के कारण पड़ा है। जुगलकिशोर मुख्तार ने इसका वास्तविक नाम "कल्याणकल्पद्रुम" माना है।[2] क्योंकि इस स्तोत्र के अन्तिम पद्य में इसे कल्याण-कल्पद्रुम कहा गया है—

१– न्यायविनिश्चयविवरण की श्री पं० महेन्द्रकुमार जैन लिखित प्रस्तावना, पृ०२६।
२– भारतीय ज्ञानपीठ से जुगलकिशोर मुख्तार के भाष्य "कल्याणकल्पद्रुम" नाम से १९६७ ई० में प्रकाशित।

"अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते ।
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ॥"[1]

इस आधार पर एकीभावस्तोत्र का नाम कल्याणकल्पद्रुम भी माना जाता है ।

४– न्यायविनिश्चयविवरण :

यह अकलंक के न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने विवरण नाम की टीका लिखी है । न्यायविनिश्चय में प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन (आगम) नामक तीन प्रस्ताव हैं । वादिदेव सूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में धर्मकीर्ति रचित न्यायविनिश्चय का भी उल्लेख किया है ।[2] किन्तु उनका न्यायविनिश्चय नामक कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है, न ही उनके नाम से न्यायविनिश्चय का अन्यत्र उल्लेख ही हुआ है । संभव है भ्रान्तिवश वादिदेवसूरि ने धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय को ही न्यायविनिश्चय लिख दिया हो । न्यायविनिश्चयविवरण के तीन प्रस्तावों में निम्नांकित विषयों का समावेश है :

प्रथम प्रस्ताव : प्रत्यक्ष-लक्षण, ज्ञान की प्रत्यक्षता, स्वसंवेदनता तथा निराकारता । द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण, सामान्य का स्वरूप । विभिन्न आचार्यों के प्रत्यक्ष लक्षणों पर विचार ।

द्वितीय प्रस्ताव : अनुमान, अनुमान की बहिरर्थविषयता, साध्यसाध्याभास, चार्वाक–भूतचैतन्यवाद का खण्डन । तर्क की प्रामाणिकता का विशद विवेचन ।

तृतीय प्रस्ताव : प्रवचन का स्वरूप, बुद्ध के आप्तत्व का निराकरण आर्य–सत्यों का एवं वेद के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञसिद्धि, तत्त्वनिरूपण, कैवल्य, स्याद्वाद विवेचन, स्मृति की प्रामाणिकता, प्रमाण का फल आदि विषयों का विवेचन ।

वादिराज की इस विवरण नाम की टीका का दूसरा नाम "तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला" भी मिलता है । जैन सिद्धान्त भवन आरा में न्यायविनिश्चय विवरण की एक प्रति उपलब्ध है, जिसके अन्त में लिखा है—"इत्याचार्यवर्यस्याद्वादविद्यापतिविरचितायां न्यायविनिश्चयतात्पर्यविद्योतिन्यां व्याख्यानरत्नमालायां तृतीय प्रस्तावः ।"[3]

१– कल्याणकल्पद्रुम, पद्य २५ ।

२– "धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्याद्यद्वितीयतृतीयपरिच्छेदेषु··· · ··· ।"
—स्याद्वाद–रत्नाकार, भाग १, पृ० २३ ।

३– द्रष्टव्य—न्यायविनिश्चयविवरण की श्री पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ ३२ ।

इस टीका में वादिराज ने न्यायविनिश्चय के केवल पद्य भाग पर ही टीका की है, गद्य-भाग पर नहीं। पद्यों में से कुछ पद्यों को बिना व्याख्या के ही छोड़ दिया है। व्याख्या में पूर्वपक्षों को प्रस्तुत करते समय अनेक ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। अपने पक्ष को समृद्ध बनाने के लिए समन्तभद्र आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। पूर्वपक्ष में धर्मकीर्ति (प्रमाणवार्तिक के रचयिता), प्रज्ञाकर (तार्किकालंकार के रचयिता), धर्मोत्तर शान्तभद्र, अर्चट आदि बौद्ध दार्शनिकों की, शबर, कुम्बेक, प्रभाकर मिश्र, मण्डन मिश्र, कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों की तथा व्योमशिव, आत्रेय, भासर्वज्ञ, विश्वरूप आदि नैयायिक वैशेषिकों की समालोचना की गई है।

वादिराज न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड वेत्ता थे। न्यायविनिश्चयविवरण को देखकर वास्तव में उनकी प्रशंसा में प्राप्त निम्नलिखित पद्य सत्य जान पड़ता है :

"सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिवदेवो राजते वादिराजः॥"[1]

५- प्रमाणनिर्णय :

यह प्रमाण-मीमांसा विषयक छोटा सा ग्रन्थ है। चार अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में वादिराजसूरि ने मंगलाचरण में तीर्थंकर वर्धमान स्वामी को नमस्कार करते हुए प्रमाण-निर्णय के वर्णन की प्रतिज्ञा की है—

"श्रीवर्धमानमानम्य जिनदेवं जगत्प्रभुम्।
संक्षेपेण प्रमाणस्य निर्णयो वर्ण्यते मया॥"

अध्यायों का नामकरण विषयवस्तु के आधार पर किया गया है—प्रथम अध्याय-प्रमाणलक्षणनिर्णय, द्वितीय अध्याय-प्रत्यक्षनिर्णय, तृतीय अध्याय-परोक्षनिर्णय और चतुर्थ अध्याय-आगम निर्णय। इस प्रकार इस ग्रन्थ में जैन दर्शनसम्मत प्रमाणत्रय का विवेचन किया गया है। विषयवस्तु इस प्रकार है :

प्रथम अध्याय : इसमें सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानकर उसका निर्णय किया गया है—सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेः।" प्रसंगतः नैयायिक, मीमांसक एवं बौद्ध दार्शनिकों की प्रमाणविषयकधारणा की समीक्षा करते हुए, उनका खण्डन किया गया है। सन्निकर्ष के प्रामाण्य को तर्कों के आधार पर असंगत

१- जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २१५ एवं वही, भाग ३, लेखांक, ३१९।

बतलाते हुए व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ और प्रकाश की कारणता का भी खण्डन किया गया है।

द्वितीय अध्याय : इसमें प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्टावभास को प्रत्यक्ष कहा गया है। सन्निकर्ष के प्रत्यक्षत्व का निराकरण, चक्षु का अप्राप्यकारित्व, प्रत्यक्ष के सांव्यहारिक तथा पारमार्थिक भेद और उनके स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय : इसमें परोक्ष प्रमाण का विवेचन किया गया है। परोक्ष के सर्वप्रथम अनुमान और आगम दो भेद किये गये हैं। अनन्तर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को अनुमान का भेद माना गया है, परोक्ष-प्रमाण के स्वतंत्र भेद नहीं। अन्त में भूत चतुष्टयवादी चार्वाकों को भी अनुमान मानने की आवश्यकता सिद्ध की गई है।

चतुर्थ अध्याय : इस अध्याय में आगम प्रमाण का व्याख्यान किया गया है। आगम की अनुमान में अन्तर्भाव की असंगति दिखाकर प्रसंगतः शब्द पर भी विचार किया गया है और शब्द के पुद्गल होने की मान्यता को सिद्ध किया गया है।

अध्यात्माष्टक :

यह माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-समिति से वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा इसे वादिराजसूरि की कृति[1] और श्री परमानन्द जैन शास्त्री इसे वाग्भटालंकार के टीकाकार वादिराज की कृति[2] मानते हैं। किन्तु यह वाग्भटालंकार के टीकाकार वादिराज की कृति तो है नहीं। उनका ज्ञान-लोचन स्तोत्र उपलब्ध है। संभव है कि अध्यात्माष्टक के रचयिता वादिराज प्रकृत वादिराजसूरि ही हों, परन्तु असंदिग्ध रूप से ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

त्रैलोक्यदीपिका :

त्रैलोक्यदीपिका नामक एक कृति वादिराजकृत होने का उल्लेख मिलता है।[3] इस कृति का संकेत मल्लिषेण प्रशस्ति के निम्नलिखित पद्य से भी मिलता है :

१- द्रष्टव्य : श्री अगरचन्द नाहटा का "जैन संस्कृत साहित्य का विकास" लेख, जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष १६, किरण १, पृ० २८।

२- एकीभावस्तोत्र, प्रस्तावना, पृ० १६।

३- श्री अगरचन्द नाहटा का 'जैन संस्कृत साहित्य का विकास' लेख जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष १६, किरण १, पृ० २८।

"त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोद्गादिह ।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजतः ॥"

श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि श्री सेठ माणिकचन्द जी के ग्रन्थ रजिस्टर में त्रैलोक्यदीपिका नामक एक अपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें प्रारम्भ के १० और अन्त में ५८ पृ० से आगे के पन्ने नहीं हैं ।[1] सम्भव है यही वादिराजसूरि की रचना हो।

अन्य अनेक वादिराजकृत कृतियों का उल्लेख मिलता है, पर उनमें कुछ तो अप्राप्य हैं तथा कुछ प्रकृत से भिन्न वादिराजों द्वारा रचित हैं ।

वादिराजसूरि की प्रशंसा में कतिपय उल्लेख

अनेक शिलालेखों में तथा अन्यत्र कई जगह वादिराज सूरि की अतीव प्रशंसा की गई है । मल्लिषेण प्रशस्ति में अनेक पद्य इनकी प्रशंसा में लिखे गये हैं । यह प्रशस्ति शक सं. १०५० (११२८ ई०) में उत्कीर्ण की गई थी, जो पार्श्वनाथवस्ति के प्रस्तरस्तम्भ पर अंकित है ।[2] यहाँ वादिराजसूरि का महान् कवि, वादी और विजेता के रूप में स्मरण किया गया है—

"त्रैलोक्य को प्रकाशित करने वाली वाणी दो ही व्यक्तियों से निर्गित हुई। एक तो भगवान् जिनेन्द्र से और एक वादिराज से ।

जिनका यशरूपी छत्र आकाश में व्याप्त था । जिसने चन्द्रमा को भी उत्सुकता उत्पन्न कर दी थी । स्तुतिवाक्यरूपी चरण समूह की किरणें, जिनके कानों के समीप पड़ती थीं तथा महाराज जयसिंह से जिनका सिंहासन पूजित था, सभी प्रवादी लोग जिनकी जोर से जय-जयकार करते थे, ऐसे वे वादिराज विद्वानों के द्वारा पूजनीय हैं ।

उनके गुणों की प्रशंसा कवियों ने इस प्रकार की है—चौलुक्य चक्रवर्ती की राजधानी, जो कि सरस्वतीरूपी वधु की जन्मभूमि थी,में विजेता वादिराज की डोंगी पिटती थी कि हे वादियों ! अपने वाद का घमण्ड छोड़ो । हे काव्यमर्मज्ञों ! तुम अपनी विद्वत्ता का गर्व त्याग दो । हे वाचालों ! अपनी वाचालता को छोड़ दो और हे कवियों ! तुम अपनी कोमल मधुर और स्फुट काव्य रचना का अभिमान छोड़ दो।

हजार जिह्वा वाला प्रसिद्ध नागराज पाताल में निवास करता है और इन्द्र के गुरु बृहस्पति स्वर्ग में चले गये हैं । ये दोनों ही वादी उक्त स्थानों में ही जीवित

१- द्रष्टव्य-जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०४ ।

२- द्रष्टव्य-जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेखांक ५४ ।

रहें तो अच्छा है। क्योंकि इन्हें छोड़कर यहाँ तो कोई भी वादी अब रहा ही नहीं है। जो लोग थे, वे सभी बलहीन होकर अपने अभिमान को त्याग कर राजसभा में विजेता वादिराज को नमस्कार करते हैं।"[1]

उक्त प्रशंसा से अनुमान लगाया जा सकता है कि शक सं० १०५० (११२८ ई०) तक केवल एक ही शतक में वादिराज को कितनी प्रसिद्धि मिल चुकी थी। मल्लिषेण प्रशस्ति के उक्त पद्यों में यद्यपि अतिशयोक्ति का आधिक्य है, यहाँ तक कि वादिराज को जिनेन्द्र भगवान् के समान भी कह दिया गया है। किन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि वादिराजसूरि मृत्यु के अनन्तर कुछ ही दिनों में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे और महान् वादी के रूप में उनका नामोल्लेख किया जाता था। उक्त प्रशस्ति के "सिंहसमर्च्यपीठविभवः" विशेषण से ज्ञात होता है कि चालुक्य-चक्रवर्ती महाराजा जयसिंह द्वारा उनका सिंहासन पूजित था। इतने कम दिनों में इतनी अधिक प्रशंसा पाने का सौभाग्य कम ही कवियों अथवा आचार्यों को मिला है।

१- "त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोद्गादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजतः ॥
आरुह्याम्बरमिन्दुबिम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरीजराजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥
यदीयगुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्—
श्रीमच्चौलुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ
निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः।
जह्युद्यद्वाददर्पो जहिहि गमकता गर्वभूमा जहारि
व्याहारैर्ष्या जहारि स्फुटमृदुमधुरश्रव्यकाव्यावलेपः ॥
पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं
निर्गन्ता स्वर्गतो सौ न भवति धिषणो वज्रभृदस्य शिष्यः।
जीवेतां तावदेतौ निलयबलवशाद् वादिनः केऽत्र नान्ये
गर्वं निर्मुच्य सर्वं जयिनमिनसभे वादिराजं नमन्ति ॥"
—जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेखांक ५४, मल्लिषेण प्रशस्ति, पद्य ४०-४३।

काव्यपक्ष की अपेक्षा वादिराजसूरि का तार्किक (न्याय) पक्ष अधिक समृद्ध है। आचार्य बलदेव उपाध्याय की यह उक्ति कि "वादिराज अपनी काव्य प्रतिभा के लिए जितने प्रसिद्ध हैं उससे कहीं अधिक तार्किक वैदुषी के लिए विश्रुत हैं,"[१] सर्वथा समीचीन जान पड़ती है। यही कारण है कि एक शिलालेख में वादिराज को विभिन्न दार्शनिकों का एकीभूत प्रतिनिधि घोषित करते हुए कहा गया है—

"सदसि यदकलंक: कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरुणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥"[२]

अर्थात् वादिराज सभा में अकलंक (जैन दार्शनिक), कीर्तन प्रशस्ति पाने में धर्मकीर्ति (बौद्ध दार्शनिक), वचनों में वृहस्पति (चार्वाक दर्शन के संस्थापक) और न्यायवाद में अक्षपाद-गौतम के समान हैं। इस प्रकार वादिराज पृथक्-पृथक् अपने-अपने समय के गुरुओं (विभिन्न दार्शनिकों) के एकीभूत प्रतिनिधि के समान शोभित होते हैं।

अन्यत्र वादिराजसूरि को षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद विद्यापति और जगदेकमल्लवादी उपाधियों से विभूषित किया गया है। कतिपय उल्लेख इस प्रकार है—

"इन्तेसिनिद षट्तर्कषण्मुखनु जगदेकमल्लवादियुमेनिषिद वादिराजदेवरं……।"[३]

"षट्तर्कषण्मुखरु स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेकमल्लवादिगळुमेनिसिद श्रीवादिराजदेवरु……।"[४]

महाराज जयसिंह की उपाधि जगदेकमल्ल थी। संभवतः उनका वादी होने से वादिराज को भी जगदेकमल्लवादी कहा गया है।

एकीभावस्तोत्र के अन्त में एक श्लोक प्राप्त होता है, जिसमें वादिराजसूरि को समस्त वैयाकरणों, तार्किकों, साहित्यिकों एवं भव्य सह्यों में अग्रणी बताया गया है—

"वादिराजनुशाब्दिधकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः॥"[५]

१– संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पंचम परिच्छेद, पृ० २४५।
२– जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखांक २१५ एवं वही, भाग ३, लेखांक ३१९।
३– जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखांक २१३।
४– वही, भाग ३, लेखांक ३१५।
५– एकीभावस्तोत्र, अंतिम पद्य।

अन्य अनेक शिलालेखों में भी वादिराज की प्रशंसा में अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। उनमें से कुछ शिलालेख सुपाठ्य नहीं हैं तथा कुछ में कोई नवीन बात नहीं कही गई है।[1]

यशोधरचरित के टीकाकार लक्ष्मण (१५५० ई० से पूर्ववर्ती) ने वादिराज को नमस्कार करते हुए उन्हें मेदिनी तिलक कवि कहा है। तथा उनके रसनारूपी रंगमंच पर वाणी को नृत्य करते हुए बतलाया है।[2]

भले ही वादिराज की प्रशंसापरक प्रशस्तियों एवं अन्य उल्लेखों में अतिशयोक्ति अधिक हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे महान् कवि और तार्किक थे। श्री रंजन सूरिदेव ने वादिराजसूरि को युग का धुरन्धर विद्वान्, क्रान्तिवादी और शास्त्रार्थी बताते हुए अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है–

'पलापध्वं पलायध्वं रे रे पण्डितदिग्गजाः।
वादिराजः समायातो न्यायकाननकेशरी ॥'[3]

मठाधीश परम्परा :

वादिराजसूरि ने न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति में अपना सिंहपुरेश्वर के रूप में उल्लेख किया है।[4] इसी प्रकार पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में उन्होंने अपने गुरु के गुरु श्रीपालदेव को 'सिंहपुरैकमुख्य' लिखा है।[5] इन दोनों उल्लेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी परम्परा का सिंहपुर पर आधिपत्य था। संभवतः सिंहपुर उन्हें राजा द्वारा जागीर के रूप में प्राप्त हुआ था और यहीं पर इनके मठ

१– विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य—जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेखांक ३१९, ५०३, ६१० आदि।

२– "वादिराजमुनिं नौमि मेदिनीतिलकं कविम्।
यदीयरसनारंगे वाणी नर्तनमातनोद् ॥"
—यशोधरचरित, लक्ष्मणकृत संस्कृत टीका।

३– श्री रंजन सूरिदेव द्वारा लिखित "आचार्य वादिराज सूरि" लेख, —श्रमण, जून १९६८, पृ० २५।

४– "शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥"
—न्यायविनिश्चयविवरण, प्रशस्तिपद्य ५।

५– "सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मगामी।"
—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य २।

आदि थे। वादिराज की परम्परा मठाधीशों की परम्परा रही है। ये दान आदि लेते थे तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों को करते थे। जैन मन्दिरों का निर्माण कराना, मुनियों के आहार आदि की व्यवस्था करना, ये इस परम्परा के प्रधान कार्य थे।

शक सं० १०४७ (११२५ ई०) के उत्कीर्ण एक शिलालेख में उल्लेख है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्धन् ने जिन मन्दिरों के निर्माणार्थ तथा मुनियों के लिए आहार की व्यवस्था हेतु श्रीपाल त्रैविद्यदेव को शल्य नामक एक ग्राम उपहार स्वरूप दिया था।[1] ये श्रीपालदेव त्रैविद्य वादिराज की ही परम्परा के थे। इन आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि इनकी परम्परा में ग्राम आदि दान में लेने का निषेध नहीं था। कुम्बेन हल्लिग्राम में अंजनेय मन्दिर के समीप एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि षड्दर्शन के अध्येता श्रीपाल योगीन्द्र के शिष्य वादिराज ने अपने गुरु के स्वर्गवास हो जाने पर परवादिमल्ल जिनालय बनवाया था तथा उसकी अष्ट-द्रव्य पूजन और आहार दान की व्यवस्था हेतु कुछ दान भी किया था।[2] यद्यपि ये वादिराज प्रकृत वादिराज से भिन्न हैं, क्योंकि श्रीपाल योगीन्द्र इनके गुरु का नाम नहीं था। श्रीपाल योगीन्द्र के शिष्य होने से ये कनकसेन वादिराज से अभिन्न हैं। किन्तु परम्परा तो उनकी भी यही है। अतः इस शिलालेख से इतना तो जाना ही जाता है कि वादिराज की परम्परा में मन्दिर का निर्माण कराया जाना, आहारादि की व्यवस्था कराना परम्परागत था। एकीभाव स्त्रोत के अन्त में प्राप्त पद्य में वादिराज को भव्यसहायों में अग्रणी बताया गया है। उक्त पद्य का 'भव्य-सहाय' विशेषण भी उनकी दान के प्रति अभिरुचि अथवा सहायता देने की ओर संकेत करता है। वादिराजसूरि के गुरु मतिसागर भट्टारक की आज्ञा से एक दानपत्र लिखा गया था, जिससे स्पष्ट होता है कि इस संघ के साधु भूमि आदि का प्रबन्ध करते थे।[3]

दक्षिण भारत में आज भी इसी तरह के भट्टारकों की परम्परा विद्यमान है। वादिराजसूरि भी दाक्षिणात्य थे। अतः इन्हें मठाधीश परम्परा का मानना असंगत नहीं है।

किंवदन्ति :

वादिराजसूरि के विषय में एक किंवदन्ती बहुप्रचलित है कि एक बार वादिराज का शरीर कुष्ठ रोगाक्रान्त हो गया था। उनके किसी विरोधी ने महाराज जयसिंह

१- जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेखांक ४९३।

२- वही।

३- द्रष्टव्य—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण २-३, पृ० ५।

के दरवार में 'कोढ़ी' कहकर निन्दा की। वहाँ उपस्थित वादिराज के किसी भक्त या शिष्य को यह वात सहन नहीं हुई। उसने भरे दरवार में वादिराज को कोढ़ी होने की वात को गलत ठहराया। जव वाद-विवाद ने पर्याप्त उग्र रूप धारण कर लिया तव महाराज जयसिंह ने कहा कि मुनिवादिराज के दर्शन के वाद मैं स्वयं इस वात का निर्णय करूँगा। अव वादिराज के उस शिष्य या भक्त को काटो तो खून नहीं। राजा के वचन उसे शूल से कष्ट देने लगे। वह व्याकुल हो उठा और वादिराज के पास पहुंचा। वहाँ पहुंचकर उसने राजदरवार का समस्त वृत्तान्त सुना दिया।

उस शिष्य या भक्त द्वारा उक्त वृत्तान्त को सुनकर आचार्य ने उसे सान्त्वना दी और भक्तिविभोर होकर एक स्त्रोत की रचना कर डाली, जो एकीभावस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। परिणामस्वरूप उनका कोढ़ दूर हो गया और उनका शरीर सोने की तरह निर्मल हो गया। जव महाराज जयसिंह ने वादिराजमुनि के दर्शन किये तो उन्होंने वादिराज के शरीर को नीरोग और अत्यन्त तेजस्वी देखा। राजा को वादिराज का सभा में अपमान करने वाले व्यक्ति पर वड़ा ही क्रोध आया। राजा ने उसे कड़ा दण्ड देने की वात ठान ली। किन्तु मुनि के कारण किसी को दण्ड दिया जाये और वह भी सत्य वोलने वाले को, यह वादिराज को उचित नहीं लगा। वादिराज ने अपनी पूरी स्थिति राजा को वतला दी और प्रमाण के लिए अपनी उस कनिष्ठिका को भी दिखला दिया, जहाँ कुष्ठ रोग का थोड़ा सा चिह्न अवशिष्ट रह गया था। कहा जाता है कि इस चमत्कार को देखकर शैवधर्मानुयायी राजा जयसिंह को अचार्य प्रवर और जैनधर्म के प्रति पर्याप्त श्रद्धा हो गई थी।

इस किंवदन्ती का आधार एकीभावस्तोत्र का यह पद्य माना जाता है—

"प्रागेवेहत्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्
पृथिवीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट—
स्तत् किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥"[1]

(स्वर्गलोक से माता के गर्भ में आने के पहले ही आपने पृथिवीमण्डल को सुवर्णमयकर दिया था, तव मेरे ध्यान के द्वार से मेरे अन्तःकरण में प्रवेश करके, यदि आप मेरे शरीर को सुवर्णमय कर दें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?)

इस श्लोक में तो कोई ऐसी वात नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि वादिराज का शरीर कुष्ठरोगाक्रान्त था। परन्तु एकीभावस्तोत्र पर चन्द्रकीर्ति भट्टारक

१– एकीभावस्तोत्र, पद्य ४।

की एक संस्कृत टीका प्राप्त होती है। जिसमें चन्द्रकीर्ति भट्टारक ने उक्त पद्य की व्याख्या करते हुए वादिराज मुनि के शरीर के कुष्ठरोगाक्रान्त होने का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं —'मेरे अन्तःकरण में जब आप प्रतिष्ठित हैं, तब मेरा यह कुष्ठ-रोगाक्रान्त शरीर यदि सुवर्णमय हो जाये, तो क्या आश्चर्य है अर्थात् कोई भी आश्चर्य नहीं है।"[1]

चन्द्रकीर्ति भट्टारक बहुत प्राचीन नहीं है। इन्होंने सं० १६८१ (१६२४ ई०) में एक पद्मावती की मूर्ति की स्थापना की थी।[2] पार्श्वपुराण की प्रशस्ति के आधार पर इसका रचनाकाल वि० सं० १६५४ (१५९७ ई०) है। अतः भट्टारक चन्द्रकीर्ति का समय १६-१७वीं शताब्दी है। यहीं से उक्त किंवदन्ती का उल्लेख मिलता है। परन्तु चन्द्रकीर्ति भट्टारक को इस किंवदन्ती का स्रोत कहाँ मिला, कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। संभव है यह किंवदन्ती टीकाकार के समय लोक प्रचलित रही हो अथवा टीकाकार की अपनी बुद्धि की उपज हो किन्तु मल्लिषेण प्रशस्ति अथवा तद्-विषयक अन्य उल्लेखों में कहीं भी इस तरह का उल्लेख नहीं मिलता है।

यद्यपि यह सत्य है कि जिनेन्द्र भगवान् हिन्दू देवी-देवताओं की तरह कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ नहीं है। अतएव स्तुतियों से प्रसन्न होना और रोगादि को अथवा किसी भी आपत्ति को दूर कर देना, अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रखता है। किन्तु इस तरह के बहुप्रचलित जैन तथा जैनेतर कथानकों को सर्वथा असत्य भी माना जा सकता है। इस कथानक का एक समाधान यह भी सभव है कि जिनेन्द्रदेव की भक्ति से उनके भक्त देवी-देवता प्रसन्न होकर रोगादि की मुक्ति अथवा किसी आपत्ति के नाश में समर्थ हो सकते हैं। इससे जिनेन्द्रभगवान् के ऊपर भी रागद्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता हैं। यह हमारा नितान्त अभीष्ट जरूर न हो, पर असंभव नहीं माना जा सकता है।

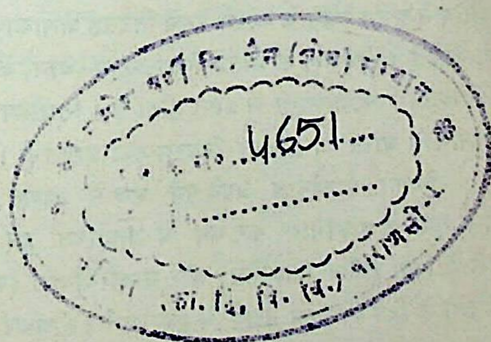
इस प्रकार वादिराजसूरि के परिचय, कीर्तन और उनकी कृतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वे बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। साहित्य और न्याय दोनों

१- "हे जिन, मम स्वान्तगेहं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रतिष्ठः सन् यत इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णीकरोषि तत्किं चित्रं तत्किमाश्चर्यं, न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः।"

—वही, पद्य ४ की चन्द्रकीर्ति विरचित संस्कृत व्याख्या, पृ० ७।

२- भट्टारक-सम्प्रदाय, लेखांक ७१०, पृ० २७८।

ही क्षेत्रों में उनकी अगाध पैठ थी। उनकी कृतियों के आन्तरिक अनुशीलन से पता चलता है कि वे धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, साहित्य, न्याय, दर्शन आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे। काव्यकार और दार्शनिक होने के साथ ही उनका भक्त होना भी एकीभावस्तोत्र में सहज झलकता है।



तृतीय अध्याय

कथावस्तु और पूर्वकविप्रशस्ति

(क) कथावस्तु का मूल स्रोत

१– प्राकृत : तिलोयपण्णत्ती :

"महाकाव्य की कथावस्तु किसी ऐतिहासिक कथानक पर आधारित या सज्जनाश्रित होना चाहिये"[१]—शास्त्रकारों की इस मान्यता के अनुसार महाकाव्य के मूलस्रोत के विषय में विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित के कुछ सूत्र सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ विरचित प्राकृत भाषा में निवद्ध तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक प्रज्ञप्तिः) में दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। अतः इसका मुख्य विषय लोकालोकविभाग, युगपरिवर्तन और चतुर्गति आदि का वर्णन करना है। किन्तु दिगम्बर जैन साहित्य के श्रुतांग से संबंध रखने के कारण इसमें तिरसठ शलाकापुरुषों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है। तीर्थंकरों के माता-पिता, जन्म-स्थान, केवलज्ञान मोक्ष प्राप्ति आदि का दिग्दर्शन तिलोयपण्णत्ती में प्राप्त होता है। तिलोयपण्णत्ती में प्रतिपादित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ अपने पूर्व भव में प्राणत कल्प (१४वां स्वर्ग) में थे। वहीं से चय के पार्श्वनाथ कर भव में अवतरित हुए।[२] इनका जन्म वाराणसी नगरी में पिता हयसेन (अश्वसेन) और माता वर्मिला (वामा) के यहाँ पौष कृष्णा एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में हुआ था[३]। तीर्थंकर पार्श्वनाथ बाईसवें तीर्थंकर

१– "इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्" साहित्यदर्पण, अ० ६, का० ३१८।

२– तिलोयपण्णत्ती, चउत्थो महाधियारो, गाथा ५२२।

३– तिलोयपण्णत्ती, चउत्थो महाधियारो, गाथा, ५४८।

नेमिनाथ के ८४६५० वर्ष बाद और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के २७८ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे।[1] तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष प्रमाण थी।[2] इस आयु में तीस वर्ष पर्यन्त इनका कुमार काल रहा।[3] इनके शरीर की ऊंचाई ६ हाथ प्रमाण थी और इनका शरीर हरित वर्ण का था।[4] इन्होंने कुछ अन्य तीर्थंकरों की तरह राज्य नहीं किया।[5] इनका चिह्न सर्प था।[6] उन्हें अपने पूर्वजन्मों के स्मरण के कारण वैराग्य उत्पन्न हुआ।[7] उन्होंने अपने जन्मस्थान वाराणसी में ही दीक्षा को धारण किया।[8] इन्होंने दीक्षा को माघ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र में षष्ठ भक्त के साथ अश्वत्थ वन में धारण किया।[9] इस प्रकार इन्होंने कुमारकाल में ही तप को ग्रहण कर लिया था।[10] चार माह तक इनका छद्मस्थ-काल रहा अर्थात् चार माह तक इन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ।[11] इसके बाद चैत्र कृष्णा चतुर्थी के पूर्वाह्न-काल में विशाखा नक्षत्र में सक्कपुर (सक्रपुर) नामक नगर में इन्हें केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।[12] केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर नियमानुसार सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने विक्रिया ऋद्धि के द्वारा समवसरण की रचना कर दी। समवसरण का क्षेत्रफल बहुत विशाल था।[13] मातंग नाम का यक्ष और पद्मा नाम की यक्षिणी तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समीप रहते थे।[14] पार्श्वनाथ का केवलि-काल ६९ वर्ष ८ माह हैं।[15] अर्थात् ये इतने समय तक केवलज्ञानी रहे। इनके दस गणधर थे, जिनमें प्रथम गणधर का नाम स्वयंभू था।[16]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में १६००० ऋषि थे।[17] इनके सात गण थे, जिनमें ३५० पूर्वधर, १०९०० शिक्षक, १४०० अवधिज्ञानी मुनि, १००० केवल-ज्ञानी, १००० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ७५० विपुलमति अवधिज्ञानी और ६००

१- वही, ५७६-७७। २- वही, ५८२।
३- वही, ५८४। ४- वही, ५८७-८८।
५- वही, ६०३। ६- वही, ६०५।
७- वही, ६०७। ८- वही, ६४३।
९- वही, ६६६। १०- वही, ६७०।
११- वही, ६७८। १२- वही, ७००।
१३- वही, ७१७-८९०। १४- वही, ९३५-९३९।
१५- वही, ९६०। १६- वही, ९६३ ९६६।
१७- तिलोयपण्णत्ती, चउत्थो महाधियारो, गाथा, १०८७।

वादी थे।[1] इनके तीर्थ में ३८००० आर्यिकायें थीं। इन आर्यिकाओं में सुलोका या सुलोचना प्रमुख थी।[2]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ श्रावणमास के शुक्लपक्ष की सप्तमी को प्रदोष काल में अपने जन्मनक्षत्र (विशाखा) के रहते ३६ मुनियों के साथ सम्मेद-शिखर (वर्तमान में विहार प्रदेश का "पारसनाथ हिल" नाम से प्रसिद्ध पर्वत) से निर्वाण को प्राप्त हुए थे।[3] इनके ८८०० शिष्य अनुत्तर विमानों में गये। ६२०० शिष्यों ने सिद्ध पद को प्राप्त किया तथा १००० शिष्यों ने सौधर्म आदि इन्द्र पदों को प्राप्त किया।[4] इनका तीर्थकाल २७८ वर्ष-प्रमाण रहा।[5]

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ती में पार्श्वनाथ का संक्षिप्त विवरण निर्दिष्ट किया गया है। भले ही इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित के वीज विद्यमान हों, परन्तु इसे पार्श्वनाथचरित का स्रोत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं किया गया है।

२– संस्कृत : पार्श्वाभ्युदय:

तिलोयपण्णत्ती के बाद तीर्थंकर पार्श्वनाथ का संक्षिप्त वर्णन आचार्य जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय में मिलता है। आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय की रचना कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में की थी। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पार्श्वाभ्युदय की रचना राजा अमोघवर्ष के समय की गई थी।[6] राजा अमोघवर्ष का समय ई० सन् ८१५–८७७ माना जाता है।[7] अत: समकालीन होने से जिनसेन का समय भी ईसा की ९वीं शताब्दी ठहरता है।

पार्श्वाभ्युदय में पार्श्वनाथ के चरित को अत्यन्त संक्षिप्त संक्षिप्त रूप से वर्णित किया गया है। क्योंकि समस्यापूर्ति के रूप में किसी अन्य के चरित का वर्णन अत्यन्त दुष्कर है। इसमें चार सर्ग हैं, जिनमें क्रमश: ११८, ११८, ५७ और ७१ पद्य हैं। इनमें कहीं मेघदूत के एक पाद को और कहीं दो पादों को समाविष्ट किया

१– वही, ११५८ ५९।
२– वही, ११७५–११८०।
३– वही, १२०७।
४– वही, १२१७, १२२८, १२३७।
५– वही, १२७४।
६– पार्श्वाभ्युदय ४।७०।
८– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३३७।

गया है। इसलिए बहुत ही कम वर्णनात्मक रूप इसमें प्रतिपादित हो पाया है। वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती ९ भवों का भी सम्पूर्ण चरित वर्णित हुआ है। पार्श्वाभ्युदय तो उसकी एकाध घटना पर ही प्रकाश डालता है। अतएव पार्श्वाभ्युदय को पार्श्वनाथचरित का स्रोत नहीं माना जा सकता है।

३- संस्कृत : उत्तरपुराण :

पार्श्वाभ्युदय के ही रचयिता आचार्य जिनसेन ने तिरसठ शलाका पुरुषों का चरित वर्णन करने वाले एक विशालकाय ग्रन्थ आदिपुराण (महापुराण) की रचना प्रारंभ की थी। वे इसके ४२ पर्व ही लिख पाये थे कि उनका निधन हो गया। इसकी पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्र ने की। आदिपुराण में ५ पर्व जोड़ कर ४७ पर्वों में केवल आदिनाथ और भरत चक्रवर्ती का वर्णन पूर्ण किया गया। इसके बाद गुणभद्र ने ७६ पर्वात्मक उत्तरपुराण का प्रणयन किया, जिसमें शेष इकसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। वर्णन संक्षिप्त होने पर भी सर्वांग है तथा इसमें कोई भी ऐतिहासिक घटना छूट नहीं पाई है। उत्तरपुराण के ७३वें पर्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णित हुआ है। यही वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का स्रोत है।

पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) की समस्या

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित के कथावस्तु के स्रोत पर विचार करते हुए लिखा है कि "अपभ्रंश में पद्मकीर्ति ने वि० सं० ९९२ (९३५ ई०) में १८ संधियों में पासणाहचरिउ की रचना की है। कवि वादिराज ने उक्त अपभ्रंश पासणाहचरिउ का भी अध्ययन किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"[१]

यहाँ विचारणीय यह है कि पद्मकीर्ति के पासणाहचरिउ का रचनाकाल ग्रन्थ-प्रशस्ति के अनुसार सं० ९९९ है, जिसे डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने स्वयं अन्यत्र स्वीकार किया है।[२] शास्त्री जी स्वयं विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इसे शक सम्वत् मानते हैं।[३] इस प्रकार उन्हीं के कथनानुसार ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् १०७७ ठहरता है, जबकि पार्श्वनाथचरित की रचना वादिराज ने शक सं० ९४७ (१०२५ ई०) में

१- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ९७ एवम् द्र०-संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० १७९।
२- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० २०७।
३- वही, पृ० २०९।

की थी। इस प्रकार पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ निःसन्देह वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित से पश्चाद्वर्ती है। अतः डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का पासणाहचरिउ को वादिराज के पार्श्वनाथचरित से पूर्ववर्ती मानना वदतोव्याघात है तथा वादिराज द्वारा पद्मकीर्ति के पासणाहचरिउ के अध्ययन की संभावना सर्वथा असंभव है। क्योंकि पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित से ५२ वर्ष बाद की रचना है।

वादिराजसूरि के समक्ष जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय और गुणभद्र का उत्तरपुराण ये दोनों ही ग्रन्थ विद्यमान थे। पार्श्वाभ्युदय के विषय में तो कहा ही जा चुका है कि वह पार्श्वनाथचरित का स्रोत नहीं माना जा सकता है। अतः गुणभद्र का उत्तरपुराण ही पार्श्वनाथचरित का आधार या स्रोत है।

उत्तरपुराण में वर्णित पार्श्वनाथचरित

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्रस्थ सुरम्य नामक देश में पोदनपुर नामक नगर है। उसका राजा अरविन्द था। पोदनपुर नगर में विश्वभूति नामक ब्राह्मण अनुन्धरी ब्राह्मणी के साथ रहता था। उस ब्राह्मण के कमठ और मरुभूति नामक दो पुत्र थे। वे दोनों राजा अरविन्द के मंत्री थे। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा तथा मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी था। दुष्ट पापी कमठ ने वसुन्धरी के कारण सदाचारी मरुभूति को मार डाला।

मरुभूति मरकर मलयदेश के कुब्जक नामक सल्लकी वन में वज्रघोष नामक गजराज हुआ। वरुणा मरकर उसकी प्रिया हथिनी हुई। एक बार राजा अरविन्द विरक्त होकर मुनिवेश में सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गये। रास्ते में वे सामायिक हेतु विराजमान थे कि वज्रघोष हाथी मदान्ध होकर उन मुनि अरविन्द को मारने वाला ही था कि उनके वक्षस्थल पर वत्स का चिह्न देखकर उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। उसने मुनिवर से धर्मश्रवण किया तथा श्रावकव्रत धारण कर लिये। एक बार वह पानी पीने वेगवती नामक नदी में घुसा। वहाँ वह कीचड़ में फँस गया। दुराचारी कमठ का जीव मरकर वहीं कुक्कुट सर्प हुआ था। उसने पूर्वजन्म के बैर के वशीभूत हो वज्रघोष हाथी को काट खाया। वज्रघोष मरकर सहस्रार नामक स्वर्ग में देव हुआ।

सहस्रार स्वर्ग में सुख भोगने के बाद आयु पूर्ण होने पर वहाँ से चय कर वह

१– भारतीय ज्ञानपीठ काशी से श्री पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के सम्पादकत्व में १९५४ ई० में प्रकाशित।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के राजा विद्युद्गति और रानी विद्युन्माला के यहाँ रश्मिवेग नामक पुत्र पैदा हुआ। यौवन के अंत में रश्मिवेग ने समाधिगुप्त मुनि से दीक्षा ले ली। एक बार मुनि रश्मिवेग हिमालय की गुहा में तप कर रहे थे। वहीं कमठ के जीव, जिसने कुक्कुट पर्याय को छोड़कर नरक में जाने के बाद अजगर (सर्प) पर्याय पाई थी, भी विद्यमान था। उस अजगर ने मुनि रश्मिवेग को निगल लिया। मरने पर वे अच्युत स्वर्ग में पुष्कर विमान में देव हुए।

स्वर्ग में आयु की समाप्ति पर वही मरुभूति का जीवन जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्रस्थ पद्मदेश के अश्वपुर नामक नगर में राजा अनन्तवीर्य और रानी विजया के यहाँ वज्रनाभि नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। कमठ का जीव भी अजगर की पर्याय से नरक में जाकर वहाँ के दुःख भोगने के बाद कुरंग नामक भील हुआ। वज्रनाभि ने क्षेमंकर मुनि से धर्मश्रवण कर संयम धारण कर लिया। वे वन में तप कर रहे थे कि पूर्वजन्मों के शत्रु कमठ के जीव कुरंग भील ने उन पर बाण-प्रहार से उन्हें मार डाला। वहाँ से मृत्यु के बाद वे मुनि मध्यम ग्रैवेयक के मध्यम विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ के सुख भोगने के बाद वही मरुभूति का जीव जम्बूद्वीप में कोशलदेश के अयोध्यानगर में काश्यपगोत्रीय इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु और रानी प्रियंकरी का पुत्र आनंद हुआ। आनंद ने विपुलमति नामक मुनि महाराज से धर्मश्रवण किया।

एक दिन आनंद ने अपने सिर में सफेद बाल देखा। देखकर वे विरक्त हो गये और उन्होंने अपने पुत्र को राज्यभार सोंपकर तपोव्रत धारण किया। क्षीरवन में वे तपस्या कर रहे थे। वहीं पर कमठ का जीव भी भील की पर्याय से नरक में जाकर, वहां के दुःख भोगकर सिंह हुआ था। उसने मुनि का गला पकड़कर उन्हें मार डाला। मुनिवर मरकर अच्युत स्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र हुए।

काशी देश में वाराणसी नामक नगर में काश्यपगोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम ब्राह्मी था। महारानी ब्राह्मी ने शुभमुहूर्त पौष-कृष्णा एकादशी के दिन एक पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने आकर सुमेरु पर्वत पर उनके जन्मकल्याणक की पूजा की तथा बालक का नाम "पार्श्व" रखा।

बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। १६ वर्ष की आयु में पार्श्वकुमार सेना के साथ क्रीडावन में गये। वहाँ उनके नाना महीपाल देश के राजा महीपाल पत्नीवियोग से दुखी होकर पंचाग्नि तप कर रहे थे। पार्श्वकुमार को बिना नमस्कारादि किये खड़ा देखकर महीपाल घमण्ड से उद्धत हो गया। वह एक लकड़ी काटने वाला था कि कुमार पार्श्व ने "इसमें दो प्राणी हैं, इसे मत काटो" कहकर रोका। परन्तु घमण्ड के कारण वह नहीं माना। जिससे लकड़ी के साथ उसमें रहने वाला नाग-नागिन का

युगल कट गया। पार्श्वकुमार ने उस तपस्वी को उपदेश दिया पर घमण्ड के कारण उसने नहीं माना। वे नाग-नागिन मरने पर धरणेन्द्र और पद्मावती नामक नाग जाति के देव हुए। महीपाल भी मरने पर अपनी कुतपस्या के प्रभाव से शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ।

तीस वर्ष की आयु में अयोध्या नरेश जयसेन का दूत पार्श्वनाथ के पास आया। अयोध्या के वृत्तान्त के प्रसंग में उसने ऋषभनाथ तीर्थंकर का वर्णन किया। सुनकर पार्श्वनाथ विरक्त होने लगे और उन्होंने तीन सौ राजाओं के साथ पौष कृष्णा एकादशी को दीक्षा ले ली। केशलोंच करने के बाद गुल्मखेट नगर के राजा धन्य ने उन्हें आहार दिया।

एक समय पार्श्वनाथ वन में तपस्या में लीन थे कि कमठ का जीव शम्बर आकाश मार्ग से वहीं से जा रहा था। अकस्मात् उसका विमान रुक गया। पूर्वजन्म के वैर के कारण उसने गर्जना के साथ महावृष्टि करना प्रारंभ कर दी। अवधिज्ञान से धरणेन्द्र और पद्मावती शम्बर द्वारा सप्ताह पर्यन्त किये गये उपसर्ग को जानकर पृथ्वी तल से निकले। धरणेन्द्र ने अपनी फणाओं के ऊपर पार्श्वनाथ को उठा लिया तथा पद्मावती वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गई। मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने से कमठ द्वारा कृत उपसर्ग शान्त हो गया। चैत्र कृष्णा त्रयोदशी को पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो गया। यह देखकर अन्य तपस्वियों ने भी मिथ्यादर्शन छोड़कर तप, संयम आदि को धारण किया। केवलज्ञान प्राप्ति के ६९ वर्ष ७ माह तक विहार करने के बाद आयु के एक माह शेष रहने पर पार्श्वनाथ ३६ मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर विराजमान हो गये। वहीं से पार्श्वनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया। इन्द्रों ने वहाँ आकर उनका निर्वाणकल्याणक मनाया।

इस प्रकार उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ का वृत्तान्त वर्णित है। संक्षेप में, मरुभूति और कमठ के भवों का वृत्तान्त इस प्रकार है :

१- मरुभूति	१- कमठ
२- वज्रघोष हाथी	२- कुक्कुट सर्प
३- सहस्रार स्वर्ग में देव	३- धूमप्रभा नरक में नारकी
४- रश्मिवेग	४- अजगर
५- अच्युतस्वर्ग में देव	५- छठवें नरक में नारकी
६- वज्रनाभि चक्रवर्ती	६- कुरंग-नामक भील
७- मध्य ग्रैवेयक में अहमिन्द्र	७- नारकी
८- राजा आनन्द	८- सिंह

९- अच्युतस्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र	९- नारकी
१०- पार्श्वनाथ	१०- महीपाल
	११- शम्बर नामक ज्योतिषी देव ।[1]

(ख) सर्गानुसार विषय-विवेचन

प्रथम सर्ग

भरत क्षेत्र में धनधान्यादि से सम्पन्न सुरम्य नामक देश था। यहाँ की नदियाँ स्फटिकों से परिपूर्ण थीं। जहाँ खेतों में परिपक्व ईख राहगीरों की प्यास को दूर करती थी। उस देश में सर्वसम्पन्न पोदनपुर नामक एक नगर था। नगर के रत्नजटित प्राकार की शोभा अत्यन्त दर्शनीय थी। उस नगर में प्रभूत धनधान्य से समृद्धिशाली, गुणवान्, कठोर दण्ड का धारक, श्रीनिलय राजा अरविन्द राज्य करता था। उस राजा के द्वारा वह नगर निरन्तर उन्नतिशील था। राजा अत्यन्त दानी, दयालु और यशस्वी था। दान देते समय उसके मुख से "लाख" संख्या से कम कभी नहीं निकलता था। वह कुमार्गगामियों को सोते समय भी अपनी तेजोमय आंखों से देखकर दण्ड देता था। धर्म, अर्थ और काम उसके पास निरन्तर निवास करते थे। प्रजाओं को अच्छे या बुरे कर्मों का फल परोक्ष में करने पर भी उसके द्वारा मिल ही जाता था।

राजा अरविन्द का विलक्षण गुणों से सम्पन्न विश्वभूति नामक एक मंत्री था। एक दिन विश्वभूति मंत्री ने राजा की प्रशंसा करते हुए वृद्धावस्था की विविध कमजोरियाँ दिखाकर आत्मकल्याण हेतु जिनदीक्षा लेने की अनुमति माँगी। राजा से अनुमति पाने के बाद अपनी प्रिया अनुंधन्धरी को आश्वस्त करके अनुसरण करने वाले अपने दोनों पुत्रों को रोककर उसने तपस्या हेतु वन के लिए प्रस्थान किया।

१- जातः प्राङ् मरुभूतिरन्विभपतिः देवः सहस्रारजो
विद्येशो च्युतकल्पजः क्षितिभृतां श्री बज्रनाभिः पतिः।
देवो मध्यममध्यमे नृपगुणैरानन्दनामानते
देवेन्द्रो हतघातिसंहतिरवत्वस्मान्स पार्श्वेश्वरः॥
कमठः कुक्कुटसर्पः पञ्चमभूजोऽहिरवभवदथ नरके।
व्याधोऽधोगः सिंहो नारकी नरपो नु शम्बरो दिविजः॥
—उत्तरपुराण ७३।१६९-१७०, पृ० ४४१-४२।

विश्वभूति के प्रव्रजित हो जाने पर राजा अरविन्द ने उसके छोटे पुत्र मरुभूति के लिए मंत्री बना लिया। क्योंकि वह बड़े पुत्र कमठ की अपेक्षा अधिक गुणवान् था।

मंत्री पद पाकर मरुभूति अपनी प्रिया वसुन्धरा के साथ वसुन्धरा (पृथिवी) का अधिक ध्यान रखने लगा। उसकी मंत्रणा से शत्रु राजाओं की सम्पत्तियाँ भी राजा अरविन्द के पास आ गईं। एक बार राजा अरविन्द मंत्री मरुभूति के साथ प्रान्तिक शत्रु वज्रवीर को जीतने की इच्छा से कमठ को पोदनपुर की रक्षा का भार सौंपकर पद्मपुर पर चढ़ाई करने गया। वहाँ पहुंचकर राजा ने उद्दामदर्प वाले वज्रवीर की सम्पत्तियों को रोंद डाला। बज्रवीर ने भी राजा अरविन्द का डटकर मुकाबला किया, किन्तु अरविन्द के कठोर दण्ड को वह वर्दाश्त नहीं कर सका। अन्ततः विजयश्री अरविन्द को ही प्राप्त हुई। वज्रवीर को जीतकर विपुल सम्पत्ति के साथ राजा अरविन्द अपने नगर को वापिस आया।

द्वितीय सर्ग

राजा के पोदनपुर आ जाने पर एक गुप्तचर ने आकर राजा से निवेदन किया। महाराज ! आपका सुयश यद्यपि सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु कमठ ने आपकी अनुपस्थिति में वियुक्त स्त्रियों के मुख को रंजित करके उसे कलंकित कर दिया है। जब आप वज्रवीर को जीतने के लिए यहाँ से चले गये तो कमठ ने अपने भाई मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा को देखा। देखकर उसके रूप सौन्दर्य से वह आकृष्ट हो गया। वसुन्धरा के विना उसका ताप वढ़ने लगा। उसके मित्र कलहंस द्वारा पूंछे जाने पर उसने अपनी बीमारी को वसुन्धरानिमित्तक बताया। कलहंस ने मित्र की बात को जानकर वसुन्धरा से कहा कि कमठ अत्यन्त बीमार है और वह तुमसे मिलना चाहता है। कमठ की बीमारी का समाचार सुनकर वसुन्धरा उसके पास गई। कमठ को देखते ही वसुन्धरा ने उसके काम विकारों को समझ लिया। क्योंकि स्त्रियाँ इस विषय में चतुर होती हैं। अनेक नीतियुक्त वार्ताओं के द्वारा परलोकादि का भय दिखाकर वसुन्धरा ने व्यभिचार से बचने का पूरा-पूरा प्रयास किया। किन्तु कमठ के बार-२ अनुनय-विनय करने पर वह भी काम के वशीभूत हो गई। और उसने आत्म-समर्पण कर दिया। काम के वशीभूत होकर स्त्रियाँ अपने रूप, कुल, यौवन और कुलीनता आदि का भी विचार नहीं करती हैं। गुप्तचर इस प्रकार कमठ का दुराचार सूचित करके चला गया।

गुप्तचर के चले जाने पर मंत्री मरुभूति ने कहा— देव ! यद्यपि भय से

आपके अनुजीवीजन झूठ नहीं बोलते हैं किन्तु घटना की जाँच के बिना कोई दण्ड देना उचित नहीं है। राजा ने अपराध विशेषज्ञों द्वारा घटना की जाँच कराई तथा गुप्तचर द्वारा सूचित घटना को सही पाया। अपराधी कमठ को राजा ने गधेपर बैठाकर नगर से निर्वासित करा दिया। वहाँ से निकलकर कमठ भूताचल पर्वत पर पहुंचा। उस पर्वत पर अत्यन्त रमणीय एक तपस्वियों की आश्रमभूमि थी। वहीं जाकर कमठ तपस्या करने लगा। मरुभूति कमठ के वियोग को सहन नहीं कर सका और राजा के द्वारा वार-वार रोके जाने पर भी भ्रातृप्रेमवश अग्रज कमठ से मिलने के लिए चल पड़ा।

मरुभूति के चले जाने के बाद महाराजा अरविन्द महारानी के साथ प्रासाद पर वैठकर शुभ्र आकाश को देखने लगे। उस देखकर उसी की तरह नश्यमान-संसार की अनित्यता का वे विचार कर रहे थे, कि उसी समय वनपाल ने महर्षि स्वयंप्रभ के आगमन की सूचना दी। हे देव! महर्षि के प्रभाव से उद्यान के वृक्षों और लताओं में पुष्प और फल आ गये हैं। हिंसक पशुओं ने अपने हिंसक व्यापार को छोड़ दिया है। राजा ने वनपाल के वचनों को सुनकर महर्षि को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। भेरी पिटवाकर राजा ने उद्यान में प्रवेश किया। मुनिवर की वंदना के बाद राजा अरविन्द वहीं पृथिवी पर वैठ गया।

तृतीय सर्ग

तदुपरान्त राजा अरविन्द ने आकांक्षावश मुनिवर से पूछा कि महाराज! मेरा मंत्री मरुभूति अपने भाई कमठ को खोजने के लिए गया था। वह आज तक वापिस नहीं आया है सो क्या कारण है। मुनिराज ने अवधि ज्ञान से सब वृत्तान्त को जानकर राजा से कहा कि राजन्! बिना विचार किये ही तुम्हारा मंत्री स्वाभाविक भ्रातृप्रेमवश कमठ से मिलने चला गया। किन्तु कमठ ने अनुज मरुभूति को अपने सामने देखकर वैर के कारण कठोर वचन बोलते हुए उसके ऊपर शिला उठाकर पटक दी। फलस्वरूप मरुभूति का वहीं प्राणान्त हो गया। मृत्यु के बाद मरुभूति का जीव सल्लकीवन में वज्रघोष नामक गजराज हुआ है। वह वन विभिन्न वृक्षों और पशुओं से युक्त है।

इधर जब आश्रमवासी तपस्वियों को कमठ के भ्रातृहनन रूप घृणित कुकृत्य का पता चला तो उन्होंने कमठ को आश्रम से निकाल दिया। यहाँ से निकलने पर कमठ ने किरात का वेश धारण कर लिया। मरने पर वह किरात वेषधारी कमठ प्राणीवध रूप पापों के कारण उसी सल्लकीवन में कुकवाकु नामक सर्प हुआ है। पति और पुत्र के वियोग से दुःखी मरुभूति की माता ने मरने पर उसी सल्लकी वन

में वानरी की पर्याय प्राप्त की है।

महाराजा अरविन्द ने महर्षि स्वयंप्रभ के मुख से उक्त वृत्तान्त को सुनकर अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके मुनि की आज्ञापूर्वक मुनिव्रत धारण कर लिया। राजा ने अपनी आयु को बारह वर्ष मात्र शेष जानकर संघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। यात्रार्थ जाते समय वे सल्लकीवन के मध्य से निकले। जनघोष को सुनकर वज्रघोष हाथी क्रुद्ध होकर लोगों को कुचलता, मारता हुआ मुनिराज अरविन्द के पास पहुंचा। अरविन्द मुनि को देखते ही उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया और एकदम शान्त होकर रह गया। अपने स्वामी के प्रति उसे अपूर्व स्नेह उमड़ आया। मुनिराज ने भी अवधिज्ञान के द्वारा जान लिया कि यह हाथी मेरे मंत्री मरुभूति का जीव है। मुनिराज ने उस गजराज को उपदेश दिया, जिससे उसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया। संघ ने अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थान किया।

वह वज्रघोष अब व्रतादि का पालन करने लगा। मात्र शुष्कपत्रों से अपनी आजीविका चलाने लगा, अतएव अत्यन्त कृश हो गया। एक बार वह जल पीने के लिए जलाशय में घुसा। कीचड़ में फंस जाने के कारण बहुत प्रयत्न करने पर भी वह निकलने में असमर्थ रहा। नृशंस कुक्कवाकु सर्प ने मौका पाकर हाथी को डस लिया। फलस्वरूप उस हाथी की मृत्यु हो गयी। पुण्य के प्रभाव से वह हाथी महाशुक्र स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में देव हुआ। मरुभूति की पूर्वजन्म की माता, जो कि उसी वन में वानरी हुई थी, ने उस सर्प के घृणित कार्य को देखकर उस सर्प पर प्रस्तरखण्ड को गिरा दिया। जिससे वह सर्प भी मर गया और मरकर पाप के कारण वह नरक गया। हाथी के जीव स्वयंप्रभ विमान के देव ने अवधिज्ञान द्वारा अपने पूर्ववृत्तान्तों को जान लिया। पृथिवी पर आकर उसने मुनि अरविन्द की विविध प्रकार से अभ्यर्चना की। अनन्तर वह स्वर्ग में सोलह हजार वर्ष की आयुपर्यन्त विविध दिव्य सुखों को भोगता रहा।

चतुर्थ सर्ग

सुमेरु पर्वत पर सर्वशोभासम्पन्न विजयार्ध नाम का एक पर्वत था। इस पर्वत पर आकाशगामी विद्याधरों का निवास स्थान त्रिलोकोत्तम नाम का नगर था। इस नगर का रक्षक विद्युत्प्रभ नामक विद्याधर था। यद्यपि उसकी अनेक पत्नियाँ थीं। उन सबमें विद्युन्माला विद्युत्प्रथ को सर्वाधिक प्रिय थी। वह विद्युत्प्रभ को उसी तरह शोभित करती थी, जिस तरह कि अनेक लताओं के होने पर ही नंदन वन की कल्पलता शोभित करती है। कालान्तर में विद्युन्माला ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

जिसका नाम रश्मिवेग रखा गया। शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ कुमार रश्मिवेग समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो गया। एक बार पूर्वभव के स्मरण हो जाने के कारण उसे संसार के भोगों से विरक्ति हो गई। वह समाधियुक्त नामक मुनि के पास गया और मुनि की आज्ञापूर्वक उसने जिनदीक्षा धारण कर ली।

रश्मिवेग मुनि एक समय हिमालय पर्वत पर एक गुहा में कायोत्सर्ग विधि के अनुसार समाधि में लीन थे। उसी समय नरक से निकलकर अजगर पर्याय को प्राप्त कमठ के जीव ने मुनिराज को काट खाया। मुनि ने तज्जन्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन किया। मरणान्तर वे अच्युत स्वर्ग में विद्युत्प्रभ नामक देव हुए। उस अजगर ने भी मरकर अशुभकर्म के उदय से तमःप्रभा नामक छटवें नरक में जन्म धारण किया।

पश्चिम विदेह के पद्म नामक देश में अश्वपुर नामक प्रसिद्ध नगर था। नगर सर्वविध सम्पन्न और वैभवशाली था। उस नगर में वज्रवीर्य नामक राजा राज्य करता था। उसकी विजया नाम की रानी थी। रानी विजया का शरीर यहाँ तक कि प्रत्येक अंग–प्रत्यंग शोभासम्पन्न था। कुछ समय बीतने पर रानी विजया ने गर्भ को धारण किया। गर्भ की रक्षार्थ राजा ने जप-होम आदि कर्मों का अनुष्ठान कराया। यथासमय पुंसवन संस्कार किया गया। अच्युत स्वर्ग से निकलकर विद्युत्प्रभ देव ने विजया रानी के गर्भ से पुत्र रूप में जन्म लिया। पुत्रोत्पत्ति की शुभ सूचना पाकर राजा वज्रवीर्य ने चेटी को विविध वस्त्राभूषण देकर संतुष्ट किया। जन्म के दिन से दसवें दिन नामकरण संस्कार सम्पन्न हुआ और बालक का नाम वज्रनाभ रखा गया।

पञ्चम सर्ग

कुमार वज्रनाभ क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने लगा। चौल-संस्कार के बाद सर्वप्रथम उसने व्याकरणशास्त्र का ज्ञान किया। अनन्तर अपने उद्यम से उसने चार प्रकार की राजविद्याओं को सम्प्रदायानुसार सीख लिया। बाल्यावस्था के बाद यौवनागम होने पर वह और अधिक मनोहर शरीर वाला हो गया। उसने राज-लक्ष्मी के साथ विनयलक्ष्मी को भी धारण किया। शस्त्रविद्या, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र आदि का उसने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। अनन्तर अनेक विद्यावती राजकन्यायें उसे स्वयं प्राप्त हो गईं। अनेक गुणी राजकन्याओं के साथ उसने परिणय किया।

शुभवसर जानकर वज्रनाभ के पिता वज्रवीर्य ने उसे युवराज पद पर अभि–

षिक्त करके पृथिवी के भार को वज्रनाभ पर रख दिया। युवराज को देखने की इच्छा से ही मानों समस्त ऋतुयें पुष्पों को उपहार में देने के लिए क्रमशः उपस्थित हो गईं। शरद्, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन छहों ऋतुओं का आनन्द लेता हुआ युवराज वज्रनाभ का समय व्यतीत होने लगा। छहों ऋतुओं का बड़ा ही रम्य वर्णन प्रसंगतः यहाँ किया गया है।

एक दिन शस्त्रागार के अधिकारी ने वज्रनाभ को सविनय सूचना दी कि हे देव! शस्त्रशाला में एक चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई है, जिससे सर्वत्र प्रकाश दृष्टि-गोचर हो रहा है।

षष्ठ सर्ग

जयनशील चक्रवर्ती वज्रनाभ ने उस चक्ररत्न की शास्त्रानुसार यथायोग्य पूजा करके सम्पूर्ण दिङ्मण्डल की विजय के लिए प्रस्थान की तैयारी की। प्रस्थान-कालीन नगाड़े की जोरदार आवाज ने शत्रु राजाओं के मन को भय से छिन्न कर दिया। प्रयाणकाल में राजा ने जिनेन्द्र भगवान् की अर्चना की और जिनशासन-द्विजों द्वारा उच्चरित आशीर्वाद को प्राप्त किया। मांगलिक कलशों को धारण किये हुए कांचनवर्णा वारयोषिताओं ने उस चक्रवर्ती को चारों तरफ से घेर लिया। प्रातःकाल सूर्योदय के बाद राजा ने प्रयाण किया। वह चक्ररत्न स्वयं ही चक्रवर्ती के आगे-आगे चलने लगा। उस चक्ररत्न के तेज से शत्रु राजाओं के नेत्र भयभीत होने लगे।

चक्रवर्ती वज्रनाभ के साथ चारों तरह की विशाल सेना थी। अनेक मण्डलों के अधिपति-सामन्त राजा भी चक्रवर्ती की सेना में शामिल थे। योद्धाओं के साथ चक्रवर्ती रक्ता नदी पर पहुंचे। आगे उसी मार्ग में शीतोदा नदी मिली। उसी नदी के तट पर चक्रवर्ती और सेना ने विश्राम किया। पारिपार्श्विकों ने चक्रवर्ती के चारों तरफ अन्य राजाओं का निवास कराया। सन्ध्या के समय स्कन्धागार में चक्र-वर्ती के प्रवेश करने पर विविध वाद्यों की उच्चैःध्वनि के साथ नान्दी स्वर हुआ। सन्ध्या का वातावरण बड़ा ही रमणीय था। शनैः शनैः रात्रि का समय आया। चन्द्रमा की शीतल किरणें नदी के सिकतामय तटों पर बिखर गई। चन्द्रमा का प्रभाव सर्वत्र समान रूप से फैल गया। क्योंकि राज (चन्द्र) प्रभाव ऐसा ही होता है। धीरे धीरे रात्रि भी बीतने लगी। प्रातःकाल में सूर्यरूपी प्रिय के पुनरागमन के भय से दुराचारिणी शोभा कुमुदों से निकलकर पहले ही कमलों को प्राप्त हो गई। प्रभातकालीन शीतल मन्द पवन बहने लगा। चारणों ने चक्रवर्ती की विविध प्रकार से स्तुति की। उनकी स्तुतियों से जागकर चक्रवर्ती ने शय्या का त्याग किया और वे

खड़े हो गये।

सप्तम सर्ग

प्रातःकाल में सूर्य की किरणें सर्वत्र फैल गई। चक्रवर्ती व्रजनाभ को देखकर शत्रुओं की सेना चंचल हो उठी। चक्रवर्ती सीतोदा नदी के पास पहुंचे। वहाँ भक्ति-वशात् चक्रवर्ती ने जिनदेव की प्रतिमा की विविध प्रकार से स्तुति की। वहाँ से प्रस्थान करने पर वारह योजन आगे चक्रवर्ती के रथों के घोड़े स्तंभित की तरह खड़े होकर रह गये। रथवाहक ने चक्रवर्ती से निवेदन किया कि इससे आगे अब रथों का जाना सभव नहीं हैं, क्योंकि यहाँ अदृष्ट नियामक है। यहाँ एक मागध व्यंतराधिप का वास हैं। उक्त आप्तवचन को सुनकर चक्रवर्ती ने एक तेज वाण छोड़ा। वाण के तेज से नदी-देवता के नेत्र निमीलित हो गये। जलपक्षियाँ जल में डूब गई। वाण ने मागध-व्यन्तराधिप के मणिमय हर्म्य को तोड़ डाला। यह देखकर व्यन्तरा-धिप अत्यन्त क्रुद्ध होकर वाण छोड़ने वाले का उपहास करने लगा। मागधदेव के सेनापति ने अनेक वीरतापूर्ण वातें की तथा युद्ध को तैयार हो गया।

युद्ध के लिए उद्यत सेना को देखकर कुछ कुलवृद्धों ने मागध व्यन्तराधिप से कहा कि वलशाली लोगों के साथ सन्धि करना ही श्रेयस्कर होता है। मागध व्यन्त-राधिप ने कुलवृद्धों के वचनप्रामाण्य से चक्रवर्ती की स्तुति की तथा विविध वस्तुयें भेट में दीं। चक्रवर्ती ने भी प्रसन्न होकर उसको वहीं प्रतिष्ठापित कर दिया। अनन्तर चक्रवर्ती ने सिंधु-घाटी में प्रवेश किया। वहाँ वरतनु देव ने चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर उन्हें चूड़ारत्न एवं मणिकंकण भेंट किया। इसके बाद चक्रवर्ती की सेना अन्य राजाओं की विजयश्री को प्राप्त करते हुए विजयार्ध पर्वत पर पहुंची। यहाँ पर विजयार्धकुमार ने भी नम्र होकर चक्रवर्ती की स्तुति की तथा विविध वस्तुयें भेंट की। वहाँ कृतमालदेव ने चक्रवर्ती को चौदह आभूषण प्रदान किये तथा गुहा के खोलने का उपाय बताया। चक्रवर्ती के आदेश से सेनापति ने दण्डरत्न के द्वारा गुहा का दरवाजा खोल दिया। युद्ध से भयभीत म्लेच्छ उनकी शरण में आ गये।

इसके बाद चक्रवर्ती वज्रनाभ देव-मानवी सेना के साथ वृषभाचल पर पहुंचा। वहाँ विद्याधरों ने उसे स्त्रीरत्न प्रदान किये। ताम्रमालदेव ने आकर उसे छत्र-चामर भेंट किये। इस तरह समस्तभूमण्डल पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती वज्रनाभ अपने नगर अश्वपुर को वापिस आये।

अष्टम सर्ग

चक्रवर्ती वज्रनाभ के छियानवें हजार रानियाँ, चौरासी लाख मदोद्धत हाथी,

अठारह करोड़ घोड़े और इतने ही घुड़सवार थे। वत्तीस हजार राजा उनके सेवक थे। उनके पास नव निधियाँ और चौदह रत्न विद्यमान थे।

एक समय चक्रवर्ती वनमाली द्वारा प्रार्थित होने पर नगरवासियों के साथ वसन्तश्री देखने गया। वसन्त की शोभा वड़ी ही रमणीय थी। आम्र-वृक्षों पर गुन-गुनाहट के कारण भ्रमर गुंजार कर रहे थे। आम्र वास्तव में युवा पुरुषों के लिए तो कल्पवृक्ष है, क्योंकि आम्र के प्रताप से अलभ्य कृशोदरियों का अभिमान चूर हो जाता है। आम्रों के विषय में विविध तरह से मन ही मन कल्पनायें करता हुआ वह राजा अपनी प्रियतमा के साथ वन में घूमने लगा। नगरवासिनी नारियाँ वसन्त की शोभा को देखकर मुग्ध हो गईं। कुछ दम्पति परस्पर पुष्पप्रहार करने लगे अतः कामदेव उनके मन को पीड़ा पहुंचाने लगा।

शनैः शनैः समय जाता रहा। वज्रनाभ चक्रवर्ती की विनोद क्रीड़ा को देखने के लिए ही मानो सूर्य सिर पर चढ़ आया। वृक्षों की छाया सूर्य के ताप को सहन न कर पाने से शाखा-मण्डपों में घुस गई। कामिनियों के कपोलों से पसीना चूने लगा अतः उनके पतियों ने उनके ऊपर दुपट्टा तान लिया। समीपवर्ती जलाशय की शीतल-मन्द समीर ने चक्रवर्ती का मन जलाशय की ओर प्रेरित किया। जलाशय सर्व-शोभा सम्पन्न था। वहाँ विकसित कमलों को चक्रवर्ती की रानियाँ अपने मुख का प्रतिविम्ब समझने लगीं। कुछ पुरुष जल में घुसकर जलक्रीडा करने लगे। उन्होंने अपनी प्रियाओं के पास शीतल जल फेंका, किन्तु उसने कामाग्नि के लिए ईंधन का काम किया। तालाव का तट नीलमणियों से वना था, अतएव अन्धकारित होने से कामपीड़ित दम्पति निःशंक होकर कामपीड़ा दूर करने लगे। उस जलाशय पर बहुत समय तक चक्रवर्ती ने रमण किया।

तदनन्तर वनविहार के बाद चक्रवर्ती ने अपने नगर को प्रस्थान करने की तैयारी की। उस समय वौर आदि के झर जाने से वसन्त शोभाहीन जान पड़ता था। इस परिवर्तन को देखकर उनका मन इन्द्रियों से विरक्त हो गया। चक्रवर्ती विचार करने लगा कि विषयों में तो मूर्ख ही मृगतृष्णा की तरह मुग्ध होते हैं, विद्वान् नहीं। विषयजन्य सुख पराधीन और नश्य हैं। ये गुणों का नाश कर डालते हैं। ऐसा विचार कर चक्रवर्ती ने क्षेमंकर मुनि के पास जाकर तप ग्रहण कर लिया और असिधारा पर चलने के समान कठिन यम-नियमों का पालन करने लगे।

कमठ का जीव अजगर पर्याय के बाद छठें नरक गया था, वहाँ से निकलकर किरात जाति में कुरंग नामक भील हुआ। उस पापी ने विपुलाचल पर तप कर रहे वज्रनाभ मुनि को वाण द्वारा मार डाला। मरने पर उनका जीव सुभद्र नामक

ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ। भील भी आयु के अन्त में मरकर सप्तम नरक में नारकी हुआ।

अयोध्या नगरी में विद्वान्, विवेकी और प्रतापी वज्रबाहु राजा राज्य करता था। उसके राज्य में पृथिवी मनोरथप्रसू थी। उस राजा की प्रभाकरी नामक गुणवती रानी थी। उस रानी के गर्भ में वज्रनाभ का जीव सुभद्र ग्रैवेयक से चयकर आया और पुत्ररत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। पुत्रोत्पत्ति से राजा तथा समस्त प्रजा को अतिशय आनंद हुआ। अतएव उसका नाम आनन्द रखा गया। बज्रबाहु आनन्द को अपना मूर्तिमान् प्रताप मानता था। वानप्रस्थाश्रम में राजा ने विरक्त होकर राज्यभार आनन्द को सौंपकर वन की शरण ली। आनन्द ने अपने प्रताप से समस्त पृथिवी को वश में कर लिया। धरातल से ईति-भीति आदि विघ्न विदा हो गये। आनन्द के यश से समस्त दिशायें व्याप्त हो गई। इस प्रकार यशस्वी देवों द्वारा पूजित वह राजा लक्ष्मी का भोग करने लगा।

नवम सर्ग

पूर्व जन्म के पुण्यकर्म के उदय से राजा आनन्द ने सर्व मंगलों का उत्पादक जिन महोत्सव करना प्रारंभ किया। उस जिनोत्सव के दर्शनार्थ तत्त्व-जिज्ञासु आत्मिक सुखाभिलाषी मुमुक्षुपुरुष एकत्र हुए। मयूरपिच्छधारी एक दिगम्बर मुनिसंघ भी पधारा। वे मुनिगण किसी वाहन से गमन नहीं करते थे। धर्म की साक्षात् मूर्ति वे चौदह मार्गणाओं के जानने वाले, चारित्र पालन में तत्पर, श्रेष्ठकुलोत्पन्न और क्षीण-काय थे। निस्पृह वे मुनिजन इन्द्रिय-निरोध में तत्पर तथा सावधानीपूर्वक संयम के पालक थे। कामनिग्रह के कारण निराकुल वे निर्दोषगुण को दिखलाते हुए के समान वस्त्रों के त्यागी थे। स्नान न करने से दृश्यमान मैल मानो दुर्धरध्यान के कारण ऊपर आ गया कर्ममल ही था। परीषह रूपी मगरमच्छों से तिरस्कृत होने पर भी वे संसार समुद्र को पार कर रहे थे। उस मुनिसंघ को राजा ने भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया और संघनायक से विनयपूर्वक इस प्रकार प्रार्थना की।

हे प्रभो! आपके उदर में शास्त्ररूपी समुद्र समाया हुआ है अतः कोई भी पदार्थ आपसे अविदित नहीं है। आप मेरे संशय को दूर कीजिये। भगवन्! अचेतन जिनबिंब भव्यों के मनोरथ को कैसे सिद्ध करते हैं और अकृत्रिम जिन चैत्यालय कैसे संभव हैं। राजा के उक्त प्रश्नों को सुनकर मुनिराज ने कहा—राजन्! जिनेन्द्र भगवान् के बिंब में की गई भक्ति कल्पलता की तरह प्रार्थना करने पर पर मनोरथ पूर्ण करती है। जैसे अविद्यमान गरुण का ध्यान करने से सर्पविष आदि दूर हो जाता है, उसी प्रकार जिनमूर्ति की भक्ति से पाप दूर हो जाये, इसमें क्या आश्चर्य है। जिनेन्द्र-

भगवान् के अकृत्रिम चैत्यालय अन्य पदार्थों के समान नहीं हैं कि उनका किसी के द्वारा निर्माण जरूरी हो। वे अनादि होने से नित्य हैं। देवताओं के विमानों में अकृत्रिम जिनबिंब विराजमान हैं। मुनिराज के समाधानों को सुनकर राजा आनन्द को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

देवताओं के विमानों में अकृत्रिम जिनबिंब होने से राजा ने सूर्यदेव के विमान में स्थित जिनबिंब को अर्घ्य प्रदान किया। राजा आनन्द अपनी प्रजा की सावधानी से रक्षा करता था। अत्यन्त साहसी उस राजा का शासन निर्दोष मार्ग पर चलने वालों के लिए अमृत के समान सुखद और कुमार्गियों के लिए विषकंटक के समान दुःखद था। उसका शुभ्र यश चारों तरफ व्याप्त था।

एक दिन दर्पण में चेहरा देखते समय राजा ने अपने शिर में कुछ पके सफेद बालों को देखा। वृद्धावस्था समीप जान उसने राज्यभार पुत्र को सौंप दिया तथा वन की ओर प्रस्थान किया। बहिरंग परिग्रहों का त्यागकर उसने निधिगुप्त मुनि के पास तप धारण कर लिया। वे सभी परीषहों को जीतने लगे और समाधिभावना का आराधन करने लगे। पंचनमस्कारमंत्र का ध्यान करते हुए उन्होंने अन्तरायों पर विजय प्राप्त कर ली। यम-नियम के पालन से उनकी ज्ञानज्योति अत्यन्त दीप्त हो गई और वे तीर्थंकर नाम कर्म की उपयोगिनी दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं का चिंतन करने लगे।

एक बार वे वन में कायोत्सर्ग कर रहे थे कि नरक से निकलकर सिंह पर्याय को धारण किये कमठ के जीव ने क्रोधवश मुनिराज पर आक्रमण कर दिया। मुनिराज मरकर आनत स्वर्ग में देव हुए तथा सिंह भी आयु के अंत में मरकर छठे नरक में उत्पन्न हुआ। आनत स्वर्ग में उत्पन्न उस देव का शरीर साढ़े तीन अरत्नि ऊँचा था। दस माह में वह श्वास लेता था तथा वीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी। वीस हजार वर्ष में एक वार स्मरण द्वारा अमृताहार करता था। जब उसकी आयु छह मास रह गई तो इन्द्र का आसन कंपायमान हुआ। अवधिज्ञान से इन्द्र ने तीर्थंकर का जन्म समीप जान उनकी माता की सेवा सुश्रूषा के लिए दिक्कुमारियों को भेज दिया। भावी तीर्थंकर की माता महाराज विश्वसेन की महारानी की सर्वांग शोभा को देखकर वे दिक्कुमारियाँ आश्चर्यचकित होकर रह गईं। वे विविध तरह से महारानी की सेवा करने लगीं। कुवेर की आज्ञा से देवों ने आकाश से विश्वसेन महाराज के आँगन में सुवर्णवृष्टि करना प्रारंभ कर दी। महारानी को ये दिन बड़े ही मनोरम थे, क्योंकि दिक्कुमारियाँ उनकी सेवा करती थीं तथा आँगन में देव सुवर्णवृष्टि करते थे। एक दिन रात्रि के अन्तिम भाग में महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। महाराज ने महारानी

द्वारा पूछे जाने पर उन स्वप्नों का फल भगवान् श्री जिनेन्द्र का जन्म होना बताया। यह जानकर महारानी को अत्यन्त आनन्द हुआ।

दशम सर्ग

अनन्तर राजा विश्वसेन की प्रियतमा ने आनत स्वर्ग से आये तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीव को छप्पन कुमारियों द्वारा शुद्ध किये गये अपने उदर में धारण किया। भगवान् जिनेन्द्र को अपने उदर में धारण करने के कारण वह और अधिक सुशोभित हुई। माता ब्रह्मदत्ता के उदर में भगवान् जिनेन्द्र के आ जाने पर स्त्रियों के योग्य अनन्त गुण बढ़ने लगे, मानो वे भगवान् जिनेन्द्र की सेवा के लिए आये हों। भगवान् के गर्भ में रहने पर माता का उदर बिल्कुल न बढ़ा और न ही माता का शरीर जरा भी फीका पड़ा। अपितु उनकी कान्ति और अधिक बढ़ गई। यथासमय माता ब्रह्मदत्ता ने देदीप्यमान कांतियुक्त शरीर के धारक भगवान् जिनेन्द्र को उत्पन्न किया। उनके जन्मते ही दसों दिशायें निर्मल हो गईं। विश्वसेन के घर में उस समय आकाश से कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा होने लगी। आकाश में जिनेन्द्र भगवान् की जय-जयकार होने लगी। भगवान् जिनेन्द्र के जन्म के कारण इन्द्र का आसन कंपायमान हो गया। अवधिज्ञान से इन्द्र ने भगवान् जिनेन्द्र का जन्म जान बनारस की ओर प्रस्थान किया।

इन्द्र के गमन के समय हाथी पर्वत के समान जान पड़ते थे और हजारों देवांगनायें लता जैसी मालूम पड़ती थीं तथा आकाश चलता फिरता वन जैसा मालूम पड़ता था। देवों के चित्र-विचित्र मणि-भूषणों की कांति से आकाश में इन्द्रधनुष सा जान पड़ता था। तत्काल बरसे हुए विकसित कमलों पर नृत्य करती हुयी देवांगना लक्ष्मी के समान जान पड़ती थी। चलते हुए हाथियों का मदप्रवाह आकाश मार्ग में कीचड़ सा जान पड़ता था। फहराती हुयी स्वर्णमयी पताकायें बिजली के गुणों के समान प्रतीत होती थीं। अश्व और गज उस समय अपनी अपनी शोभा से सबके चित्तों को हरण करते थे। इन्द्र के बनारस आ जाने पर इन्द्राणी गर्भगृह में गई और भगवान् जिनेन्द्र की आकृति का मायामयी बालक रखकर भगवान् को उठाकर इन्द्र को समर्पित कर दिया। उन्हें देखते ही देवों ने नमस्कार किया। देवों के जयकार के साथ दुंदुभियों का शब्द होने लगा। भगवान् जिनेन्द्र को देखने के लिए इन्द्र ने हजार नेत्र धारण किये, फिर भी उसे तृप्ति न हुई। इन्द्र भगवान् जिनेन्द्र को मेरु पर्वत की ओर लेकर चला तो अनुकूल पवन बहने लगा। गंधर्व विविध प्रकार के नृत्य करने लगे। किल्विष जाति के देव परिहास के अनुकूल रूप धारण करने लगे, जिससे इन्द्र को अतिशय आनन्द हुआ। कुछ देव मेघों के समान काला रूप धारण

करके विरह व्यथा को न सहने वाली देवांगनाओं को पग पग पर व्याकुल करते जाते थे।

अनन्तर मेरु पर्वत पर पहुंचने पर सफेद छत्रों का धारक देवसमूह ऐसा जान पड़ता था, मानो अभिषेक को लाया गया क्षीरसागर का जल हो। जयकार के कोलाहल से वहाँ की समस्त गुफायें शब्दायमान थीं। मेरुपर्वत की मणिमयी पाण्डुकशिला पर स्थित रत्नमयी सिंहासन पर भगवान् जिनेन्द्र को विराजमान किया। देवगण क्षीरसागर से जल ले आये। उस समय मेरु पर्वत के चारों ओर जल ही जल दीख पड़ता था। इन्द्र ने स्वर्णमयी कलशों से भगवान् जिनेन्द्र का अभिषेक किया। मनोहर गायन के साथ प्रसन्न इन्द्र ने भगवान् के समक्ष नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया। देवांगनाओं के गीतों के कारण वहाँ की शब्दायमान गुफायें ऐसी मालूम पड़ती थीं मानों नृत्य करने वाले इन्द्र के पादाघात को सहन न कर सकने के कारण चिल्ला रही हों। इस प्रकार इन्द्र ने जगद्गुरु, अनंतज्ञान के धारक भगवाभ् जिनेन्द्र की पूजा कर हाथ जोड़ उनकी इस प्रकार की स्तुति प्रारम्भ की।

हे भगवन् ! आप तीनों लोकों के उपकारी हैं, लोक के समस्त तत्त्वों के जानकार हैं। हे भगवन् ! आपकी कृपा के बिना लोग कर्मों के नाश के लिए समर्थ नहीं हो सकते। हे भगवन् ! आप अपने मनोहर वचनों से लोगों को सुमार्ग पर लाइये। इस प्रकार इन्द्र बहुत देर तक स्तुति कर बनारस को लौट गया। इन्द्र को वापिस आया देख विश्वसेन को बड़ा आश्चर्य हुआ। अर्चना करने के बाद इन्द्र ने राजा विश्वसेन से कहा— राजन् ! ये देवगण भगवान् जिनेन्द्र के पाँचों कल्याणकों के समय आकर उनकी भक्ति से पूजा करते हैं। अतः महारानी ब्रह्मदत्ता की गोद में कृत्रिम बालक को सुलाकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर सागर के जल से अभिषेक किया। भगवान् जिनेन्द्र के पार्श्व में अद्वितीय कांति और सुख दीख पड़ता था, इसलिए उनका नाम पार्श्वनाथ रखा। इन्द्र ने विनयपूर्वक राजा से फिर कहा— राजन् ! आप ही धन्य हैं, जो भगवान् जिनेन्द्र के पिता बने। इसके बाद सभी देवगण अपने धाम को चले गये।

धीरे-धीरे पार्श्वनाथ की बाल्यावस्था व्यतीत हो गई। भगवान् जिनेन्द्र का शरीर सफेद रुधिर का धारक, कमल के समान सुगंधित, स्वेद और मलमूत्रादि से रहित, समस्त शुभ लक्षणों का धारक तथा वज्रवृषभनाराचसंहनन से युक्त था। इन्द्र सदैव उनकी सेवा करता था। एक समय एक अनुचर ने आकर भगवान् से निवेदन किया कि उपवन में एक मुनि पंचाग्नि तप कर रहा है। भगवान् ने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह कमठ का ही जीव है, जो नरक से निकलकर मनुष्य

पर्याय में आया है। भगवान् ने अनुचर से कहा कि उस मुनि का तप मिथ्या है। उससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। विश्वास दिलाने के लिए भगवान् हाथी पर बैठकर उपवन की ओर चले। भगवान् को देखने के लिए राजमार्ग में कोलाहल मच गया। कई स्त्रियाँ उन्हें देखकर काम के वशीभूत हो गई। कुछ अपना होश खो बैठी तथा कुछ अपनी बुद्धि को धिक्कारने लगीं। कोई स्त्री स्तनों पर आलेख पत्र आदि काढ़े जाने से सुशोभित छत पर बैठी थी, वह आकाश में कमलिनी जैसी मालूम पड़ती थी। कोई स्त्री स्मरपरवश हो अपनी नीवी ही देखने लगी। भगवान् के आगे आगे बढ़ जाने पर स्त्रियाँ टकटकी लगाकर देखती रहीं।

उपवन में पहुंचकर भगवान् ने पंचाग्नि तप कर रहे तपस्वी से कहा कि अज्ञानी! तू यह हिंसामय कुतप क्यों तप रहा है। यह सुनकर वह क्रुद्ध हो गया। उसके क्रोध की परवाह न कर भगवान् हँसने लगे और उन्होंने एक अधजली लकड़ी को कुल्हाड़ी से काटकर छटपटाते हुए नाग-नागिनी को बाहर निकाला। भगवान् ने उनके कानों में पंचनमस्कार मंत्र सुनाया, जिसके प्रभाव से मरकर वे धरणेन्द्र और पद्मावती नामक भवनवासी देव हुए। वे शीघ्र ही अवधि ज्ञान से अपने उपकारी को जानकर पृथिवी पर आये और उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ की पूजा की। वह तपस्वी भी आयु के अंत में मरकर भूतानंद देव हुआ। भगवान् जिनेन्द्र पार्श्वनाथ भी अपने माता-पिता और प्रजा को आनंद प्रदान करते हुए बनारस में सुखपूर्वक रहने लगे।

एकादश सर्ग

अनन्तर रूप यौवन से मनोहर अनेक कन्यायें भगवान् जिनेन्द्र को प्रदान करने के लिए अनेक राजा लोग बनारस आकर ठहरे। राजा विश्वसेन ने पार्श्वनाथ के पास जाकर कहा कि— प्रिय पुत्र! आप विशुद्ध ज्ञान के धारक हैं, अतः उचितानुचित के बारे में कुछ भी कहना व्यर्थ है। फिर भी बलवान् स्नेह मुझे वाचाल बना रहा है। यह भी एक बेजोड़ बात है, जो हम जैसे अकिंचन तुम्हारे माता पिता हैं। अथवा ठीक ही है देदीप्यमान मणि पाषाण से ही उत्पन्न होती है। कन्याओं को लेकर आये हुए राजाओं का आप स्वागत कीजिये और उन्हें अपनी स्वीकृति दीजिये। पिता के ऐसा कहने पर भी पार्श्वनाथ की विषय भोगों की ओर प्रवृत्ति न झुकी। उनके हृदय में यह विचार आया कि— विषय भोगों के स्वरूप को जानकर भी उनमें मन को लगाना दीपक लेकर कुए में गिरने के समान है। विषय भोगों में वैराग्य का होना ही उत्तम फल है। जब विषयभोग सर्वथा त्याज्य हैं तो फिर उन्हें ग्रहण करने से क्या प्रयोजन? पार्श्वनाथ इस प्रकार सोच ही रहे थे कि लोकान्तिक देव आये और इस प्रकार कहने लगे कि भगवन्!, कामशत्रु, जगत् के स्वामी आप प्रसन्न होवें। सब

जीवों का हितकारक आपको वैराग्य हुआ है, अब आप दिगम्बर दीक्षा धारण कीजिये। भगवन्! दुर्नय रूपी प्रबल चोरों के कारण मोक्ष का मार्ग अवरुद्ध है, उसे आप बताइये।

भगवान् ने उक्त वचनों को सुनकर उत्तर दिया कि मैं दिगम्बर दीक्षा के लिए सन्नद्ध हूं। भगवान् को नमस्कार करके लौकान्तिक देव चले गये। भगवान् के वैराग्य के कारण इन्द्र का आसन कांपा। इन्द्र देवों के साथ बनारस आया। द्वारपाल ने भगवान् से उनके आने का निवेदन किया। भगवान् की आज्ञा पाकर वे भीतर गये। उन्होंने सिंहासन पर विराजमान भगवान् को नमस्कार किया। समस्त देवों की सम्मतिपूर्वक इन्द्र ने भगवान् से इस प्रकार निवेदन किया— भगवन्! आपका देवलोक से अवतार परहित के सम्पादन के लिए हुआ है। अतः अब आप दिगम्बर दीक्षा धारण कीजिये तथा केवलज्ञान पाकर उपदेश द्वारा भव्य जीवों के अन्तरंग नेत्रों को खोल दीजिये। ऐसा सुनकर भगवान् इन्द्र का सहारा लेकर उठ खड़े हुए। आकाश में उस समय देवदुंदुभी बजने लगी। किन्नर जाति के देवों ने बीन के साथ भगवान् की स्तुति की। तनूदरी देवकन्यायें नाचने लगीं। उस समय आकाश से महासुगंधित पुष्पों की वृष्टि हुई, जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानों मोक्षलक्ष्मी द्वारा छोड़ी गयी स्वयंवर माला हो। देवों ने चित्र-विचित्र मणियों से जड़ित पालकी भगवान् के समक्ष रख दी। भगवान् उसमें बैठ गये। सात पैर तक राजा लोग तथा आगे कर्मशत्रु के विजिगीषु देवगण उसे ले गये। भगवान् के आगे-आगे इन्द्र चल रहा था।

सर्वप्रथम भगवान् अश्वत्थ वन में गये। वहाँ भगवान् ने पूर्व की ओर मुख कर स्फटिक शिला पर विराजमान हो हाथ जोड़कर "नमः सिद्धेभ्यः" यह वचन उच्चारित किया। केशलोंच के बाद इन्द्र ने उनके केशों को क्षीर-सागर में क्षेपण कर दिया। जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि तीन ज्ञानों के धारी भगवान् को चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

पारणा के दिन भगवान् गुल्मभेद नगर में आहार के लिए गये। वहाँ के राजा धर्मोदय ने उनका सविनय पड़गाहन किया और शास्त्रोक्त विधि से खीर का आहार दिया। अनन्तर राजा धर्मोदय ने निवेदन किया कि भगवन्! अब मुझे संसार सागर का पार करना कठिन तथा दूर नहीं है, जो भाग्यवश मैंने आपका दर्शन पाया है। वन को जाते समय भगवान् के पीछे पीछे धर्मोदय राजा भी गया और भगवान् की आज्ञापूर्वक वापिस लौट आया। घर आने पर उसने पाँच आश्चर्यों को देखा।

तपोनिधि भगवान् जिनेन्द्र प्रतिमायोग से निश्चल स्थाणु की तरह वन में

विराजमान हो गये। उनके तप के प्रभाव से कोई भी तिर्यंच परस्पर वैरी न रहा। मयूर और सर्प, सिंह और मृग परस्पर में दृष्टि रखने लगे। सर्वत्र वसन्त-ऋतु का वैभव फैल गया। उसी समय भूतानन्द देव आकाशमार्ग से निकला। मुनि के प्रभाव से उसका विमान रुक गया। सभी दिशाओं में निगाह डालने पर उसकी दृष्टि तपोनिधि भगवान् जिनेन्द्र पर पड़ी। पूर्वजन्मों के वैर के कारण उसका हृदय जलने लगा। उसने भगवान् से कहा—हे मुने! विमान के मार्ग को तू छोड़ दे, क्यों अपने प्राणों को व्यर्थ में गंवाना चाहता है। दृष्ट और आनुश्रविक भोगों को छोड़कर क्यों अत्यन्त कठिन परमानंद अवस्था पाना चाहता है? अनेक प्रकार से वचन कहके उस देव ने खोटी विक्रिया से अनेक भयावने रूप दिखाये। उसके वशवर्ती पिशाचों ने सर्वत्र क्षोभ उत्पन्न कर दिया। कुछ पिशाचों ने भयंकर सिंहों का रूप धारण कर गर्जना करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ पिशाच विशाल शरीर को धारण कर पृथ्वी-तल से ऐसे निकले मानो पाताल स पहाड़ निकले हों। किन्तु भगवान् को उक्त खोटी विक्रियाओं से विल्कुल भी क्षोभ नहीं हुआ तो भूतानंद देव ने शस्त्रों की वर्षा की। यह वर्षा भी पुष्पवर्षा में वदल गई। तव भूतानंद ने शिलाओं को तोड़ देने वाली मूसलाधार वृष्टि की। जव भगवान् इससे भी विचलित न हुये तो उसने दावानल जलाना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु दावानल भी शीतल हो गई। अव तो उसने पहाड़ ही ढाना प्रारम्भ कर दिया। पापी भूतानंद की इन दुश्चेष्टाओं को जानकर धरणेन्द्र पद्मावती देवी के साथ उपस्थित हुआ और उसने अपने फण को भगवान् के ऊपर फैला दिया। पद्मावती ने देवोपनीत शुभ्र छत्र भगवान् के ऊपर तान दिया। भूतानन्द ने अत्यन्त क्रुद्ध हो झरनों से युक्त विशाल पहाड़ ढाना प्रारम्भ कर दिया। उससे वनदेवता भी विचलित हो गये, किन्तु धरणेन्द्र के फण से टकराकर वे छार हो गये। इस प्रकार भूतानन्द के उपसर्गों का भगवान् पर कोई प्रभाव न पड़ा।

भगवान् जिनेन्द्र ने एकत्व-वितर्क-वीचार नामक शुक्लध्यान को प्राप्त किया और समस्त घातिया कर्मों का नाश कर दिया। उसी समय स्वपरावभासी केवलज्ञान प्रकट हो गया। केवलज्ञान के प्रकट होते ही देवों द्वारा जयकार होने लगी। यह देखकर भूतानंद भी अवाक् रह गया। अन्यत्र अशरण जान वह भी भगवान् के पास आया और स्तुति करते हुए उन्हें नमस्कार किया। चारों निकायों के देव वहाँ आये और उन्होंने कर्ण तथा नेत्रों को आनन्ददायक गीत और नृत्य करके भगवान् की कीर्ति का विस्तार किया।

द्वादश सर्ग

तदनन्तर इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा देकर शीघ्र ही भगवान् का समवसरण-

मण्डप तैयार कराया। वह तरह-तरह की मणियों की किरणों से व्याप्त था। अतः देवांगनायें उसे इन्द्रधनुष समझती थीं। उसके चार गोपुरों वाले तीन प्राकार थे जो मिथ्यादृष्टियों के प्रवेश को रोकने के लिए रत्नत्रय के समान जान पड़ते थे। समवसरण का परकोटा निर्मल जल से व्याप्त था। वहाँ के उपवन उत्तमोत्तम फलों वाले कल्पवृक्षों से शोभित थे। उसकी क्रमबद्ध सीढ़ियाँ स्फटिकमणि से निर्मित थीं। आकाश तक उन्नत स्तूपों से वह समवसरण अत्यन्त शोभायमान था। उस समवसरण के स्तम्भ भगवान् की उन्नति को बताने वाले और मनुष्यों के अभिमान को चूर करने वाले थे। नृत्य करती हुयीं देवांगनाओं से युक्त वहाँ की मरकतमणियों से निर्मित नृत्यशालायें बिजली से व्याप्त मेघ के समान जान पड़ती थीं। उस समवसरण भूमि में रचित कृत्रिम पर्वत की गुफाओं में किन्नरदेव कलकल कर रहे थे। समवसरण के ठीक मध्य में भगवान् जिनेन्द्र की वसति को इन्द्र ने स्वयं तैयार किया था। सिंहांकित मणिमयी सिंहासन पर आरूढ़ भगवान् उस समय नम्रीभूत देवों को उदया-चलस्थ सूर्य के समान जान पड़ते थे। यक्षेन्द्र दोनों तरफ चँवर ढोर रहे थे। आकाश में लययुक्त दुंदुभियाँ बज रहीं थीं। वायुकुमार जाति में देवों ने समवसरणभूमि की धूलि को नष्ट करने के लिए मंद-मंद पवन बहाना चालू कर दिया था तथा अनेक देव सुगंधित जल सींच रहे थे। उस समय भगवान् के ऊपर अत्यन्त पुष्पवृष्टि हुई। भगवान् की देदीप्यमान शरीर की ज्योति केवलज्ञान के खण्ड के समान जान पड़ती थी। समवसरण भूमि बारह योजन विस्तृत थी, जिसके अंतरंग को भगवान् ने पवित्र बना दिया था। उस समय किसी के परिणामों में किसी तरह का दोष न था।

प्रथम गणधर स्वयंभू भगवान् के पास आये। नमस्कार करके समीप बैठ गये। उनके पीछे मस्तक झुकाकर इन्द्र बैठ गये। स्वयंभू गणधर ने भगवान् की इस प्रकार स्तुति की कि हे भगवन्! दुख-दावानल से दग्ध संसार-वन में भटकने वाले इन भव्य जीवों का आप ही उद्धार कर सकते हैं। अनेक नयवादों से छिपे स्वरूप वाले जीव अजीव आदि पदार्थ आपसे अगोचर नहीं हैं। आपकी कृपा से हमें उनका निर्णय सुलभ रीति से हो सकेगा।

स्वयंभू गणधर के इस प्रकार निवेदन करने पर भगवान् की दिव्य-ध्वनि खिरी। उसमें वस्तुस्वरूप को समझाने वाली सप्तभंगी का उपदेश होने लगा और उसे सभी अपनी अपनी भाषा में समझने लगे। आत्मा उपयोगरूप, स्वदेहपरिमाण, स्वानुभवप्रत्यक्ष एवं जड़ पदार्थों से भिन्न हैं। संसार भ्रमण के कारण अनेक अनादि कर्मों का बंध उसके स्वरूप को ढक देता है। इसीलिए व्यक्ति इधर उधर घूमता

रहता है। संसार-कारणों का निरोध और मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय से होती है। जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र की शुद्धि में कारण है। यह संसारताप का नाश कर अलौकिक शांति प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—(१) निसर्गज और (२) अधिगमज। जो किसी के उपदेश आदि की अपेक्षा के विना होता है वह निसर्गज और जो गुरु आदि अथवा शास्त्र स्वाध्याय आदि से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। इसका ज्ञान नय और प्रमाणों से होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की सीमा पृथक्-पृथक् है। इन तीनों की प्राप्ति होते ही समस्त कर्मों का नाश हो जाता है। जैसे रसायनादि से पुरुष के इष्ट की सिद्धि होती है, वैसे ही रत्नत्रय से भी इष्ट की सिद्धि होती है। आत्मा के विशेष गुणों का नाश नहीं होता। वे गुण परस्पर विघातक नहीं है तथा विना विरोध के आत्मा में एक साथ रहते हैं। इसीलिए जीव को विशिष्ट गुण (अजीव से भिन्न) स्वरूप कहा गया है। आत्मा न ब्रह्म स्वरूप है और न ही शून्य स्वरूप। यह तो कर्मों के नाश होने पर मोक्ष स्वरूप है। इसलिए हे भव्यों! आत्मा में ही प्रेम करो। इससे उत्कृष्ट कोई पुरुषार्थ नहीं है।

इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर लोग बहुत सन्तुष्ट हुए। अपने कृत अपराध से लज्जित भूतानंद को भी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का उदय हो गया। स्वयंभू गणधर ने धरणेन्द्र का मोक्षगामित्व बतलाया। इसलिए लोगों ने धरणेन्द्र की स्तुति की। देवी पद्मावती जिनमत की उन्नति करने वाली थी, अतः वह शासन देवता कही गई। तीन ज्ञान के धारक राजा विश्वसेन भक्ति से नम्रीभूत हो जिनेन्द्र के तीर्थ की प्रभावना करने लगे। विना किसी इच्छा के भगवान् का स्वाभाविक विहार होने लगा। अनन्तर भगवान् पार्श्वनाथ सम्मेदाचल पर जा विराजे, जहाँ से अनन्त मुनियों ने मोक्ष पाया था। भगवान् जिस सर्वोच्च शिखर पर विराजमान थे, देवों ने उसका नाम स्वर्णभद्रकूट रखा। वहीं भगवान् ने एक मास का योग-निरोध किया तथा चित्त में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान का चिंतवन करने लगे। चार अघातिया कर्मों को भी उन्होंने पंच ह्रस्व स्वर वर्ण के उच्चारण के समय में नष्ट कर डाला। समस्त कर्मों का नाशकर भगवान् ने मोक्ष पद पाया।

उस समय दिव्यज्ञान के धारक मुनिजनों ने उनको हाथ जोड़कर नमस्कार किया। चारों निकायों के देवों ने निर्वाणकल्याणक की पूजा की। भगवान् की पूजा के बाद दुंदुभियों का आनंददायक शब्द हुआ। भगवान् के मोक्ष होने पर इन्द्रादिक देवों ने इस प्रकार स्तुति करनी प्रारम्भ की— भगवन्! जो मनुष्य आपकी भक्ति नहीं करते, वे तत्त्वज्ञानियों के गुणों के रस से अनभिज्ञ हैं। जिनके हृदय में आपका

शासन रूपी प्रकाश नहीं है, उनके चित्त की कालिमा नहीं छूट सकती। आपकी पूजा ही आत्यन्तिक सुख–मोक्ष की कारण है। हे भगवन् ! हाथ की रेखा के समान आप समस्त जगत् के जानकार हैं। कर्मों के नाश हो जाने पर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेना ही आपका जगदीश्वरत्व है। हे भगवन् ! आपको हम अपने हृदय में धारण करते हैं और उत्तमोत्तम मंत्रों से आपकी स्तुति करते हैं, जिससे प्रचण्ड संसार के दुख से हमारा उद्धार होवे। हे भगवन् ! आप तीनों कालों और तीनों लोकों को केवल-ज्ञानरूपी दर्पण में देखने वाले हैं और भव्यों को ज्ञान देने वाले हैं। अतः हे भगवन्! आपको बारंबार नमस्कार हो। भगवान् की इस प्रकार स्तुति करके इन्द्र आदि अपने-अपने स्थानों पर चले गये। अन्तिम तीर्थंकर से पूर्ववर्ती तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ जिनेन्द्र हमारे कल्याण के लिए केवलज्ञान और मोक्षलक्ष्मी को प्रदान करें।

(ग) परिवर्तन एवं परिवर्धन

कवि यद्यपि महाकाव्य में ऐतिहासिक या सज्जनाश्रित कथानक को ही गुंफित करता है, अतः महाकाव्य की वस्तुवस्तु तो बनी बनाई मिल जाती है। किन्तु कवि अपनी मौलिक नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि से महाकाव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रसिद्ध कथानक में कुछ आवश्यक परिवर्तन या परिवर्धन करके उसे एक नया रूप दे देता है। कवि के इस परिवर्तन या परिवर्धन से मूल कथानक के ऐतिहासिक या प्रसिद्ध कथानक में कोई असंगति भी उत्पन्न नहीं होती है और कवि भी अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है।

महाकवि वादिराज ने पार्श्वनाथचरित महाकाव्य में इस तरह के कुछ सामान्य परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं। परन्तु कवि ने तत्तत् स्थलों पर मूल कथानक का पूरा ध्यान रखा है। पार्श्वनाथचरित का कथानक गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से गृहीत है। और कवि ने उसे यथावत स्वीकार भी किया है। किन्तु काव्य-प्रणयन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन भी दृष्टिगोचर होते हैं। अब यहाँ उन्हीं मूल कथानक की अपेक्षा पार्श्वनाथचरित में किये गये परिवर्तनों और परिवर्धनों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

(१) उत्तरपुराण में विश्वभूति को पोदनपुर नगरनिवासी वेदशास्त्रज्ञ ब्राह्मण बताया गया है,[1] राजा अरविन्द का मंत्री नहीं। जबकि पार्श्वनाथचरित में विश्वभूति को राजा अरविन्द का मंत्री वर्णित किया गया है।[2]

१– उत्तरपुराण ७३।८।
२– पार्श्वनाथचरित १।८२।

(२) उत्तरपुराण में विश्वभूति के दोनों पुत्रों–कमठ और मरुभूति को राजा अरविन्द का मंत्री बताया गया है।[१] जबकि महाकवि वादिराज ने दोनों के मंत्री होने का कोई औचित्य नहीं समझा और मंत्री विश्वभूति का वृद्धावस्था के कारण मंत्री पद छोड़ने और दीक्षा ले लेने पर मरुभूति को मंत्री पद पर अधिष्ठित किया जाना बताया है।[२] यद्यपि कमठ विश्वभूति मंत्री का ज्येष्ठ पुत्र था, परन्तु अधिक गुणशाली होने के कारण मरुभूति को ही राजा अरविन्द ने अपना मंत्री बनाया।

(३) उत्तरपुराण में विश्वभूति की पत्नी का नाम वसुन्धरी[३] तथा कमठ की पत्नी का नाम करुणा[४] निर्दिष्ट किया गया है जो पार्श्वनाथचरित में नहीं है।

(४) उत्तरपुराण में मरुभूति की पत्नी का नाम वसुन्धरी[५] बतलाया गया है, जबकि पार्श्वनाथचरित में महाकवि वादिराज ने वसुन्धरा (पृथिवी) के साथ उसकी संगति दिखाने के लिए उसका नाम वसुन्धरा कर दिया है।[६]

(५) विश्वभूति की जैनी दीक्षा धारण करने की घटना का निर्देश उत्तर-पुराण में नहीं किया गया है। परन्तु पार्श्वनाथचरित में कवि ने जातिवादी प्रवृत्ति न दिखाकर एक ब्राह्मण को जैनी दीक्षा धारण करते हुए निर्दिष्ट कर उत्कृष्ट सामाजिक भूमिका को निभाया है।[७]

(६) प्रान्तिक शत्रु वज्रवीर को जीतने के लिए राजा अरविन्द का मंत्री मरुभूति के साथ पद्मपुर जाना तथा उस समय कमठ को पोदनपुर नगर की रक्षा का भार सौंप जाना—इस घटना का उल्लेख उत्तरपुराण में नहीं है। कवि वादिराज की यह मौलिक सूझ की उपज है।[८]

(७) कलहंस नामक कमठ के मित्र की कल्पना, उसके माध्यम से कमठ के घर वसुन्धरा का पहुंचना आदि घटना उत्तरपुराण में वर्णित नहीं है। किन्तु पार्श्व-

---

१· उत्तरपुराण ७३।१०।
२- पार्श्वनाथचरित १।६४।
३- उत्तरपुराण ७३।८।
४- वही, ७३।१०।
५- वही, ७३।१०।
६- पार्श्वनाथचरित १।६५।
७- वही, १।६१-६३।
८- पार्श्वनाथचरित १।१००।

नाथचरित में कवि ने कमठ के दुराचार का यही उचित अवसर समझा और एक नयी घटना की उद्भावना कर घटना में संगति ला दी है।[1]

(८) उत्तरपुराण में मरुभूति की मृत्यु की घटना का संकेत "नीच तथा दुराचारी कमठ ने वसुन्धरी के निमित्त सदाचारी, सज्जनों के प्रिय मरुभूति को मार डाला[2]--कहकर किया गया है। जबकि पार्श्वनाथचरित में कवि वादिराज ने उक्त घटना की सिद्धि के लिए" राजा और मरुभूति की अनुपस्थिति में कमठ का मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा के साथ दुराचार करना, राजा के लौटने पर गुप्तचर द्वारा कमठ के दुराचार की सूचना राजा को प्राप्त होना, जाँच के दौरान घटना की सत्यता सिद्ध होने पर कमठ का नगर से निर्वासन होना, उसका भूताचल पर्वत पर तपस्वियों के आश्रम में जाना तथा वहीं तपस्या करना, भ्रातृप्रेमवश मरुभूति का वहाँ जाना, किन्तु क्रुद्ध दुष्ट कमठ द्वारा मरुभूति के ऊपर पत्थर पटक कर प्राणान्त कर दिया जाना—घटना की नवीन उद्भावना की है।[3]

(९) उत्तरपुराण में बताया गया है कि कमठ की पत्नी वरुणा मरने पर मरुभूति की दूसरी पर्याय बज्रघोष हाथी की रमणी हथिनी बनी।[4] किन्तु पार्श्वनाथचरित में कवि ने इसका अनौचित्य समझकर छोड़ दिया है।

(१०) चक्रवर्ती वज्रनाभ की षट्खण्ड–दिग्विजय यात्रा का वर्णन उत्तरपुराण में नहीं आया है। जबकि पार्श्वनाथचरित में वादिराज ने इसका विस्तृत वर्णन किया है।[5]

(११) उत्तरपुराण में भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाले ज्योतिषी देव का नाम शम्बर आया है।[6] किन्तु पार्श्वनाथचरित में महाकवि ने उस ज्योतिषी देव की विभिन्न विक्रियाओं आदि को ध्यान में रखते हुए उसका नाम बदलकर भूतानन्द रख दिया है,[7] जो उसके कार्यों के अनुसार सर्वथा उचित जान पड़ता है।

(१२) उत्तरपुराण में पारणा के बाद भगवान् पार्श्वनाथ को आहार देने वाले

१– द्रष्टव्य वही, २।२३-२६।

२– उत्तरपुराण ७३।११।

३– द्रष्टव्य पार्श्वनाथचरित २–३ सर्ग।

४– उत्तरपुराण, ७३।१३।

५– द्रष्टव्य पार्श्वनाथचरित ६–७ सर्ग।

६– उत्तरपुराण, ७३।११७।

७– पार्श्वनाथचरित ११।५८।

राजा का नाम धन्य आया है ।[1] जबकि पार्श्वनाथचरित में भगवान् को आहार दान देने वाले राजा का नाम धर्मोदय कर दिया है ।[2]

इस प्रकार दोनों कथावस्तुओं के अन्तर को देखने से ज्ञात होता है कि महाकवि वादिराज ने मूल कथावस्तु से अपनी महाकाव्य की कथावस्तु में कोई विशेष परिवर्तन या परिवर्धन नहीं किया है, केवल नाममात्र का परिवर्तन या परिवर्धन हुआ है। किन्तु यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन नाममात्र के परिवर्तन-परिवर्धनों से पार्श्वनाथचरित एक सफल महाकाव्य की श्रेणी में आ गया है। इसी प्रकार यथासमय नगर, पर्वत, उद्यान, ऋतुओं आदि का वर्णन बढ़ाकर कवि ने महाकाव्य के समस्त लक्षणों का समावेश भी कर दिया है। सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि उत्तरपुराण की कथावस्तु से पार्श्वनाथचरित में नाममात्र का ही परिवर्तन किया गया है, कोई भौतिक परिवर्तन नहीं।

(घ) पूर्ववर्ती कवियों एवं आचार्यों का उल्लेख तथा उनकी कालानुक्रमिकता

जैन ग्रन्थों के प्रारम्भ में मंगलाचरण और अन्त में प्रशस्ति प्राय: सर्वत्र प्राप्त होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश कवियों ने मंगलाचरण में पूर्ववर्ती कवियों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। सभी इतिहास गवेषकों के लिए जैन ग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अत: जैन इतिहास के लिए उनका असीम महत्त्व है।

महाकवि वादिराज के द्वारा पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में पूर्ववर्ती कवियों एवं आचार्यों का उल्लेख परम्परा का निर्वाह करने के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। संस्कृत साहित्य के इतिहासज्ञों को यह विदित ही है कि राजशेखर, बाणभट्ट आदि के द्वारा इसी प्रकार के उल्लेखों के आधार पर अनेक प्रसिद्ध कवियों का काल-निर्धारण संभव हुआ है। वादिराजसूरि के द्वारा किया गया अपने पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों का उल्लेख भी इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। इन्होंने जितने कवियों एवं आचार्यों का उल्लेख किया है, उनका सन्निवेश काल-क्रमानुसार है। यद्यपि उल्लिखित कवियों एवं आचार्यों के क्रम के कालानुक्रमिक होने में विद्वानों में वैमत्य संभावित है, किन्तु अनेक विद्वानों के मतों के विचारविमर्श के बाद वादिराज द्वारा उल्लिखित क्रम को कालानुक्रमिक सिद्ध किया गया है। इतिहास

१- उत्तरपुराण ७३।१३३।
२- पार्श्वनाथचरित ११।४६।

के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण स्थान होने से उल्लिखित कवियों और आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना प्रासंगिक है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन कवियों और आचार्यों की भूमिका का आकलन सभी दृष्टियों से निःसंदेह उपादेय है।

(१) गृद्धपिच्छ :

पूर्व आचार्यों के स्मरण के प्रसंग में आचार्य वादिराजसूरि ने सर्वप्रथम गृद्धपिच्छ को नमस्कार किया है—

"अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् ।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः ॥"[१]

उक्त श्लोक से स्पष्ट होता है कि गृद्धपिच्छाचार्य के कोई ऐसे ग्रंथ का उल्लेख इसमें किया गया है, जिसमें निर्वाण विषयक विवेचन हो। आचार्य गृद्धपिच्छ का तत्त्वार्थसूत्र इसी तरह का ग्रन्थ है। मालूम पड़ता है कि मोक्ष विषयक विवेचन के कारण आज यह धार्मिक समाज में मोक्षशास्त्र के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त है।

तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति अथवा उमास्वामी नाम से भी प्रसिद्धि को प्राप्त है। श्री जुगलकिशोर मुख्तार तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम उमास्वाति मानते हैं तथा उनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी।[२] किन्तु पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का मूल नाम गृद्धपिच्छ ही स्वीकार करते हैं तथा उमास्वाति या उमास्वामी को परवर्ती विद्वानों द्वारा कल्पित मानते हैं।[३] विभिन्न शिलालेखों में जो ईसा की १२वी शती के पश्चाद्वर्ती हैं, में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति का दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य बताया गया है।[४] ये बलाकपिच्छ नामक आचार्य के गुरु थे।[५] एक अन्य शिलालेख में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति के शिष्य बलाकपिच्छ का दूसरा नाम गृद्धपिच्छ बताया गया है।[६] किन्तु यह समीचीन

१– पार्श्वनाथचरित १।१६।
२– जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० १०२।
३– तत्त्वार्थसूत्र (पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री) प्रस्तावना, पृ० १३।
४– "अभूदुमास्वाति मुनीश्वरोऽसवाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
—जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखाँक ४० (६४), ४२ (६६), ४३ (११७), ४७ (१२७), ५० (१४०)।
५– श्री गृद्धपिच्छमुनियस्य बलाकपिच्छः शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक ४० (६४) पद्य ८, पृ० २५।
एवं लेखांक ४२ (६६), ४३ (११७), ४७ (१२७), ५० (१४०)।
६– जैन शिलालेख संग्रह भाग–१, लेखांक १०५ (२५४) पद्य १६।

नहीं जान पड़ता है। यह उल्लेख ई० सन् (शक सं० १३२०) का है। इनके गृद्धपिच्छ नाम पड़ने के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्राणियों की रक्षा के लिए इन्होंने गृद्ध के पंखों को धारण कर लिया तभी से इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य हुआ।[1] यह लेख भी १५वीं शती ईसा के पूर्वार्द्ध का है। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का उल्लेख गृद्धपिच्छाचार्य नाम से ही किया है आचार्य वीरसैन ने धवलाटीका में इनका उल्लेख "गृद्धपिच्छ" नाम से ही किया है तथा पार्श्वनाथचरित में इसी नाम का उल्लेख है ही। अतएव इनका नाम गृद्धपिच्छ ही मूल मानना उचित है। आगे चलकर उनका नाम उमास्वाति भी प्रचलित हो गया जो संभवतः श्वेताम्बर तत्वार्थाधिगमभाष्य के रचयिता वाचक उमास्वाति नाम होने के कारण हो गया जान पड़ता है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में यह भाष्य तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का स्वोपज्ञ माना जाता है।

आचार्य गृद्धपिच्छ कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के थे। तत्त्वार्थसूत्र के निर्माण में भी कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की सहायता ली गई जान पड़ती है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री इनका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी मानते हैं।[2] अधिकांश प्राच्य—पाश्चात्य विद्वानों ने इनका समय ईसा की प्रथम–द्वितीय शताब्दी ही माना है, जो निर्विवाद है। इनकी एकमात्र रचना तत्त्वार्थसूत्र है, जो दश अध्यायों में विभक्त सूत्रात्मक है। सूत्रसंख्या श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में विवादास्पद है।

(२) स्वामी समन्तभद्र :

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥"[3]

पार्श्वनाथचरित के उक्त पद्य में देवागम के रचयिता के रूप में आचार्य समन्तभद्र स्वामी का उल्लेख किया गया है। यहाँ स्वामीपद के द्वारा आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है। अन्य अनेक स्थलों में भी इन्हें केवल स्वामीपद से निर्दिष्ट किया गया है।[4] समन्तभद्र जैन संस्कृत साहित्य के साथ काव्यप्रणेता एवं

१– "स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥
—वही लेखांक १०८ (२५८) पद्य १२।

२– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० १५३।

३– पार्श्वनाथचरित, सर्ग १, श्लोक १७।

४– द्रष्टव्य—न्यायदीपिका, पृ० ४१।

प्रख्यात आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अकलंक और विद्यानन्द जैसे तार्किक आचार्यों ने इनके ग्रंथ देवागम पर क्रमश: देवागम विवृति (अथवा अष्टशतीभाष्य) एवं देवागमालंकार (अथवा देवालंकृति कहीं कहीं आप्तमीमांसालंकार या आप्तमीमांसालंकृति नाम से उल्लिखित) टीकायें लिखीं। आदिपुराणमी[1] में जिनसेनाचार्य ने, अलंकारचिन्तामणि[2] में अजितसेनाचार्य ने तथा गद्यचिन्तामणि[3] में वादीभसिंह ने इनका पुण्यस्मरण किया है। आचार्य जिनसेन ने तो इन्हें वादी, वाग्मी और कवि के रूप में उल्लिखित किया है। समन्तभद्र वास्तव में श्रेष्ठ कवि और दर्शनशास्त्र के विलक्षण प्रतिभासम्पन्न पंडित थे।

खेद है कि आचार्य समन्तभद्र का विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं होता है। आचार्य समन्तभद्र का संक्षिप्त परिचय कवि हस्तिमल्ल ने "विक्रान्तकौरवम्" नाटक की प्रशस्ति में प्रस्तुत किया है। उसके आधार पर ज्ञात होता है कि वे मूलसंघ के आचार्य थे। हस्तिमल्ल ने उन्हें आगामी तीर्थंकर के रूप में उल्लिखित किया है। उन्हें विक्रिया ऋद्धि सिद्ध थी। वे तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर रचित गन्धहस्तिमहाभाष्य के रचयिता और देवगामस्तोत्र के निर्माता थे। उनके दो शिष्य थे— १- शिवकोटि और २- शिवायन। ये दोनों शास्त्रज्ञ थे।[4] इनके जन्म का नाम शांतिवर्मा भी उल्लिखित हुआ है। बाद में ये समन्तभद्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये। ये क्षत्रिय राजकुमार थे।[5]

पार्श्वनाथचरित में "स्वामिनश्चरितं ...." इत्यादि श्लोक के बाद "अचिन्त्यमहिमादेव:" देवनंदि (पूज्यपाद) परक एक श्लोक मुद्रित प्रति में है। इसके बाद रत्नकरण्डश्रावकाचार का निर्देशक निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

"त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः॥"[6]

१- "तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रताव"—कहकर आप्तमीमांसा (देवागम) की कारिका नं० ५ का उल्लेख। एवम् द्रष्टव्य—सागारधर्मामृत अनागारधर्मामृत टीका के विभिन्न स्थल।
२- आदिपुराण (महापुराण) अध्याय १, श्लोक ४३-४४।
३- अलंकारचिन्तामणि परिच्छेद १, श्लोक ३।
४- गद्यचिन्तामणि १, श्लोक ४, पृ० ४।
५- विक्रान्तकौरवम् ग्रन्थप्रशस्ति पद्य १-४, पृ० २७४।
६- पार्श्वनाथचरित १।१८।

इस आधार पर श्री नाथूराम प्रेमी ने और डा० हीरालाल जैन ने उक्त तीन श्लोकों को अलग-अलग आचार्य परक मानकर रत्नकरण्डश्रावकाचार के समन्तभद्रकर्तृक होने में आशंका व्यक्त की है।[1] डा० हीरालाल जैन का कथन है कि ग्रंथकर्ता ने रत्नकरण्ड में अपना नाम प्रकट नहीं किया और समन्तभद्रविरचित देवागम या आप्तमीमांसा में शैली आदि भेदों के अतिरिक्त आप्त के लक्षण में भी भेद है। ग्रंथ के उपान्त्य पद्य में वीतकलंकविद्या और सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख से रत्नकरण्ड के रचयिता का अकलंक विद्यानंदि और सर्वार्थसिद्धिकार देवनंदि (या पूज्यपाद) से पश्चाद्वर्ती होना भी जान पड़ता है। पार्श्वनाथचरित की उत्थानिका में रत्नकरण्ड को स्पष्टरूपेण योगीन्द्र की रचना कहा गया है। इस प्रकार डा० हीरालाल जैन देवागम के रचयिता समन्तभद्र से रत्नकरण्ड के रचयिता को भिन्न मानते हैं। तथा इसी आधार पर रत्नकरण्ड को विद्यानंदि और वादिराज के मध्य ८ से १०–११वीं शती की मध्यवर्ती रचना मानते हैं।[2]

डा० हीरालाल जैन की मान्यता का मूल आधार पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित रत्नकरण्ड विषयक पद्य का देवनंदि परक पद्य के बाद होना तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार का उपान्त्य श्लोक है।[3] जहाँ तक प्रथम मान्यता का सवाल है उसका यही उत्तर है कि पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित 'स्वामिश्चरितं' पद्य के बाद त्यागी स एव-- होना चाहिये। तत्पश्चात् 'अचिन्त्यमहिमा देवः—इत्यादि देवनंदि(पूज्यपाद) परम श्लोक। इससे ऐतिहासिक कालानुक्रमिक संगति में कोई हानि नहीं होती तथा 'त्यागी स एव—' श्लोक में 'स एव' पद भी उपर्युक्त 'स्वामिनश्चरितं—' श्लोक के "स्वामी" का अर्थक हो जायेगा। पद्यों के उक्त क्रम का समर्थन श्री जुगल किशोर मुख्तार ने भी किया है। तथा डा० साहब की मान्यता का सयुक्तिक खण्डन किया है।[4] हां 'अचिन्त्यमहिमा देवः'—तो देवनन्दिपरक ही है, क्योंकि 'देव'

१- द्र० श्री प्रेमीजी लिखित "क्या रत्नकरण्ड के कर्ता समन्तभद्र ही हैं ?" लेख।
—अनेकान्त वर्ष ७, किरण ३–४ एवं
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान —डा० हीरालाल जैन, पृ० ११३।

२- भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ११३।

३- "येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार परि० ५, श्लोक २८।

४- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ४६२।

पद देवनंदि के अर्थ में अनेक जगह आया है। डा० साहब की दूसरी मान्यता रत्नकरण्ड के उपान्त्य पद्य में उल्लिखित वीतकलंकविद्या और सर्वार्थसिद्धि पद हैं। परन्तु किन्हीं पदों के उल्लेख से उस नाम वाले ग्रन्थों अथवा कवि-आचार्यों की ओर संकेत होना कोई आवश्यक तो है नहीं। फिर इतनी क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाये? अतः देवागम और रत्नकरण्डश्रावकाचार के रचयिता को अभिन्न एक ही समन्तभद्र मानना चाहिये। स्वामी समन्तभद्र के द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

१– स्वयंभूस्तोत्र, २– जिनशतक (स्तुतिविद्या), ३– देवागम (आप्तमीमांसा) ४- युक्त्यनुशासन, ५– रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६– जीवसिद्धि, ७– तत्त्वानुशासन, ८- प्राकृतव्याकरण, ९– प्रमाणपदार्थ, १०– कर्मप्राभृत टीका, ११– गन्धहस्ति महाभाष्य।

इन कृतियों में से संख्या १, २, ३, ४ और ५ उपलब्ध हैं। शेष के नामों का यत्रतत्र उल्लेख मात्र मिलता है।

समय :

डा० के० वी० पाठक नें स्वामी समन्तभद्र का समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना है।[1] इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने बहुत से हेतुओं को उपन्यस्त किया है। किन्तु वे वास्तव में हेतु न होकर हेत्वाभास हैं। जिनका सयुक्तिक खण्डन श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने युक्तियुक्त प्रमाणों से किया है।[2] श्री मुख्तार जी समन्तभद्र का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी मानते हैं।[3] श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका समय दूसरी तीसरी शती माना है।[4] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने भी इनका समय द्वितीय शताब्दी माना है।[5] विद्वानों की उक्त मान्यताओं के आधार पर स्वामी समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

३– देव (देवनंदि) :

"अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥"[6]

१– द्र०–"एन्नल्स आफ दी भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट" जिल्द ११ भाग २, पृ० १२९।

२– 'जैन साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश' में लिखित 'समन्त भद्र का समय और डाक्टर के० वी० पाठक' लेख।

३– द्र० अनेकान्त वर्ष १४, किरण १, पृ० ८।

४– जैन दर्शन, पृ० १६ (तृतीय संस्करण)।

५– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० १८४।

६– पार्श्वनाथचरित १।१८।

मुद्रित पार्श्वनाथचरित की टिप्पणी में पं० मनोहरलाल शास्त्री ने उक्त श्लोक में उल्लिखित देव पद का अर्थ समन्तभद्र किया है।[1] उसका कारण था इसके बाद प्राप्त रत्नकरण्डविषयक उल्लेख। किन्तु जैसा कि समन्तभद्र पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि रत्नकरण्ड विषयक उल्लेख करने वाले श्लोक को उक्त श्लोक के पूर्व होना चाहिए। जिससे उसकी संगति स्वामिसमन्त भद्र के साथ हो सके। उक्त श्लोक नो नियम से देवनंदि आचार्य के लिए ही लिखा गया है। क्योंकि इसमें उनके वैयाकरण होने की बात कही गई है। और देवनन्दि का 'जैनेन्द्र व्याकरण जैन संस्कृत व्याकरणों में आद्य रचना उपलब्ध है। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि देवनंदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर 'देव' पद के द्वारा हुआ भी है।[2]

श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में देवनंदि के जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये दो नाम और बतलाये गये हैं। कहा गया है कि उनका पहला नाम देवनंदि था, बुद्धि की महत्ता के कारण वे जिनेन्द्र बुद्धि कहलाये और उनके चरणों की पूजा देवों ने की अतएव वे पूज्यपाद नाम से प्रसिद्ध हुए।[3] पूज्यपाद और देवनन्दि ये दो नाम तो इनके प्रायः सर्वत्र मिलते हैं, किन्तु जिनेन्द्रबुद्धि भी इनका नाम रहा—यह इस शिलालेख से जाना जाता है। जिनेन्द्रबुद्धि नाम के एक वैयाकरण काशिकावृत्ति पर न्यास के रचयिता भी हो चुके हैं। परन्तु ये इनसे सर्वथा भिन्न एक बौद्ध साधु थे।[4]

आचार्य देवनंदि ने अपने जैनेन्द्रव्याकरण में पूर्ववर्ती कुछ वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया है, उनमें समन्तभद्र का भी नामोल्लेख है।[5] समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय शती मान्य है। अतः देवनन्दि उसके पश्चाद्वर्ती हैं। दर्शनसार में

१– वही, पृ० ३ पाद टिप्पणी, ६।

२– 'कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥' —आदिपुराण १।५२।

३– 'यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥
—जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक ४० (६४) पद्य १०। पृ० २५।
एवं प्रागम्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचाख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥
—वही लेखांक १०५ (२५४) पद्य २०, पृ० १९८।

४– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ९७।

५– 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' जैनेन्द्रव्याकरण ५।४।१६८।

कहा गया है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदि ने द्राविड़ संघ की स्थापना वि० सं० ५२६ में की थी।[1] अतः इनका समय वि० सं० ५२६ (ई० सन् ४६९) से पूर्व होना सिद्ध होता है। इन आधारों पर इनका समय ईसा की ५वीं शती के पूर्वार्द्ध के बाद नहीं माना जा सकता है। आचार्य देवनन्दि (अपरनाम पूज्यपाद) के अभी तक ५ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—

१– जैनेन्द्र व्याकरण : सर्वप्रथम जैन व्याकरण, अनेकशेष व्याकरण।
२– सर्वार्थसिद्धि : तत्त्वार्थसूत्र पर दिगम्बर टीकाओं में प्रथम।
३– समाधितन्त्र : शतश्लोकात्मक अध्यात्म का गंभीर और तात्त्विक ग्रंथ।
४– इष्टोपदेश : इक्यावन श्लोकात्मक उपदेशपूर्ण ग्रन्थ।
५– देशभक्ति : सिद्धभक्ति आदि, शैली गम्भीर।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके अन्य निम्नांकित ग्रन्थों की सूचना मिलती है,[2] परन्तु उपलब्ध नहीं है—

१– शब्दावतारन्यास : पाणिनिव्याकरण पर न्यास
२– जैनेन्द्रन्यास : जैनेन्द्रव्याकरण पर स्वोपज्ञ न्यास
३– सारसंग्रह : संभवतः न्याय या दर्शन का ग्रन्थ
४– जैनाभिषेक
५– अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण
६– शान्त्यष्टक।

(४) अकलंक :

पार्श्वनाथचरित में अकलंक का उल्लेख करते हुए इन्हें तर्कभूवल्लभ, अकलंकधी और बौद्धचौरों—(जगद् द्रव्य को चुराने वाले) को दंड देने वाला कहा है :

"तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दंडिताः शाक्यदस्यवः ॥[3]

अकलंकदेव 'भट्ट अकलंक' के नाम से जैन न्याय के व्यवस्थापक के रूप में ख्यातिलब्ध जैन नैयायिक है। भट्ट इनकी उपाधि थी और ये लघुहव्व नामक राजा के पुत्र थे। एक पद्य के उल्लेखानुसार अकलंकदेव का वि० सं० ७०० (ई० सन् ६४३) में बौद्धों

१- 'पञ्चसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो।' दर्शनसार— देवसेन गाथा २८।
२– द्र०–जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १२२–१३३।
३– पार्श्वनाथचरित १।२०।

के साथ वाद-विवाद हुआ था।[1] इस आधार पर इनका समय इसके पूर्व ईसा की सातवीं शती के प्रारंभ में माना जा सकता है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री[2] और पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य[3] भी प्रायः यही समय मानते हैं। अकलंकदेव बड़े ही प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उत्तरकालीन समस्त जैन नैयायिकों ने इन्हीं का अनुसरण किया। इनकी भाषा अर्थबहुल एवं सूत्रात्मक, शैली गूढ़ एवं संक्षिप्त है। अकलंकदेव के निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हैं :

१- तत्त्वार्थवार्तिक : तत्त्वार्थसूत्र पर उद्योतकर के न्यायवार्तिक की शैली में लिखित वार्तिक और उसकी व्याख्या।

२- अष्टशती : समन्तभद्र की आप्तमीमांसा (देवागम) की संक्षिप्त वृत्ति।

३- लघीयस्त्रयं : प्रमाणप्रवेश, न्यायप्रवेश और प्रवचनप्रदेश इन तीन प्रकरणों का संग्रह। कारिकाओं पर स्वोपज्ञ वृत्ति।

४- न्यायविनिश्चय : प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम तीन प्रस्तावों में विभक्त। इस पर वादिराजसूरि की विवरण नामक विस्तृत टीका है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह (स्वोपज्ञभाष्य सहित), स्वरूपसम्बोधन और अकलंकस्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है।[4]

बौद्धों के साथ भट्टाकलंक का काफी वाद-विवाद हुआ, जिसका संकेत विभिन्न शिलालेखों से भी मिलता है। वसवनपुर में पाषाण पर उत्कीर्ण शक सं० ११०५ (ई० ११८३) के एक संस्कृत-कन्नड़ शिलालेख में इस बात का उल्लेख है-

"तस्याकलंकदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते ।
यद्वाक्यखड्गघातेन हतोबुद्धो विबुद्धिमः ॥"[5]

१- विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रभाजुषि ।
कालें कलंकयतिनी बौद्धैःसहवादो महानभूत् ॥
— आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० ३३ से उद्धृत।

२- जैन न्याय, पृ०

३- जैन दर्शन, पृ० ४३६।

४- द्रष्टव्य-महापुराण (आदिपुराण) की पन्नालाल जैन साहित्याचार्य लिखित प्रस्तावना, पृ० ४७।

५- जैन शिलालेख संग्रह भाग—३, लेखांक ४१०, पृ० २०६।

हुम्मच के शक ११७८ (ई० १२५६) के एक शिलालेख में अकलंक देव के संन्यासपूर्वक शरीर त्याग का उल्लेख पाया जाता है।[१] इससे मालूम होता है कि अन्तिम अवस्था में आप संन्यस्त थे।

(२) वादिसिंह :

"स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः ।।"[२]

उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि 'स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर वादिसिंह के गर्जना करने पर दिग्नाग (बौद्धाचार्य) की कीर्ति का नाश कठिन नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि वादिसिंह न्याय और दर्शनशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। किन्तु आज तक उनका परिचय या ग्रन्थ कुछ भी उपलब्ध नहीं हो पाया है। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में वादिसिंह को उच्चकोटि के कवि और वाग्मित्व का श्रेष्ठ स्थान कहा है।[३] कुछ विद्वानों ने इनके वादीभसिंह से अभिन्न होने की संभावना करते हुए इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी मानने की मान्यता प्रकट की है।[४] अष्टसहस्री की उत्थानिका में उल्लिखित 'श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालिताप्तमीमांसाम्-' अंश के आधार पर वादीभसिंह को किसी तार्किक ग्रन्थ का रचयिता मानकर वादिसिंह और वादीभसिंह का अभिन्नत्व सिद्ध किया जाता है। भले ही वादीभसिंह का गद्य-चिन्तामणि, क्षत्रचूड़ामणि के अतिरिक्त आप्तमीमांसा नामक कोई तार्किक ग्रन्थ भी हो, परन्तु इससे उनकी वादिसिंह के साथ अभिन्नता निःसन्देह नहीं मानी जा सकती है। ये कोई अन्य ही विद्वान् होना चाहिए, जिनका परिचय अथवा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। इनका समय अकलंकभट्ट और सन्मति (सुमतिदेव) के मध्य उल्लिखित होने के कारण दोनों के मध्य ईसा की सातवीं शती माना जा सकता है। पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने 'जैन दर्शन' ग्रन्थ के अन्त में वर्णी ग्रन्थमाला में संकलित ग्रंथसूची के आधार से कुछ दिगम्बर आचार्यों, उनके समय और ग्रंथों का उल्लेख किया है। डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने वादिसिंह का समय ६वीं-७वीं शती माना है।[५] अकलंकदेव को उन्होंने वादिसिंह के बाद रखा है। वादिराजसूरि

१- द्रष्टव्य—वही, लेखांक ५०३, पृ० ३५३।
२- पार्श्वनाथचरित १।२१।
३- कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम् ।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ।। —आदिपुराण १।५४।
४- आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ६।
५- जैन दर्शन (तृतीय संस्करण), पृ० ४३६।

के पार्श्वनाथचरित के उल्लेखानुसार अकलंकदेव को वादिसिंह के पूर्व रखना उचित जान पड़ता है, क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि वादिराजसूरि का पूर्व आचार्यों-कवियों का स्मरण ऐतिहासिक दृष्टि से कालानुक्रमिक संभावित है और फिर ऐसा मानने के विरुद्ध कोई प्रमाण भी तो नहीं है।

(६) सन्मति :

"नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥"[१]

उक्त श्लोक में 'सन्मति' टीका के रचयिता के रूप में आचार्य सन्मति को नमस्कार किया गया है। किन्तु सन्मति आचार्य की यह टीका उपलब्ध नहीं है। श्री नाथूराम प्रेमी की संभावना है कि यह टीका सिद्धसेन आचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ सन्मति प्रकरण पर रही होगी और यह श्वेताम्बराचार्य अभयदेव की टीका के पूर्व लिखी जा चुकी थी।[२] इस आधार पर कहा जा सकता है कि सिद्धसेन की मान्यता दिगम्बराचार्य में भी पर्याप्त रही है। यही कारण है कि जिनसेन सदृश प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य ने उनका स्मरण आदिपुराण में किया है।[३]

वादिराजसूरि द्वारा उल्लिखित सन्मति आचार्य सुमतिदेव से अभिन्न जान पड़ते हैं। एकार्थक होने से सुमति की जगह सन्मति लिख दिया गया होगा। सुमतिदेव का उल्लेख सुमति सप्तक के रचयिता के रूप में मल्लिषेण-प्रशस्ति में भी किया गया।[४] मल्लिषेण-प्रशस्ति में इनका उल्लेख इनकी प्राचीनता का द्योतक है। यदि सन्मति और सुमतिदेव एक ही हैं तो इनके दो ग्रन्थ माने जा सकते हैं-१- सन्मति टीका और २- सुमतिसप्तक। नाथूराम प्रेमी ने भी सन्मति और सुमतिदेव के अभिन्नत्व की संभावना करते हुए लिखा है- "जान पड़ता है कि पूर्वोक्त सन्मति और सुमतिदेव एक ही हैं। क्योंकि सन्मति और सुमति प्रायः एकार्थवाची हैं। कविगण अक्सर नामों में भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर दिया करते हैं। जैसे देवसेन को सुरसेन और

१- पार्श्वनाथचरित १।२२।
२- द्रष्टव्य - जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३६।
३- सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पनखराङ्कुरः।
प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ॥ --आदिपुराण १।४२।
४- सुमतिदेवममुं स्तुत येन वस्सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम्।
परिहृतापथतत्वपथार्थिनां सुमतिकोटिविवर्ति भवार्तिहृत् ॥
- जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग लेखांक ५४, पद्य १३।

कनकनंदि को कलधौतनंदि लिखा गया है। सन्मति की टीका के कर्ता का नाम एक कवि को सुमति की जगह सन्मति ही विशेष उपयुक्त और आकर्षणीय मालूम हुआ होगा और वह सुगमता से प्राप्त इन शब्दालंकार को नहीं छोड़ सका होगा।"[१]

आचार्य सुमतिदेव या सन्मति का समय आचार्य जिनसेन के पूर्व ईसा की सातवीं आठवीं शती माना जा सकता है। तत्त्वसंग्रह के पंजिकाकार कमलशील ने प्रत्यक्षलक्षण विचार में इनका उल्लेख किया है।[२] इसके आधार पर सिद्ध होता है कि इनकी प्रसिद्धि ८–९वीं शती में हो चुकी थी। अतएव इनका समय ईसा की सातवीं-आठवीं शती मानना ही उचित है।

(७) जिनसेन :

"जिनसेनमुनेस्तस्य माहात्म्यं केन कथ्यते।
शलाकाः पुरुषाः सर्वे यद्वचोवशवर्तिनः ।।"[३]

उक्त श्लोक में वादिराजसूरि ने शलाका पुरुषों का वर्णन करने वाले जिनसेन मुनि का उल्लेख किया है। जिनसेन नाम के दो प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं--(१) आदिपुराण के रचयिता और (२) हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन। उक्त श्लोक में उल्लिखित जिनसेन आदिपुराण आदि के रचयिता हैं। क्योंकि आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण (महापुराण) में शलाका पुरुषों का वर्णन करना प्रारम्भ किया था। प्रथम तीर्थंकर और चक्रवर्ती भरत का वर्णन वे कर पाये थे कि अचानक उनका निधन हो गया और उसकी पूर्ति उनके सुविज्ञ शिष्य गुणभद्र ने की।

जिनसेन के वंश, माता-पिता, जाति आदि वैयक्तिक जीवन का कुछ भी पता नहीं चलता है। ये आर्यनंदि के प्रशिष्य और वीरसेनाचार्य के शिष्य थे। दशरथगुरु इनके सधर्मा थे। आचार्य गुणभद्र ने दशरथगुरु और जिनसेन को सूर्य और चन्द्र की तरह सधर्मी बताया है।[४] राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष इनका भक्त था। संभवतः अन्त में अमोघवर्ष ने जैन दीक्षा भी धारण की थी।[५] विभिन्न शिलालेखों में जिनसेनाचार्य का वर्णन हुआ है—

१– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३७।

२– तत्त्वसंग्रह– पंजिका (कमलशील) कारिका १२६४, १२७५ की पंजिका, पृ० ४६३, ४६७।

३– पार्श्वनाथचरित १।२३।

४– उत्तरपुराण, प्रशस्तिपद्य ११–१३, पृ० ५७४।

५– द्र० महावीर गणितसार– महावीराचार्य शोलापुर संस्करण १।३,८।

"जीयात् जगत्यां जिनसेनसूरिर्यस्योपदेशोज्ज्वलदर्पणेन ।
व्यक्तीकृतं सर्वमिदं विनेयाः पुण्यं पुराणं पुरुषा विदन्ति ॥[१]

जिनसेन मूलसंघ पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। किन्तु इनके शिष्य गुणभद्र ने अपने को सेनान्वयी लिखा है।[२] संभवतः आगे चलकर गुणभद्र से पंचस्तूपान्वय ही सेनान्वय कहा जाने लगा होगा।

हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन ने इन जिनसेन का उल्लेख किया है।[३] शक सं० ७०५ (ई० सन् ७८३) में हरिवंशपुराण की रचना सम्पन्न हुई। प्रशस्ति में रचनाकाल का स्वयं जिनसेन ने उल्लेख किया है—

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पन्चोत्तरेषूत्तराम्।
पातीन्द्रायुद्धनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ॥[४]

अतएव जिनसेन ७८३ ई० के पूर्ववर्ती (या समकालीन) तो हैं ही। जयधवला टीका की समाप्ति जिनसेन ने शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) में की थी।[५] संभवतः हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन के समय में जिनसेन जीवित होंगे। क्योंकि उक्त काल के बाद की रचना जयधवला टीका है और आदिपुराण तो इनकी अंतिम कृति होनी ही चाहिये। क्योंकि उसे ये पूरा न कर सके। कम से कम ३ ४ वर्ष तो जयधवला टीका के बाद आदिपुराण की रचना में लगे ही होंगे। इस आधार पर इनका मरणकाल ८४० ई० के आसपास माना जा सकता है। अतः इनका कार्यकाल ईसा की ८-९ शती मानना उचित है।

आचार्य जिनसेन के ३ ग्रंथ उपलब्ध हैं—

१- पार्श्वाभ्युदय : कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति में लिखित्त काव्य

२- जयधवला : कषायप्राभृत की प्रथम स्कंधका चारों विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण वीरसेन की टीका के आगे चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका।

३- आदिपुराण : (अपूर्ण) ४२ पर्वों तक आदिनाथ और भरतचक्रवर्ती तक का वर्णन। आगे रचना गुणभद्र ने की।

१- जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक १०५, पद्य २२, पृ० १९९।
२- उत्तरपुराण, प्रशस्तिपद्य, २, पृ० ५७३।
३- हरिवंशपुराण, १।१४०।
४- हरिवंशपुराण ६६।५२।
५- द्र० तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ३३९।

(८) अनन्तकीर्ति :

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लगभग दस अनन्तकीर्ति नामक जैन विद्वानों का उल्लेख किया है।[1] परन्तु पार्श्वनाथचरित में जिन अनन्तकीर्ति का उल्लेख किया गया है वे 'जीवसिद्धि' के रचयिता थे—

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥[2]

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में समन्तभद्र कृत 'जीवसिद्धि' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[3] अनन्तकीर्ति ने संभवतः उसी पर कोई टीका लिखी होगी और उसी टीका की ओर वादिराजसूरि ने संभवतः संकेत किया है।

एक अनन्तकीर्ति की लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहद्सर्वज्ञसिद्धि नामक दो कृतियां उपलब्ध हैं। वादिराज के न्यायविनिश्चयविवरण में सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण पर उक्त सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है। अतः वादिराज सर्वज्ञसिद्धि के रचयिता अनन्तकीर्ति से परिचित थे। संभव है कि सर्वज्ञसिद्धि के रचयिता अनन्तकीर्ति ने ही जीवसिद्धि टीका भी लिखी हो और उन्हीं का उल्लेख वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथचरित में किया हो। इस आधार पर सर्वज्ञसिद्धि और जीवसिद्धि टीका के रचयिता को अभिन्न माना जा सकता है।

वादिराज ने अनन्तकीर्ति का उल्लेख जिनसेनाचार्य के बाद किया है, जैसा कि पहले कहा गया है कि वादिराज द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का क्रम समयचक्र के अनुसार है। जिनसेनाचार्य का समय ईसा की ८–९ वीं शती माना गया है। उनका मरणकाल भी लगभग ई० सन् ८४० के आसपास रहा है। अतएव अनन्तकीर्ति का समय भी आचार्य जिनसेन के बाद और आगे उल्लिखित आचार्य पाल्यकीर्ति के पूर्व ईसा की नवमीं शती के मध्य में माना जा सकता है।

यदि सर्वज्ञसिद्धि के रचयिता ही जीवसिद्धि के टीकाकार अनन्तकीर्ति हैं, तो इनके (१) लघुसर्वज्ञसिद्धि, (२) बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और (३) जीवसिद्धि टीका, तीन ग्रन्थों का पता चलता है। इनमें लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि उपलब्ध हैं। विषय दोनों का एक ही है।

१- वही, भाग ३, पृ० १६३–१६४।
२- पार्श्वनाथचरित १।२४।
३- "जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ —हरिवंशपुराण १।२९।

पाल्यकीर्ति का उल्लेख वादिराजसूरि ने वैयाकरण के रूप में किया है—

"कृतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेः महौजसः ।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ॥"[१]

शाकटायन व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध व्याकरणग्रन्थ के रचयिता का वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति है। पाणिनि ने एक वैयाकरण शाकटायन का उल्लेख किया है।[२] संभवतः उन्हीं शाकटायन के नाम पर इनके व्याकरण को शाकटायन व्याकरण कहा जाने लगा होगा और इन्हें शाकटायन। शाकटायन व्याकरण पर प्रक्रिया टीका के मंगलाचरण में अभयचन्द्र ने पाल्य कीर्तिनाम का उल्लेख करते हुए ही उन्हें नमस्कार किया है।[३] इन आधारों पर शाकटायन का वास्तविक नाम "पाल्यकीर्ति" ही जान पड़ता है। इनके व्याकरण का नाम भी वास्तव में शब्दानुशासन है, जिसे ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है।[४]

आचार्य पाल्यकीर्ति (शाकटायन) यापनीय सम्प्रदाय के थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही आचार्यों ने इनका सादर उल्लेख किया है। आचार्य पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष (प्रथम) के समकालीन थे। इन्होंने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति का नाम उन्हीं के नाम पर "अमोघवृत्ति" रखा है। अमोघवर्ष शक सं० ७३६ (८१४ ई०) में सिंहासनारूढ़ हुए थे।[५] अतएव पाल्यकीर्ति का समय ईसा की नवमीं शती मानना चाहिये। श्री नाथूराम प्रेमी अमोघवृत्ति का प्रणयन काल शक सं० ७३६ और ७८९ (ई० सन् ८१४ और ८६७ ई०) के मध्य मानते हुए पाल्यकीर्ति या शाकटायन का यही समय निर्धारित करते हैं।[६]

इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं—

(१) शाकटायन व्याकरण (शब्दानुशासन)। इस पर पाल्यकीर्ति की "अमोघवृत्ति" नामक स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। शाकटायन की अमोघवृत्ति का प्रारम्भ

१- पार्श्वनाथचरित १।२५।
२- "लङः शाकटायनस्यैव", अष्टाध्यायी ३।४।१११।
३- मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्।
मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रह ब्रुवे ॥
—शब्दानुशासन-शाकटायन, टीकाकार का मंगलाचरण।
४- इति श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यशाकटायनकृतौ शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ .... अध्यायस्य ..... पादः समाप्तः।—द्र० शाकटायन व्याकरण, पादान्त पुष्पिका।
५- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६१।
६- वही, पृ० १६१।

'श्रीवीरममृतं ज्योतिः'—से होता है। वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में इसके श्रीपद को लक्ष्य करके ही कहा है—

"श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ।"[1]

(२) स्त्रीभुक्ति—४६ कारिकायों में स्त्रीभुक्ति का समर्थन।

(३) केवलिभुक्ति—३७ कारिकाओं में केवली के आहार का समर्थन।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने पाल्यकीर्ति के साहित्यविषयक मत का उल्लेख किया है।[2] इससे अनुमान होता है कि उनका कोई साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी रहा होगा, जो अब उपलब्ध नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि पाल्यकीर्ति न केवल वैयाकरण अपितु साहित्यशास्त्री भी थे।

(१०) धनंजय :

वादिराजसूरि ने अनेक (एकाधिक) सन्धान वाले काव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्ते हृदये मुहुः ।
बाणाः धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्यैव प्रियाः कथम् ॥"[3]

धनंजय ने स्पष्ट रूप से अपना परिचय नहीं दिया है। द्विसंधान महाकाव्य के टीकाकार नेमिचन्द्र ने एक श्लोक की टीका में उनका परिचय श्लोक के आधार पर निकाला है। तदनुसार धनंजय के पिता का नाम वासुदेव तथा माता का नाम श्रीदेवी था। उनके गुरु का नाम दशरथ था।[4] प्रकृत धनंजय दशरूपककार धनंजय से सर्वथा भिन्न हैं।

डा० ए० बी० कीथ ने इनका समय ईसा की १२वीं शती माना है[5] जो भ्रम-

---

१– पार्श्वनाथचरित १।२५।

२– "यथा तथा वास्तुवस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिंदति, मध्यमस्तु तत्रोदात्ते "इति पाल्यकीर्तिः।"
—काव्यमीमांसा (गंगासागर राय), पृ० १२२।

३– पार्श्वनाथचरित १।२६।

४– ....उच्चैः यः श्रीदेव्याः मातर्नन्दनः पुत्रः स्थितः, क्व ? जगन्याये कथंभूतः ? वसुदेवतः प्रति वस्तुदेवस्य प्रतिनिधिः, पुनः कथंभूतः ? दिशः उपदेशान् उपात्तवान्, कस्याः ? नीत्या नीतेः, केन ? गुरुणा, किमाख्येन ? दशरथेनेति।
—द्विसन्धान महाकाव्य १८।१४६ की टीका, पृ० ३६२।

५– संस्कृत साहित्य का इतिहास– ए०बी० कीथ, अनु० शंगलदेवशास्त्री, पृ०

पूर्ण है। क्योंकि ११वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र[1] और वादिराज[2] ने इनका उल्लेख किया है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री,[3] डा० बलदेव उपाध्याय[4] धनंजय का समय ईसा की आठवीं शताब्दी मानते हैं। डा० हीरालाल जैन ने जिनसेन के गुरु वीरसेनाचार्य द्वारा धवला में अनेकार्थनाममाला के एक पद्य को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने का उल्लेख किया है।[5] परन्तु समझ में नहीं आता कि जिनसेन आदि आचार्यों ने क्यों धनंजय का उल्लेख नहीं किया है। मेरी दृष्टि से तो इन्हें वीरसेनाचार्य से पूर्ववर्ती नहीं होना चाहिए, क्योंकि वादिराजसूरि ने स्वयं इनका उल्लेख वीरसेन के शिष्य जिनसेन, अनंतकीर्ति और पाल्यकीर्ति के बाद किया है। सूक्तिमुक्तावली में जल्हण ने राजशेखर रचित एक धनंजय के प्रशंसापरक पद्य का उल्लेख किया है—

"द्विसंधाने निपुणतां स तां चक्रे धनंजयः।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः॥"

किन्तु यह पद्य राजशेखर की काव्यमीमांसा में तो मिलता नहीं। यदि यह पद्य काव्यमीमांसाकार राजशेखर का ही है तो उनका समय दसवीं शती होने से ये इनके पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इन प्रमाणों के आधारों पर इनका समय ईसा की नवमी शती ही मानना उचित प्रतीत होता है।

धनंजय की निम्नांकित रचनायें उपलब्ध हैं—

(१) द्विसन्धान महाकाव्य—१८ सर्गों में विभक्त प्रथम अर्थ रामचरित और द्वितीय अर्थ कृष्णचरित प्रकट करने वाले श्लोकों का काव्य।

(२) विषापहार स्तोत्र— ३९ पद्यों में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति।

(३) नाममाला—२०० पद्य केवल, परन्तु शब्द से शब्दान्तर बनाने की विशिष्ट प्रक्रिया बताने वाला शब्दकोश। इसके अंत में ४६ श्लोक प्रमाण अनेकार्थनाममाला भी मिलती है।

(११) अनन्तवीर्य :

जैन साहित्य में अनन्तवीर्य नामक अनेक विद्वानों का उल्लेख मिलता है।[6]

१- प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४०२ (निर्णयसागर प्रकाशन)।
२- पार्श्वनाथचरित १।२६।
३- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ७।
४- संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (प्रथम संस्करण), पृ० ३४९।
५- षट्खण्डागम, प्रस्तावना, पृ० ६२।
६- द्र० तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ३९-४०।

वादिराजसूरि ने अनन्तवीर्य का उल्लेख करते हुए उन्हें शून्यवाद रूपी अग्नि को शांत करने वाला मेघ कहा है—

'वन्देयमनन्तवीर्याब्दं यद्वागमृतवृष्टिभिः ।
जगज्जिघत्सन्निर्वाणः शून्यवादहुताशनः ॥'[१]

श्री पं० मनोहरलाल शास्त्री ने प्रकृत अनन्तवीर्य को प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य माना है।[२] किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ये तो पार्श्वनाथचरित के रचयिता वादिराज से उत्तरवर्ती बारहवीं शती के विद्वान् हैं।[३] शक सं० १०६९ (ई० सन् ११४७) में लिखित हुम्मच के एक शिलालेख (संस्कृत-कन्नड़) में आचार्य अनन्तवीर्य को श्रीपाल देव का सधर्मा बताया गया है तथा अनन्तवीर्य को श्रेष्ठवादी कहा है—

'तस्मै श्रीपालदेवाय नमस्त्रैविधचक्रिणे ।
अवर सधर्म्मर् ॥
इच्छा विधाता भयतो विधातां नारायणो मौनपरायणोऽसौ।
महेश्वरो दूरविनश्वरोऽस्मिन् कोऽनन्तवीर्ये प्रतिवक्तिवादी ॥'[४]

श्रीपालदेव द्राविड़ संघ, नंदिगण, अरुंगलान्वयी थे। वादिराज भी इसी संघ, गण और अन्वय के थे। अतः संभवतः ये अनन्तवीर्य भी द्राविड़ संघ, नंदिगण, अरुंगलान्वय के रहे होंगे। श्रीपालदेव वादिराज के दादागुरु थे, अतः उनका समय उनके करीब ५०-६० वर्ष पूर्व दशवीं शती माना जा सकता है। यही अनन्तवीर्य वादिराज द्वारा उल्लिखित अनन्तवीर्य है। ये वादिराज के ही संघगण से सम्बद्ध थे, अतः वादिराज द्वारा इन्हीं का उल्लेख उचित भी जान पड़ता है। ये अनन्तवीर्य टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अकलंक के सिद्धिविनश्चय नामक ग्रन्थ पर टीका लिखी है। इसमें बौद्ध दर्शन का खण्डन किया गया है। इनके एक ग्रन्थ 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' (या प्रमाणसंग्रहालंकार) का भी उल्लेख मिलता है। संभवतः यह भी अकलंक के प्रमाणसंग्रह पर टीका होगी।

१२- विद्यानन्द :

विद्यानंद का उल्लेख वादिराज ने अलंकार (तत्त्वार्थवार्तिकालंकार) के रचयिता के रूप में किया है—

१- पार्श्वनाथचरित १।२७।
२- वही, पृ० ४, पादटिप्पणी ६।
३- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ५३।
४- जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेखांक ३२६, पृ० ७२।

"ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानंदस्य विस्मयः ।
श्रण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ।।"[१]

विद्यानंद ने कहीं भी आत्म–परिचय नहीं दिया है। अतः इनका कुछ भी प्रामाणिक परिचय ज्ञात नहीं है। इनकी सिद्धिविनश्चय टीका से ज्ञात होता है ये बौद्ध दार्शनिक–दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,प्रज्ञाकर आदि से परिचित थे। विद्यानंद ने अपनी किसी भी कृति में समय का निर्देश नहीं किया है। डा० दरबारीलाल कोठिया विद्यानन्द का समय ई० सन्७७५–८४० निर्धारित करते हैं।[२] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री भी इनका समय ईसा की नवमीं शती मानते हैं।[३] आचार्य वादिराज के पूर्व किसी ने विद्यानन्द का स्मरण नहीं किया है तथा आचार्य वादिराज ने भी इनका स्मरण अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर लिखी गई टीका के रचयिता अनन्तवीर्य के बाद किया है। अतः इनका समय वादिराज से पूर्व और अनन्तवीर्य के पश्चाद् अथवा समकालीन होना चाहिए। इस प्रकार इनका समय ईसा की दशम शतीं मानना उचित होगा। इनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं— १– आप्तपरीक्षा–स्वोपज्ञवृत्ति, २– प्रमाणपरीक्षा, ३– पत्रपरीक्षा, ४– सत्य–शासनपरीक्षा, ५– श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, ६– तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र पर पद्यात्मक टीका ग्रन्थ। ७– अष्टसहस्री, ८– युक्त्यनुशासन।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त 'विद्यानंद महोदय' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख और मिलता है। स्याद्‌वादरत्नाकर में देवसूरि ने विद्यानंद महोदय की एक पंक्ति का उद्धरण भी दिया है।[४]

इस प्रकार आचार्य विद्यानंद ने जैन न्याय के न्यायशिरोमणि ग्रन्थों का का प्रणयन का एक कीतिस्तंभ स्थापित किया है।

(१३) विशेषवादि :

"विशेषवादिर्गीगुंफश्रवणाबद्धबुद्धयः ।
अक्लेशादधिगच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः ।।"[५]

(विशेषवादि नामक आचार्य के वाक्‌बन्ध (रचना) को सुनने के लिए आबद्ध बुद्धि वाले विद्वान् लोग बिना किसी क्लेश के विशेषाभ्युदय को प्राप्त कर लेते हैं।)

१– पार्श्वनाथचरित १।२८।
२– आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ५३।
३– तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३५२।
४– स्याद्‌वाद रत्नाकर भाग १, पृ० ३४९।
५– पार्श्वनाथचरित १।२९।

उक्त श्लोक में वादिराज सूरि ने विशेषवादि नामक कवि के काव्य की प्रशंसा की है। संभवतः इनके काव्य का नाम विशेषाभ्युदय रहा होगा— जैसा कि उक्त श्लोक से स्पष्ट है। आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में इनके गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है।[१] विशेषत्रयवादिना 'पद' से 'विशेषत्रय' ग्रन्थ भी माना जा सकता है। जो कुछ भी हो, परन्तु न तो इनकी कोई कृति ही उपलब्ध हुई है और न ही इनका परिचय। पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने अपने व्याकरण में एक सूत्र 'उपविशेषवादिनं कवयः'[२] कहकर विशेषवादि से नीचे अन्य कवियों को दिखाया है। श्री नाथूराम प्रेमी ने उक्त विशेषवादि को वादिराज द्वारा पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित विशेषवादि मानते हुए उन्हें यापनीय संघ का होने की संभावना व्यक्त की है।[३] किन्तु यदि वादिराजसूरि द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का क्रम कालानुक्रमिक माना जाये तो उक्त मान्यता ठीक नहीं ठहरती। क्योंकि वादिराज ने विशेषवादि का उल्लेख विद्यानंद और वीरनंदी के मध्य किया है। इस प्रकार इनका समय ईसा की दसवीं शती का प्रारम्भ माना जाना चाहिये। अतः शाकटायन द्वारा उल्लिखित विशेषवादि से इनकी अभिन्नता संदिग्ध है। हरिवंशपुराण और पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित विशेषवादि निश्चय ही एक हैं।

(१४) वीरनंदि :

"चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम् ।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ।।"[४]

उक्त श्लोक में वादिराजसूरि ने वीरनंदि के चन्द्रप्रभचरित की भारती को रसों से पुष्ट और मन को प्रिय करने वाली बताया है। ये नन्दि संघ के देशीय गण के आचार्य थे। चन्द्रप्रभचरित की प्रशस्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि ये अभयनंदि के शिष्य थे।[५] आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में अभयनंदि और इन्द्रनंदि के साथ इन्हें भी नमस्कार किया है।[६] ये नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

१– यो शेषोक्तिविशेषेषु विशेषः गद्यपद्ययोः ।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिना ।। —हरिवंशपुराण १।३७।

२– शाकटायन व्याकरण १।३।१०४।

३– जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ६० ।

४- पार्श्वनाथचरित १।३०।

५– चन्द्रप्रभचरित प्रशस्ति पद्य—

६– गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा, ७८५ ।

के समकालीन थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का समय ईसा की दसवीं शती है। वादिराजसूरि ने भी इनका उल्लेख सबसे अन्त में किया है। वादिराजसूरि का समय ११वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इस आधार पर भी इनका समय ईसा की दसवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि का समय ९५०-९९९ ई० माना है।[1] एक शिलालेख में वीरनंदि का उल्लेख मिलता है।[2] यह शिलालेख राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्ष कृष्णराज तृतीय के सामन्त गंगवंशीय बूतय्य पेर्मादि के समय शक ८७३ (सन् ९५०) का कन्नड़ में उत्कीर्ण है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ९५० ई० में वीरनन्दि को प्रसिद्धि मिल चुकी थी। अतएव उनका समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही मानना चाहिए।

इनका एकमात्र ग्रन्थ चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य ही उपलब्ध होता है, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथचरित में वादिराजसूरि ने किया है। यह १८ सर्गात्मक उदयांकित महाकाव्य है, जिसमें चन्द्रप्रभ के सात भवों का बड़ा ही ललित महाकाव्योचित वर्णन प्रस्तुत किया है।

१- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, पृ० ५५।

२- जैन शिलालेख संग्रह भाग ४, लेखांक ८३, पृ० ५३।

चतुर्थ अध्याय

काव्यशास्त्रीय समीक्षा

(क) पार्श्वनाथचरित का महाकाव्यत्व

आचार्य भामह ने काव्य के भेदों का निरूपण चार मान्यताओं के आधार पर पृथक्-पृथक् चार प्रकार से प्रस्तुत किया है।[1]

१– छन्द के सद्भाव या अभाव के आधार पर

(क) गद्य (ख) पद्य

२– भाषा के आधार पर

(क) संस्कृत (ख) प्राकृत (ग) अपभ्रंश

३– विषय के आधार पर

(क) ख्यातवृत्त (ख) कल्पित (ग) कलाश्रित (घ) शास्त्राश्रित।

४– स्वरूप के आधार पर

(क) सर्गबन्ध (ख) अभिनेयार्थ (ग) आख्यायिका (घ) कथा (ङ) अनिबद्ध।

उक्त चारों वर्गीकरणों में स्वरूप के आधार पर किया गया भामह का वर्गीकरण ही प्रायः पश्चाद्वर्ती समस्त काव्यशास्त्रियों का आधार बना और वे इसी में कुछ परिवर्तन या परिवर्धन के साथ अपना वर्गीकरण प्रस्तुत करते रहे। भामह के उक्त

१– "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥
वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते॥" —काव्यालंकार १।१६-१८।

स्वरूप के आधार पर किये गये वर्गीकरण का एक दोष है कि उन्होंने खण्डकाव्य को विल्कुल ही भुला दिया है। आचार्य दण्डी कथा और आख्यायिका को अलग अलग दो भेद न मानकर एक ही के दो नाम मानते हैं।[1] यतः महाकाव्य पर विचार करना ही यहाँ अभीष्ट है। अतएव वर्गीकरण के विषय में अधिक विचार न करके महाकाव्य के वारे में विचार करना ही समीचीन होगा।

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"सर्गवन्ध महाकाव्य कहलाता है। वह महान् चरित्रों से संवद्ध आकार में वड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव से संपन्न, अलंकारों से युक्त, सत्पुरुषाश्रित, मन्त्रणादूतप्रेषण-अभिमान- युद्ध-नायक के अभ्युदय एवं पंच संधियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय तथा ऋद्धिपूर्ण होता है। चतुर्वर्ग का निरूपण करने पर भी उसमें प्रधानता अर्थ-निरूपण की होती है। उसमें लौकिक आचार तथा सभी रस विद्यमान रहते हैं। वंश, बल, ज्ञान आदि गुणों द्वारा नायक का पहले वर्णन करके दूसरे के उत्कर्ष कहने की इच्छा से उसका वध वर्णित नहीं करना चाहिये। यदि काव्य में उसकी व्यापकता अपेक्षित न हो अथवा उसे अभ्युदयगामी न बनाना हो तो आरम्भ में उसका ग्रहण और प्रशंसा करना व्यर्थ है।[2]

भामहकृत महाकाव्य का यह लक्षण न केवल प्राचीन ही है, अपितु संक्षिप्त और विद्वानों द्वारा सम्मानित भी है। यद्यपि पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण में कोई न कोई नई बात जरूर जोड़ी है, परन्तु भामह के लक्षण में कोई भी आवश्यक तत्त्व छूट नहीं पाया है।

आचार्य दण्डी ने अपने महाकाव्य के लक्षण में भामह के उक्त निकायों का समावेश करते हुय आरंभ में मंगलाचरण (आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तु-निर्देशात्मक) के होने का तथा आख्यान के ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होने का उल्लेख किया है। उन्होंने महाकाव्य के लक्षण में प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द तथा सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन का निर्देश करते हुए अंगी रस के रूप में श्रृंगार अथवा वीर को ही मान्यता दी है। दण्डी का कथन है कि महाकाव्य में प्रतिनायक के भी उच्च वंश, शौर्य, विद्या आदि की प्रशंसा करना चाहिये। क्योंकि इससे उसके ऊपर विजय प्राप्त करने वाले नायक का उत्कर्ष बढ़ता है।[3]

१- 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञादयांकिता'। —काव्यादर्श १।२८।

२- काव्यालंकार १।१९-२३।

३- काव्यादर्श १।१४-२२।

आचार्य रुद्रट ने अपने महाकाव्य के लक्षण को पर्याप्त विस्तार के साथ दिया है। अपने लक्षण में उन्होंने भारतीय संस्कृति के भाण्डार रामायण और महाभारत को भी महाकाव्य की कोटि में लाने का संस्तुत्य प्रयास किया है। उनकी एक और अपनी विशेषता यह है कि उन्होंने मूलकथानक के मध्य में अन्य अवान्तर कथानकों के समावेश का भी निर्देश किया है। शेष बातों में रुद्रट ने भामह और दण्डी का ही अनुकरण किया है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी महाकाव्य के लक्षण में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का ही अनुसरण किया है। परन्तु यह उनकी अपनी विशेषता है कि उन्होंने बहुत ही कम शब्दों में सूत्रात्मक शैली में महाकाव्य के समस्त तत्वों का समावेश कर दिया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने शब्दवैचित्र्य को महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए उसके अन्तर्गत दुष्कर चित्रालंकार एवं अन्य शब्दालंकारों के ग्रहण के साथ ही काव्य के अन्त में स्वाभिप्राय, स्वनाम, इष्टनाम अथवा मंगल के अंकित होने का समावेश किया है।[3] इस प्रकार इनके महाकाव्य के लक्षण में नये तत्त्वों का समावेश हुआ है।

अन्य आचार्यों के महाकाव्य के लक्षणों में कोई नवीन उद्‌भावना दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतएव केवल आचार्य विश्वनाथ के महाकाव्य के लक्षण का ही उल्लेख करना समीचीन होगा। क्योंकि विश्वनाथ का लक्षण सर्वांग एवं विद्वानों द्वारा मान्य है।

"जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें धीरोदात्त नायक के गुणों से सम्पन्न देवता अथवा सद्‌वंश में उत्पन्न क्षत्रिय नायक होता है। कहीं-कहीं एक ही कुल में उत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर अथवा शान्त में से कोई एक रस अंगी (प्रधान) होता है तथा अन्य सभी रस गौण-

---

१– द्र० काव्यालंकार १६।२–१९।

२– "छन्दोविशेषरचितं प्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यं सर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्टमुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणसन्धिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।" —काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ३९५।

३– "शब्दवैचित्र्यं यथा—असंक्षिप्तग्रन्थत्वम्, अविषमबन्धत्वम्, अनतिविस्तीर्णपरस्परनिबद्धसर्गादित्वम्, आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमत्वम्, वक्तव्यार्थतत्प्रतिज्ञानतत्प्रयोजनोपन्यासकविप्रशंसासुजनदुर्जनस्वरूपवदादिवाक्यत्वम्, दुष्करचित्रादिसर्गत्वम्, स्वाभिप्रायस्वनामेष्टनाममंगलांकितसमाप्तित्वम्।" —काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ४०१।

रूप में रहते हैं। इसमें नाटक की पाँचों संधियाँ रहती हैं। इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से कोई एक इनका फल होता है। आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वाद अथवा कथावस्तु का निर्देश होता हैं। कहीं-२ दुर्जनों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा की जाती है। इसमें न तो बहुत ही छोटे और न बहुत ही बड़े कम से कम आठ सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्गान्त में छन्द का परिवर्तन कर दिया जाता है। किसी सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, षट्ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होता है। महाकाव्य का नाम कवि के नाम से, वर्ण्य-चरित के नाम से अथवा चरित-नायक के नाम से होना चाहिए। इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर भी नाम हो सकता है। वर्णनीय कथानक के अनुसार सर्ग का नाम भी रखा जाता है।"[1]

आचार्य विश्वनाथ के उक्त लक्षण से एक प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि विश्वनाथ के अनुसार नायक को देव या सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए, यदि इस बात को मान लिया जाय तो संस्कृत के शंकरदिग्विजय, दयानन्ददिग्विजय आदि काव्य महाकाव्य की श्रेणी में नहीं आ सकेंगे। क्योंकि शंकर और दयानन्द देव अथवा क्षत्रिय नहीं है। आचार्य भामह ने महान् चरित्र को ही महाकाव्य का आवश्यक तत्व माना है। अतएव विश्वनाथ के 'सद्वंशः क्षत्रियो वापि' को महान् चरित्र का ही उपलक्षण मानना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों में कही गई सभी बातों का एक ही महाकाव्य में समावेश अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि तत्तत् आचार्यों ने किसी एक महाकाव्य को अपना आदर्श मानकर लक्षण का निर्माण किया है। अतएव उक्त लक्षणों के आधार पर महाकाव्य के कुछ सामान्य स्वरूपाधायक तत्वों का निर्देश कर देना समीचीन होगा।

(१) महाकाव्य का कथानक सर्गबद्ध हो, जिसमें कम से कम आठ सर्ग हों। कथानक को ऐतिहासिक या सज्जनाश्रित होना चाहिए तथा उसमें नाटक की पांचों संधियाँ विद्यमान हों।

(२) महाकाव्य के प्रारम्भ में त्रिविध मंगलाचरणों-नमस्कारात्मक आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक, में से कोई एक मंगलाचरण हो। मंगलाचरण के बाद

१- साहित्यदर्पण, ६।३१५-३२४।

कथानक के प्रारंभ के पूर्व यदि दुर्जन-निंदा और सज्जनप्रशंसा हो तो अच्छा है।

(३) श्रृंगार, वीर अथवा शान्त में से कोई एक रस अंगी हो, शेष रसों का प्रयोग अंग में हुआ हो।

(४) देवता, सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय अथवा कोई महान् चरित्र ही महाकाव्य में नायक हो सकता है। कहीं-कहीं एक वंश के अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं।

(५) महाकाव्य का नामकरण कवि, वर्णनीय कथावस्तु अथवा नायक के नाम पर होना चाहिए।

(६) प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग, परन्तु सर्गान्त में छन्द का परिवर्तन हो। किसी सर्ग में अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(७) कसी एक सर्ग में विभिन्न चित्रालकारों और अन्य शब्दालंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया गया हो, तो अच्छा है।

(८) महाकाव्य में प्रकृतिवर्णन के अन्तर्गत नगर, वन, प्रातः चन्द्रोदय, सूर्योदय, युद्ध, षड्ऋतु आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन किया गया हो।

(९) काव्य का अन्त स्वाभिप्रायांकित, स्वनामांकित, इष्टनामांकित अथवा मंगलांकित होना चाहिए।

(१०) चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ काम या मोक्ष में से कोई एक महाकाव्य का फल होता है।

अब यहाँ उक्त तत्वों के आधार पर पार्श्वनाथचरित के महाकाव्यत्व की समीक्षा प्रस्तुत है।

पार्श्वनाथचरित की कथावस्तु १२ सर्गों में विभक्त है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। यह गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से लिया गया है। इसमें नाटक की पांचों सन्धियों मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण का यथास्थान प्रयोग हुआ है। काव्य का प्रारम्भ 'श्री' इस मंगल शब्द के साथ तीर्थंकर पार्श्वनाथ को नमस्कार करते हुए (नमः श्री पार्श्वनाथाय) किया गया है। अतएव यहाँ नमस्कारात्मक मंगलाचरण है। साथ ही कवि ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कथानक का भी निर्देश कर दिया है। अतः वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण भी माना जा सकता है। महाकाव्य की परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथचरित में छः पद्यों में दुर्जन-निंदा और सज्जन-प्रशंसा भी की गई है।

पार्श्वनाथचरित में यथावसर सभी रसों का विन्यास हुआ है, परन्तु इसका अंगी रस शान्त है। अंग रूप में उभयविध श्रृंगार, वीर, भयानक, रौद्र, हास्य आदि रसों का प्रयोग हुआ है। पार्श्वनाथचरित, महाकाव्य में नायक धीरोदात्तक्षत्रियकुला-

वतंस जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं ।

पार्श्वनाथचरित का नामकरण चरितनायक पार्श्वनाथ के नाम पर किया गया है। इसके प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग है तथा सर्गान्त में छन्द का परिवर्तन भी किया गया है। छठे सर्ग में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, रथोद्धता, स्वागता, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, अपराजिता, वसन्ततिलका, वसन्त (नन्दीमुखी), मालिनी, शिखरिणी, पृथ्वी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, मालभारिणी और विपुला (नविपुला, मविपूला) इन २२ छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार सप्तम सर्ग में गतप्रत्यागत, गोमूत्रिका, मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक, गूढ़चतुर्थक, अक्षरव्यत्यय, अपवर्ग, अकवर्ग, निरोष्ठ्य, चित्रालंकारों एवं अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है।

पार्श्वनाथचरित में प्रकृतिवर्णन के अन्तर्गत कवि ने वन, नगर, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि, युद्ध, रतिक्रीडा, जलक्रीडा, गजाश्वस्वभाव, षड्ऋतु आदि का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। पार्श्वनाथचरित के सर्गान्त के श्लोक में मंगलकारी 'श्री' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतएव यह श्र्यन्त महाकाव्य है। काव्य के अन्त में 'श्री' पद होने से यह मंगलांकित अन्त वाला महाकाव्य भी है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। किन्तु काव्य का प्रधान रस शान्त होने से मुख्य फल मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथचरित में महाकाव्य के सभी लक्षण भलीभांति घटित हुये हैं। अतएव पार्श्वनाथचरित शास्त्रीय दृष्टि से एक सफल महाकाव्य है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में महाकाव्य का कोई भी आवश्यक वर्ण्य-विषय नहीं छोड़ा है। अतः वादिराज ने स्वयं सर्गान्त पुष्पिका में जो इसे महाकाव्य कहा है, वह सर्वथा समीचीन है।

(ख) रस-विचार

शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस आत्मा। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है।[1] रस की अभिव्यक्ति को अजितसेन ने बड़े ही सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार परिपाक हो जाने से नवनीत ही घृत रूप में परिणत हो जाता है, उसी

१- "विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥ —काव्यप्रकाश, ४।२८।

प्रकार स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से रस रूप में परिणत हो जाता है।[1]

वस्तुतः किसी काव्य के पठन या श्रवण से जो आनन्द की प्राप्ति होती है, वह रस के द्वारा ही होती। रसों की संख्या सामान्यतः ९ मानी गई है- (१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत और (९) शान्त।

शान्त रस की मान्यता :

महाकाव्य में शृंगार, वीर,था शान्त में से कोई एक रस ही अंगी (प्रधान) परिपुष्ट होता है। अंगी रस के अतिरिक्त शेष सभी रस अंग (अप्रधान) रूप में अभिव्यक्त होते हैं।[2] शृंगार और वीर रस की मान्दता निर्विवाद है, परन्तु शान्त रस की मान्यता विवादास्पद है। अतएव शान्त रस के विषय में संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित नहीं होगा।

अलंकारशास्त्री भरत मुनि को ही रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। किन्तु इस मान्यता को सर्वसम्मत नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भरत मुनि का रूपक प्रणेता के रूप में और नन्दिकेश्वर नामक किसी विशिष्ट आचार्य का रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में उल्लेख किया है।[3]

शान्त रस का प्रतिपादन भरत मुनि ने किया है या नहीं, यह विवादास्पद है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा वाले संस्करण को छोड़कर अन्य संस्करणों में रस-विवेचन वाला अंश प्रायः नहीं मिलता है और नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने भी उक्त अंश को प्रक्षिप्त मानते हुए ही उस पर टीका लिखी है। आचार्य उद्भट (ईसा की ८वीं शताब्दी) ने शान्त रस को स्पष्ट

१- "नवनीतं यथाज्यत्वं प्राप्नोति परिपाकतः।
स्थायिभावो विभावाद्यैः प्राप्नोति रसतां तथा॥"
—अलंकार चिन्तामणि ५।८७

२- "शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः ………… ॥" —साहित्यदर्पण, ६।३१७

३- 'रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।'
—काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय, पृ० २

रूप से नवम रस स्वीकार किया है।[1] इस आधार यही माना जाता है कि सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने ही शान्त रस की मान्यता को स्थिर किया है। परन्तु अलंकार-शास्त्र के अन्वेषण से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य आर्यरक्षित द्वारा प्रणीत जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र में प्रसंगतः एक से दस तक संख्या वाले नामों का निर्देश करते हुए नव संख्या के प्रसंग में नव रसों का निर्देश किया गया है।[2] वहीं प्रशान्त (शान्त) रस का भी स्पष्ट रूप से विवेचन मिलता है।[3] अतः उद्भट के पूर्व भी प्रशान्त (शान्त) रस की मान्यता थी, इस विषय में कोई भी शंका का स्थान नहीं है।

शान्तरस के स्थायीभाव के सम्बन्ध में भी विवाद है। आचार्य मम्मट अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद मानते हैं। निर्वेद को उन्होंने संचारिभावों में इसीलिए प्रथम स्थान दिया है, क्योंकि वह स्थायीभाव भी है।[4] किन्तु आचार्य मम्मट ने निर्वेद–स्थायीभाव और निर्वेद-संचारिभाव में कोई

१- 'श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥"
—काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ४६।

२- 'से किं तं नवनामे ? नवनामे णवकव्वरसा पण्णत्ता तं जहां वीरो सिंगारो
अब्भुओ अ रोद्दो अ, होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसंतो अ ॥"
—अनुयोगद्वारसूत्र (प्रथम भाग), पृ० ८२८।
(यहाँ द्रष्टव्य है कि आर्यरक्षित ने भयानक रस को स्वीकार न करके व्रीडनक नामक एक नये रस को स्वीकार किया है।)

३- "निद्दोसमणसमाहणसंभवो जो पसन्तभावेणं।
अविकारलक्खणे सो रसो पसंतोत्ति णायव्वो ॥
पसंतो रसो जहा–
सब्भावणिव्विगारं उवसंतपसंतसोमदिट्ठीयं।
ही जह मुणिणो सोहइ मुहकमलं पीवरसिरीयं ॥"
—वही (द्वितीय भाग) पृ० ८।

४- "निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथमनुपादेयत्वेऽप्युपादनं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्। तेन—, "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।"
—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४७, पृ० १३८।

विभाजक रेखा नहीं खींची है, जिससे दोनों का अन्तर स्पष्ट हो सके। आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र शान्त रस का स्थायीभाव शम मानते हुए निस्पृहता को शम कहते हैं।[1] शम को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शम स्थायीभाव काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित, विषयों में आसक्ति से रहित, अक्लिष्ट चित्तवृत्तिरूप होता है।[2] वे निर्वेद को संचारिभाव मात्र मानते हैं। क्योंकि सांसारिक कारणों से वैराग्य भाव की उत्पत्ति होना निर्वेद है और यह नित्य नहीं है। अतएव स्थायीभाव नहीं हो सकता है। विषयों में वास्तविक विरक्ति का नाम शम है और यह नित्य है, अतः यह स्थायीभाव है। इसी प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने मम्मट के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि मम्मट के द्वारा एक ही निर्वेद भाव को स्थायीभाव और संचारिभाव कहना स्ववचन विरोध है।[3] हिन्दी के कवि बनारसीदास ने समयसार नाटक में लौकिक और पारमार्थिक दो तरह के स्थायीभावों का वर्णन किया है। उन्होंने शान्तरस का लौकिक स्थायीभाव माया में अरुचि तथा पारमार्थिक स्थायीभाव सहज ध्रुव वैराग्य माना है।[4]

१– "निस्पृहत्वं शमः।" —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३१७।

२– "कामक्रोधलोभमानमायाद्यनुपरक्तपरोन्मुखताविवर्जिता विलष्टचेतोरूपशमस्थायी — · · ·।" —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३१७।

३– "मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां 'प्रतिकूलविभावादिपरिग्रह' इत्यत्र तमेव प्रति व्यभिचरितां च ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।" —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३३२।

४– शोभा में शृंगार बसे वीर पुरुषारथ में कोमल हिये में करुणा बखानिये।
आनंद में हास्य रुंड मुंड में विराजे रुद्र बीभत्स जहाँ तहाँ गिलानि मन आनिये॥
चिंता में भयानक अथाहता में अद्भुत माया की अरुचिता में शान्त रस मानिये।
येई नव रस भव रूप येई भाव रूप इनको विलक्षण सुदृष्टि जगे जानिये॥

गुणविचार शृंगार वीर उद्यम उदार रुख।
करुणा रस सम रीति हास्य हिरदे उच्छाह मुख॥
अष्टकरमदलमलन रुद्र वर्ते तिथि थानक।
तन विलक्ष बीभत्स द्वन्द्व दुख दशा भयानक॥
अद्भुत अनंतबल चिंतवन शांत सहज वैराग्य ध्रुव।
नवरस विलास प्रकाश तब जब सुबोध घट प्रकट हुव॥

—समयसार नाटक, पृ० ६७।

आचार्य मम्मट ने शान्त रस का उदाहरण निम्नलिखित दिया है—

'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा वलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिवेति प्रलपतः ॥'[1]

उक्त उदाहरण से तो यही स्पष्ट होता है कि विषय-भोगों से नित्य तथा वास्तविक विरक्ति ही मम्मटसम्मत निर्वेद स्थायीभाव है। सांसारिक क्लेशों से उत्पन्न अनित्य वैराग्यभाव तो मम्मट की दृष्टि में भी संचारिभाव ही है। अतः मम्मट के निर्वेद स्थायीभाव से वही तात्पर्य जान पड़ता है, जो रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शम स्थायीभाव से है। इस प्रकार मम्मट के निर्वेद स्थायीभाव और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शम स्थायीभाव में नामगत अन्तर ही दिखलाई पड़ता है। इतना अवश्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अलग-अलग नामकरण से स्थायीभाव और संचारिभाव में विभाजक रेखा बनी रहती है, फलतः सन्देह को स्थान नहीं मिल पाता है। यही कारण है कि उनके पश्चाद्वर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने शान्त रस के स्थायीभाव का नाम शम ही दिया है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शान्त रस की मान्यता निर्विवाद है। ईसा की प्रथम शताब्दी में भी शान्त रस की प्रतिष्ठा थी और शान्त रस का स्थायीभाव शम (सहज नित्य वैराग्य) है।

अंगी रस-शान्त

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में चतुर्थ पुरुषार्थ ही मानव-जीवन का साध्य है। धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों की पराकाष्ठा विषय भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करती है और मनुष्य इन्हें विनाशीक तथा अनात्मनीन समझने लगता है। जैन काव्यों की यह विशेषता रही है कि उनमें अंगी रस के रूप में प्रायः शान्तरस का ही प्रयोग हुआ है। क्योंकि चतुर्थ पुरुषार्थ उनका साध्य है। भव्य पुरुष किसी निमित्त को पाकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं और तपश्चरण आदि के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

पार्श्वनाथचरित में शान्तरस का अनेक स्थानों में प्रयोग हुआ है। राजा अरविन्द प्रासाद के ऊपर बैठकर मरुभूति की यात्रा के विषय में विचार कर रहा था,

१- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, उदाहरण ४४, पृ० १३८।
२- "शान्तः शमस्थायिभाव:।"—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २४५।

कि उसी समय उसने आकाश मण्डल में क्षण मात्र में नाश को प्राप्त होते हुए मेघ-पटल को देखा। उसें देखते ही राजा को विषयों की अनित्यता का ज्ञान हो गया। राजा अरविन्द के विचार में शान्त रस का वड़ा ही अच्छा परिपाक हुआ है।

'यह शरीर स्वभाव से अपवित्र और नाशशील है। इस दुष्ट सृष्टि का एक ही आदि कारण है। अपने अज्ञान से मूर्ख लोग इस शरीर के लिए अनात्म सम्बन्धी प्रयत्न को दृढ़ करते हैं। दो या तीन दिन का सम्बन्ध रखने वाली इस देह में मनुष्य दृढ़ प्रेम को लगाता हुआ पहले किये गये तथा फिर छोड़े गये चिरन्तन पदार्थों को भूल जाता है, यह आश्चर्य की बात है। यह शरीर वहते हुए नव द्वारों वाला, अशुद्ध वस्तुओं का पात्र तथा व्याधिरूप सर्पों का क्षेत्र है। मूर्ख उस शरीर में अत्यन्त तृष्णा के साथ निवद्ध होता है और विवेकी शरीर के नाम से ही उद्विग्न हो जाता है। मनुष्य गुरुओं की प्रतारणा करते हुए प्रौढ अनुराग से लक्ष्मी को धारण करते हैं। वह लक्ष्मी नये नये प्रेमियों को चाहने वाली वेश्या की तरह उसे छोड़ देती है और किसी दूसरे को चाहती है। संसार रूपी वंधन में वंधे जीवात्मा ने जिसे पहले भोगकर छोड़ दिया है, वही सव उसका भोज्य है। विशेष (आत्मा) का ज्ञान न रखने वाला पुरुष उसी में तृप्त होता रहता है। ऐसा अभिमानी व्यक्ति क्यों नहीं लज्जित होता है। शरीरधारियों को कर्मफल देने में समर्थ अवश्य भोगने योग्य सुख दुख के होने पर रागद्वेष यदि दोनों ही निकल जायें, तो कौन किसका वन्धु अथवा कौन किसका विरोधीं है।'¹

१– 'वपुः स्वभावाशुचि भंगशीलं निदानमेकं खलु दुष्टसृष्टेः।
तदर्थमात्मानवोधमूढा अनात्मनीनं दृढयन्ति यत्नम्॥
द्वित्राहसंवन्धिनि तावदस्मिन् देहे दृढप्रेम जनो निवध्नन्।
गृहीतनिर्मुक्तचिरन्तनानां तेषां पुनर्विस्मरतीति चित्रम्॥
स्रवन्नवद्वारमशौचपात्रम् क्षेत्रं वपुर्व्याधिसरीसृपाणाम्।
मूर्खः परं तत्र निवद्धतृष्णो नाम्नापि तस्योद्विजते विवेकी॥
प्रौढानुरागेण विभर्ति लक्ष्मीं नरो गुरूनप्यतिसंदधानः।
स वारनारीव नवप्रिया तं विमुञ्चति वाञ्छति कञ्चिदन्यम्॥
भोज्यं हि भुक्तोज्झितमेव सर्वं जीवेन पूर्वं भवबन्धमाजा॥
तत्रैव तृप्यन्नविशेषदर्शी जिह्लेति जनोऽभिमानी॥
तनुभृतां कर्मविपाकशक्तेरवश्यभाव्ये सुखदुःखयोगे।
कः कस्य वन्धु यदि वा विरोधी रागापरागो यदुपप्लवेते॥'
—पार्श्वनाथचरित २।९५–१००

यहाँ पर आकाश–मण्डल में अभ्रपटल का दिखलाई देना तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाना, अतएव संसार की अनित्यता का बोध होना आलंवन विभाव है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत उपदेशात्मक उक्तियों का स्मरण माना जा सकता है। मन की निर्मलता, शरीर की अशुचिता, लक्ष्मी की वेश्या की तरह चंचलता आदि का ज्ञान होना अनुभाव तथा ग्लानि, उद्वेग, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव और संचारिभावों (व्यभिचारिभावों) से परिपुष्ट होकर शम स्थायिभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव यहां शान्तरस है।

जव चक्रवर्ती वज्रनाभ वसन्तश्री देखने के लिए वन-विहार को गये, तव वापिस आते समय उन्होंने पहले देखे गये हरे-भरे आम के पेड़ों की बौर गिर जाने और पत्तों को तोड़ लिये जाने के कारण श्रिविहीन देखा। थोड़ी ही देर में हुए इस परिवर्तन को देखकर चक्रवर्ती के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे विचार करने लगे कि—

"इस नवीन उम्र एवं मनोज्ञ शरीर के कारण कामपीड़ित लोग सुख के समय हितकारी कार्यों से प्रमाद करते हैं और विना सूचना के उपस्थित हो जाने वाले यमराज का ध्यान नहीं करते हैं। मूर्ख लोग इनमें मृगतृष्णा की तरह विमोहित हो जाते हैं। यदि विद्वान् अपनी विद्या से मृगतृष्णा को समझ लें तो उसे चाहिये कि वह विवेक–दीपकों से उन्हें जलाञ्जलि दे दे अथवा दूर से ही हाथ जोड़ ले। प्रिय मालूम पड़ने वाले विषयोन्मुख सुख विनाशीक है, गुणों का नाश करने वाले हैं, पश्चाताप कराने वाले और अनात्मनीन हैं, अतएव वृथा है। उन्हें वारम्वार धिक्कार है।"[1]

उक्त स्थल में शान्त रस का विवेचन है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी शान्तरस का विवेचन हुआ है। राजा आनन्द नें जव अपने श्याम केशों के मध्य में कुछ श्वेत केशों को देखा तो उन्हें देखकर राजा को विरक्ति हो गई। उस समय

१– "वयो नवं कान्तमिदं वपुस्तव् सुखे जवा इव स्मरार्ताः। (१)
हितात्प्रमाद्यन्ति परं न जानन्त्यतर्कितोपस्थितमन्तकस्य ॥
तनोत्यविद्वान् मृगवद्विमोहं विद्वान् स्वविद्या मृगतृष्णिका चेत्।
वितीर्यतां तर्हि विवेकदीपैस्तुत्यंजलिस्सत्यजलांजलिर्वा ॥
यदि प्रियासाद्यदिनाशियच्चलं गुणच्छिदे यद्युपतापसंधियः।
अनात्मनीनं तत एव तर्हि तद् वृथैव धिग्धिग् विषयोन्मुखं सुखम् ॥
—पार्श्वनाथचरित ८।७४–७६।

राजा के द्वारा किये गये विचारों में भी शान्त रस का परिपाक द्रष्टव्य है।[1]

अंग रस

पार्श्वनाथचरित में अंगी रस शान्त रस के अतिरिक्त अन्य शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, हास्य आदि रसों का भी अंग रूप में प्रयोग हुआ है। महाकवि वादिराज ने जहाँ एक ओर शान्त, शृंगार जैसे कोमल रसों की तरंगिणी तरंगित की है, वहाँ दूसरी ओर वीर, रौद्र, भयानक जैसे रसों का भी सफल चित्रण किया है।

शृंगार: संभोग :

पार्श्वनाथचरित में शृंगार के दोनों पक्षों-संभोग और विप्रलंभ का सुन्दर चित्रण हुआ है। संभोग शृंगार का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि—

"जिस नगर में मनुष्यों के समक्ष नत भौहों वाली स्त्रियां अपने प्रेमियों (पतियों) से विना कुछ कहे ही केवल विचारपूर्वक फेंके गये अपने लीलान्वित कटाक्षों से कामदेव द्वारा उपदिष्ट हृदयगत अभिप्राय को प्रकट कर देती थीं।"[2]

पार्श्वनाथचरित महाकवि वादिराज की प्रथम साहित्यिक कृति है। इसलिए यशोधरचरित की अपेक्षा इसमें कवि की शृंगारिक भावना अधिक प्रकट हुई जान पड़ती है। कहीं-कहीं तो उनकी शृंगारिकता मर्यादातीत हो गई है। यथा—

"पुष्पित लताओं के गृह में प्रविष्ट स्त्री और पुरुषों के रतिक्रीड़ा के समय होने वाले शब्द भ्रमणायमान भ्रमरों की झंकार के कारण जोर से बाहर नहीं निकल सके।[3]"

उक्त अंश में कवि की लेखनी को भले ही असंयत कहा जाय, परन्तु यह नहीं माना जा सकता है कि उनका शृंगार अश्लील है।

विप्रलंभ :

वादिराज ने विप्रलंभ का वर्णन कमठ और वसुन्धरा के प्रसंग में किया है। वसुन्धरा को देखते ही कमठ उस पर आसक्त हो जाता है। कामाग्नि के अत्यधिक

१- द्र०-वही ६।३२-३७।

२- "अवाग्विसर्गं जनसन्निधौ प्रियैर्नतभ्रुवां यत्र विविच्य केवलम्।
वदन्ति लीलावलितैर्विलोकितैः स्मरोपदिष्टं किमपि स्वहृद्गतम्॥
—पार्श्वनाथचरित ४।६४।

१- "पुष्पल्लतागर्भगृहप्रविष्टाः स्त्रीपुंसरत्युत्सवकंठशब्दाः।
अवापुरुच्चैर्न वहिःप्रचारं परिभ्रमद्भृंगरवाभिरुद्धाः॥"
—पार्श्वनाथचरित ८।३४।

बढ़ जाने के कारण कमठ के शरीर पर बारम्बार किया गया गाढ़े चन्दन का लेप भी शीतलता नहीं पहुंचाता है, अपितु और अधिक जलाता है। अशोक के नवीन किसलयों की शय्या भी उसे दावाग्नि की ज्वाला के समान प्रतीत होती है।

"अतिप्रवृद्धेन मनोभवाग्नेस्तप्तोष्मणा दुर्विषहेन राजन् ! ।
अनीयत पावकतां तदंगे पुनः पुनश्चन्दनपंकलेपः ॥
स्थितोऽपि तस्यामशनैरशोकप्रवालशय्यां स विवृद्धतापः ।
ज्वालाभिवाबुद्ध दवानलस्य स्मरातुरस्यास्ति कुतो विवेकः।।"

—पार्श्वनाथचरित २।१५-१६।

उक्त स्थल में विप्रलंभ श्रृंगार का बड़ा ही अच्छा चित्रण हुआ है। किन्तु उक्त चित्रण श्रृंगार रस का स्थान पाने योग्य नहीं है। क्योंकि साहित्यशास्त्रियों की यह मान्यता है कि परकीया नायिकागत रति को श्रृंगार रस नहीं माना जा सकता है।[1] आचार्य मम्मट का यही कथन है कि जहाँ पर रस में अनौचित्य हो वहाँ रसाभास होता है।[2] चूंकि वसुन्धरा कमठ के अनुज की परिणीता है। अतएव उसके प्रति प्रदर्शित रति श्रृंगार रस का स्थान पाने योग्य नहीं है। एतावता इसे रसाभास मानना चाहिये।

वीर :

पार्श्वनाथचरित में युद्ध-प्रसंगों में वीरों का ओजस्वी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। चक्रवर्ती वज्रनाभ की दिग्विजय के प्रसंग में योद्धाओं के वर्णन में वीररस की अवतारणा हुई है। मागध व्यन्तराधिप के सैनिक कहते हैं कि—

"हे देव ! योद्धाओं के सम्मर्दन करने से प्राप्त पराक्रम सिद्धि वाले हम लोगों को अभीष्ट क्रिया-सिद्धि में लगाइये। अत्यन्त फैलते हुए धुंये से बन्द आंखों वाला कौन पुरुष ऐसा है, जो दूर से आकर दावाग्नि का अतिक्रमण कर सके। यदि आपकी इच्छा हो तो इस शीतोदा नदी को सूखे जल वाली और केवल घूमते हुए मगरमच्छों वाली कर दें। हे देव ! समुद्ररूपी गड्ढे के नीरस खारे जल को सुखाकर तुम्हारे यशरूपी अमृत से भर दें। शाश्वत प्रभाव वाले सुमेरु पर्वत को

१- "परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥"
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका १८४।

२- "तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।" — काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास, सूत्र ४६, पृ० १४१।

भूमि के अन्दर से निकालकर वहाँ आपकी कीर्तिरूपी कल्पलता के आश्रयभूत स्तवन को लगा दें। अपार कान्ति के धारक सूर्य की किरणों को वलपूर्वक खींचकर उनसे हार बनाकर आपकी दूसरी भुजा को भूषित कर दें। अपने अधिपति से इस प्रकार के वचन कहकर आकार से ही अपने पराक्रम को प्रकट करते हुए मागध व्यन्तरराज के सैनिक युद्ध के लिए तैयार हो गये।"[1]

यहाँ पर शत्रुभूत वज्रनाभ चक्रवर्ती और उसकी सेना आलंबन विभाव और उनकी वाण छोड़ने आदि की पूर्ववर्णित चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। शरीर की आकृति में परिवर्तन, अपने वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन, दर्पोक्तियाँ आदि अनुभाव तथा गर्व, क्रोध, उग्रता, आवेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। इनसे परिपुष्ट उत्साह स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही वीररस है।

रौद्र :

चक्रवर्ती वज्रनाभ के वाण से जब मागध व्यन्तराधिप का उत्तुंग मणिमय हर्म्य टूटकर गिर पड़ता है, तो उसका सेवक उस वाण को ले जाकर अपने स्वामी के पास ले जाता है। वाण देखकर व्यन्तराधिप अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है। इसी प्रसंग में रौद्र रस का चित्रण हुआ है—

"वाण को देखते ही उत्पन्न क्रोध के कारण अपनी आंखों को घुमाते हुए

१– "अतस्सुभटसंमर्दलब्धविक्रमसिद्धय: ।
ईप्सितार्थक्रियासिद्धौ देव प्रेष्यामहे वयम् ॥
वहलप्रस्टतोद्दामधूमप्रत्यूहलोचन: ।
दूरादभ्येत्य दावाग्नि कोऽतिक्रमितुमीश्वर: ॥
शुष्काम्वुतलमात्रस्थभ्राम्यत्तिमितिमिंगलिम् ।
करवाम यदीच्छा ते शीतोदाकुहरोदरम् ॥
निरस्य नीरसं वारिक्षारमर्णवगह्वरम् ।
संपादयेम संपूर्णं तव देव ! यशोऽमृतै: ॥
मेरुरुन्मील्य भूगर्भात् प्रभावं तत्र शाश्वतम् ।
कीर्तिकल्पलतालंवस्तवमुत्तंभयेम ते ।
अपारभान्मत: शुभ्रा: वलादाहृत्य भावली: ।
हारिकृताभिस्ताभिस्ते भूषयेम भुजान्तरत् ॥
धीरमित्यभिधायोच्चैराकाराविस्कृतोद्यमा: ।
अभूवन्युद्धसन्नद्धा: मागधानीकनायका: ॥ —पार्श्वनाथचरित ७।६३-६९।

व्यन्तराधिप ने कहकहाध्वनिपूर्वक ऐसा कहा। इस प्रकार के साहस का कार्य उसी व्यक्ति का हो सकता है, जो केवल अपनी कीर्ति ही चाहता है और जिसे अपने प्रिय प्राणों की चिन्ता नहीं है। क्या इस प्रचण्ड अस्त्रदण्ड (वाण) ने आकाशमण्डल को व्याप्त करने वाली मेरी कीर्तिलता को खण्डित नहीं कर डाला है? अर्थात् अवश्य ही खण्डित कर डाला है।"[१]

यहाँ पर मागध व्यन्तराधिप के लिए शत्रुभूत चक्रवर्ती आलंवन विभाव और उसकी वाण छोड़ने आदि की चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। आंखों का घुमाना, कहकहाध्वनि करना आदि इसके अनुभाव तथा आवेग, गर्व आदि व्यभिचारिभाव हैं। उक्त भावों से शत्रु के द्वारा किये गये अपकार के कारण अभिव्यक्त क्रोध नामक स्थायीभाव ही रौद्र रस है।

भयानक :

पार्श्वनाथचरित में भयानक रस का अत्यन्त सजीव एवं आह्लादक वर्णन हुआ है। कवि क्रुद्ध हाथी का अतीव रोमांचक चित्रण करता हुआ कहता है कि—

"मरे योद्धाओं के शरीर को अपनी सूंड से आकाश में फेंकता हुआ मानों वह हाथी ऐसा कह रहा था कि पराक्रम की पराकाष्ठा इतनी ही होती है। उस हाथी ने क्षत-विक्षत नरमुण्डों को अपनी सूंड से आकाश में फेंक दिया। उसने अपनी सूंड से पैरों को पकड़कर मनुष्यों को पृथिवी पर पटक दिया और उनके शिरों के सैंकड़ों टुकड़े कर डाले। उस हाथी ने अपने दांतों से घोड़ों को रक्तरंजित कर दिया। वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो चन्द्रकला से विच्छुरित नवीन मेघमाला हो। क्रोध से प्राणियों के सिरों को फाड़कर हाथी ने हर एक दिशा में फेंक दिया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों भय से धरती चारों तरफ भाग रही हो।"[२]

१– "तद्दृष्टसमयोद्गीर्णक्रोधघूर्णद्विलोचनः ।
प्रोद्यत्कहकहाध्वानं प्रहस्येदमवीकथत् ॥
ईदृशी तादृशस्यैव युज्यते साहसक्रिया ।
यशसेवार्थिनो नित्यं न प्राणैः प्राणभृत्प्रियैः ॥
विगाहमाना व्योमाग्रमद्य मत्कीर्तिवल्लरी ।
अनेनास्त्रप्रकाण्डेन किं न चण्डेन खंड्यते मम ॥"—पार्श्वनाथचरित ७।५४–५६।

२– "सुभटस्य समुत्क्षिपन् वपुर्निहतस्य स्वकरेण सत्पथे ।
इयतीव परक्रमोन्नतिर्गुणवश्यः स्वयमब्रवीदिव ॥
नभसि प्रहिता नरावली द्विरदन्तस्य करेण रुक्षता ।
रुधिरेण सिषेच भूयसी निजमन्युप्रचयोपमाभृता ॥"

यहाँ पर क्रुद्ध हाथी आलंबन विभाव और उसकी भयोत्पादक भयानक चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। क्रुद्ध हाथी से डरकर मनुष्यों का इधर उधर भागना अनुभाव तथा मरण आदि व्यभिचारिभाव हैं। इनसे अभिव्यक्त भय रूप स्थायिभाव ही भयानक रस है।

इसी प्रकार अजगर सर्प का भयोत्पादक वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"गधे के रोम के समान धूमिल वर्ण वाले, कटे हुए सार वृक्ष की कान्ति के समान, ऊंची श्वास रूपी अग्नि निकलने से जहाँ के पूर्वस्थित घास और वृक्ष जल गये हैं, ऐसे शरीर को धारण करने वाले, दीर्घ पूंछ के पटकने से विशाल शिलाओं के फूट जाने के कारण कठोर शब्द वाले, पुराने क्रोध के कारण बढ़े हुए मात्सर्य वाले, लपलपाती जीभ से युक्त खुले मुंह वाले, खड़े हुए ताल वृक्ष के समान विशाल शरीर वाले, मौत के समान उस सर्प ने बड़े वेग के साथ पास में पहुंचकर दाढ़ के भयकर नुकीले भाग से उन मुनिराज के मस्तक को फोड़ डाला।"[१]

यहाँ पर सर्प आलवन विभाव और उसका उच्च एवं दीर्घ श्वासें लेना, शिलाओं पर पूंछ का पटकना, जीभ का लपलपाना, वेग से भागना आदि चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। विवर्णता, निश्वास आदि अनुभाव और आवेग, संत्रास, दैन्य, शंका आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन भावों से अभिव्यक्त भय रूप स्थायिभाव ही भयानक रस है।

अवलंव्य करेण पादयोः क्षितिपृष्ठे रदिना निपीडितम्।
शतधा विभिदे नृणां शिरो न निकारार्तिसहोत्तमांगता।।
अभजन् गजदन्तकीलितास्तुरगाः शोणितशोणमूर्तयः।
शशिकोटिविदारितोरसो नवसंध्याजलदस्य विभ्रमम्।।
विनिकृत्य रुषा तनूभृतां प्रविकीर्णेषु शिरस्सु दन्तिना।
वहुदिग्मुखता स्वयं दधे सभियैव प्रपलायितुं भुवा।।"
—पार्श्वनाथचरित ३।७०-७४।

१– "वहन्वपू रासभरोमधूसरं विभक्तसारच्छविमण्डलोचितम्।
प्रकामनिश्वासहुताशनिर्गमप्रतप्तपूर्वस्थितशाड्वलद्रुमम्।।
स दीर्घपुच्छप्रविनर्तनस्फुटत् वृहच्छिलाकूटकठोरशब्दितः।
चिरन्तनक्रोधविवृद्धमत्सरो विलोलजिह्वाप्रविदारिताननः।।
विरूढतालद्वयसो महावपुः संवेगमभ्येत्य स मृत्युसन्निभः।
करालदंष्ट्रांकुरकोटिपाटितं चकार वैराग्यधनस्य मस्तकम्।।
—पार्श्वनाथचरित ४।४३-४५।

हास्य :

जिनेन्द्र भगवान् को अभिषेक के लिए सुमेरु पर्वत पर ले जाते समय किल्विष जाति के देवों की विचित्र वेषभूषा में हास्य रस का वर्णन हुआ है। किल्विष जाति के देवों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

"नई-नई वेशभूषा और आभरणों के धारक, विकृत रस के पात्र चतुर किल्विष देव उस समय अनेक परिहास के कारणभूत कार्यों से इन्द्र को आमंत्रित करने लगे। हंसी के लिए मेघों के समान काले वेष को धारण कर देवों ने क्षण भर के लिए भी विरह-व्यथा को सहन न करने वाली देवांगनाओं को उद्विग्न कर दिया।"[1]

यहाँ पर विकृत वेषभूषा के धारक किल्विष देव आलंवन विभाव और उसकी विविध प्रकार की हासजनक विकृत चेष्टायें उद्दीपन विभाग है। आनन्दित होना, हंसना आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन भावों से अभिव्यक्त हास्य रूप स्थायिभाव ही हास्य रस है।

वत्सल :

कुछ आचार्यों ने स्फुट चमत्कारी होने के कारण वत्सल को भी रस माना है। इसका स्थायीभाव वात्सल्य प्रेम है।[2] वादिराज ने वालक रश्मिवेग की शैशवावस्था का वर्णन करते हुए वत्सल रस का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है। वालक रश्मिवेग का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"मनोहर वाणी वाले (सुन्दर किरणों वाले), रक्त करकमल वाले (रक्त किरणों वाले), स्वभाव से अज्ञान को दूर करने वाले (स्वभावतः अंधकार को दूर करने वाले), नवीन आविर्भूत (सद्यः नवोदित) शिशु अथवा सूर्य ने पर्वत-शिखर पर विचरण करने वाले विद्याधरों (पक्षियों) को सुखपूर्वक विहार करने वाला बना

१- "अकृषत कृतवेषयानभूषा विकृतरसाः खलु किल्विषाः प्रमोदम्।
वहुरसपरिहासहेतुनाद्य स्फुटपटवस्त्रिदशाधिपस्य देवाः ॥
जलधरपटरोलपापवेशारक्षणविरहव्यथाप्द्लीढ़ः र्वाः ।
प्रतिपदमुद्वेजयन् मृगाक्षि पथि मरुताममराः प्रहासहेतोः ॥
—पार्श्वनाथचरित १०।२८-२९।

२- "स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः.................... ॥
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २५१।

दिया। विद्वान् नहीं होने पर भी पिता के प्रयत्न से आनन्द के लिए खेलते हुए उस बालक ने मुस्कराने के कारण निकले हुए दांतों की किरणों के फैलाव से मनुष्यों को अचानक उपस्थित चाँदनी का बोध करा दिया। मनोहर व्यवहार वाले उस बालक ने शय्या के पास रखे हुए विनोदयन्त्र (खिलौने) को स्थिर दृष्टि से देखते हुए अपूर्व हर्ष के साथ समीप में विद्यमान धात्री को पकड़ लिया।[1]

यहाँ पर स्नेहभाजन बालक रश्मिवेग आलंबन विभाव और उसकी मधुर बोली, खेलना, मुस्कराना आदि उद्दीपन विभाव है। पिता का आनन्द, सुख, स्नेह आदि अनुभाव और हर्ष, गर्व मोह आदि व्यभिचारिभाव हैं। इनसे अभिव्यक्त स्नेह रूप स्थायिभाव ही वत्सल-रस है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथचरित में जहाँ मुख्य रूप से शान्तरस का विवेचन हुआ है, वहाँ शृंगार वीर, रौद्र, भयानक, आदि अन्य रसों को भी प्रसंगानुसार स्थान मिला है। सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सभी रसों की अभिव्यंजना में वादिराज की समान गति है।

(ग) अलंकार निर्देश

संस्कृत वाङ्मय में अलंकारों का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित है। अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से की जाती है— "अलंकरोतीति अलंकारः" या "अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः"। अर्थात् विभूषित (अलंकृत) करने वाले तत्त्व का नाम अलंकार है। जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं, उसी प्रकार अनुप्रास-उपमा आदि अलंकार काव्य के शरीर शब्दार्थ को विभूषित करते हैं।

प्रारम्भ में काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्वों को अलंकार शब्द से अभिहित किया जाता था। इसी कारण भामह, वामन, रुद्रट आदि आलंकारिकों ने अपने

१— "स मुग्धगुलोहितपाणिपंकजः स्वभावनिर्धूततमा नवोदयः।
शिशु रविर्वा गिरिशृंगरिंखिनो व्यधत्त नित्यं सुखचारिणः खगात्॥
पितुः प्रयत्नेन मुदे स खेलितः सुविस्मिताविर्दशनांशुनिर्गमैः।
अतर्कितोपस्थितचन्द्रिकां जनान् वियर्त्यविद्याविदपि व्यबोधयत्॥
विनोदयन्त्रं शयनीयसंश्रयं स मुग्धवृत्तिः स्थिरदृग् विलोकयन्।
व्यधत्त धात्रीरुपकण्ठवर्तिनीर्मुदा युजो व्यक्तमभुक्तपूर्वया॥"
—पार्श्वनाथचरित ४।२३-२५

ग्रन्थों के नाम में अलंकार शब्द अवश्य जोड़ा है। वामन ने तो स्पष्ट रूप से कहा है—

"सौन्दर्यमलंकारः।"[1]

अर्थात् काव्य के सौन्दर्यकारक सभी तत्त्वों का नाम अलंकार है।

आचार्य भामह ने काव्य में अलंकारों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।"[2]

अर्थात् जैसे स्वाभाविक सुन्दर भी रमणी का मुख अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार काव्य में रस-गुण आदि के होने पर भी अलंकार के अभाव में काव्य पूर्ण शोभा को प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार आचार्य दण्डी ने भी अलंकारों को प्रधानता देते हुए काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्मों को अलंकार कहा है—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"[3]

अधिक क्या? राजशेखर तो उपकारक होने के कारण अलंकार को वेद के षडंगों के अतिरिक्त सातवाँ अंग मानते हैं—

"उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः।"[4]

अलंकार शब्द का अनुप्रासादि शब्दालंकारों और उपमादि अर्थालंकारों के लिए प्रचलन पश्चात्कालीन है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्म मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वे अस्थिर धर्म हैं, जो शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं और रस आदि के अभिव्यंजन में भी सहायक होते हैं।[5]

शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य का शरीर माना गया है। अतएव उन दोनों के शोभावर्धक धर्म अलंकारों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है— शब्दालंकार और अर्थालंकार। अलंकारों का यह विभाजन शब्दपरिवृत्यसहिष्णुत्व और शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व के आधार पर किया गया है। अर्थात् जहाँ शब्दों के

१- काव्यालंकारसूत्र, १।२।
२- काव्यालंकार, १।१३।
३- काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद १।
४- काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० ६।
५- शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ —साहित्यदर्पण १०।१।

बदल देने से अलंकार की चमत्कृति समाप्त हो जाये वहाँ शब्दालंकार और जहाँ शब्दों के बदल देने पर भी अलंकार की चमत्कृति में अन्तर न आवे वहाँ अर्थालंकार होता है।

पार्श्वनाथचरित में वर्णनों को प्रभावोत्पादक और सुन्दर बनाने के लिए तथा रसों की परम्परया पुष्ट करने के लिए उभयविध अलंकारों का सन्निवेश हुआ है। वादिराज ने अपनी कला-तूलिका से विविध अलंकारों के द्वारा मनोहर सौन्दर्य-चित्रों को सजाकर अपने अलंकार-कौशल का परिचय दिया है।

शब्दालंकार

पार्श्वनाथचरित में शब्दालंकारों के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक, श्लेष एवं चित्रालंकारों का संयोजन किया गया है। अनुप्रास की शोभा, यमक की मनोरमता, श्लेष की संयोजना और चित्रालंकारों की विचित्रता सहज ही पाठकों के हृदय में अलौकिक आनन्द का संवर्धन करती है।

अनुप्रास :

अनुप्रास की चमत्कृतिपूर्ण संयोजना में वादिराज कुशल हैं। पार्श्वनाथचरित के अनेक स्थलों में अनुप्रास की छटा दिखाई पड़ती है। यथा :

"मनो मुषित्वा मदनेन मत्सरात् स्वकं स तत्रैव तिरोहितं हितम्।
विविच्य मार्गन्निव स्वर्णतभ्रुवां मनस्युपादत्त कटीरयी रयी॥"

—पार्श्वनाथचरित ४।५२।

(मात्सर्य के कारण कामदेव द्वारा मन को चुराये जाने पर वहाँ अपने छुपे हुए हित को जानकर ढूंढने के लिए ही मानों उसने दिव्यांगनाओं के चंचल कटि प्रदेश को मन में धारण किया।।)

यहाँ पर 'मनो मुषित्वा मदनेन मत्सरात्' में मकार की आवृत्ति की सुन्दर योजना की गई है। इसी तरह अन्य अनेक उदाहरण भी पार्श्वनाथचरित में देखे जा सकते हैं। यथा—

'चण्डदोर्दण्डकण्डूतिकण्डूयनभरक्षयः।' —पार्श्व० ७।६१

यहाँ पर 'ण्ड' की आवृत्ति की सुन्दर योजना है। उक्त स्थलों में वर्णों की आवृत्ति रसानुकूल होने से बलात् सहृदयों का चित्त आकर्षित कर लेती है।

यमक :

पार्श्वनाथचरित में यमक अलंकार के प्रति कवि का विशेष आग्रह दिखाई देता है। इसीलिए इसमें यमक के अनेक भेदों का वर्णन हुआ है। चतुर्थ एवं सप्तम सर्ग में तो यमक की रमणीयता अतीव मंजुल है।

'अनेकधा यस्य चकार संगता समुत्सवादानमहीनभोगता।
जगत्युपापद्यत कीर्तिवल्लरी समुत्सवादानमहीनभोगता॥'

—पार्श्व० ५।१७।

(जिसके लिए अनेक प्रकार के उत्सवानुकूल आदान के कारण उत्कृष्ट भोग प्राप्त थे (अथवा शेषनाग के समान भोग प्राप्त था)। उत्सवों के आदान से पृथ्वी और आकाश में व्याप्त उसकी कीर्तिलता संसार में उत्पन्न हो गई।)

यहाँ पर द्वितीय पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में होने से पादयमक है। अब पादभागयमक का उदाहरण प्रस्तुत है।

'वितनोति षडंघ्रये भृशं प्रमदं यस्य सदा नता लता।
सुरभिप्रसवाऽथ दन्तिनामपि भूनाथ सदानतालता॥'

— पार्श्व० ३।२७।

(जिस जंगल की सदा झुकी हुई सुगन्धित फूलों वाली लतायें भ्रमरों को अत्यधिक मद प्रदान करती हैं और सुगंधि फैलाने वाला हाथियों का कर्णचालन भ्रमरों को अत्यधिक मदमत्त कर देता है।)

यहाँ पर द्वितीय पाद के द्वितीय अर्धभाग की आवृत्ति चतुर्थ पाद के द्वितीय अर्धभाग में हुई है। अतएव यहाँ पादभाग सन्दष्टक यमक है।

पादभागावृत्ति यमक का एक और अतीव रमणीय उदाहरण देखिये—

'प्रवृतिते यत्र गुणोदयावहे दयावहे भागसि मानवेहिता।
नवेहिताक्रान्तमदोनवैभवा न वैभवार्ति प्रथयन्ति जन्तवः॥'

—पार्श्व० ४।६७।

(जिस समय गुणों का भाण्डार, दया का आगार पुण्यशाली वह राजा राज्य कर रहा था, उस समय लोगों की इच्छायें नवीन अभीप्सितों के आ जाने से पूर्ण हो गई थीं, उनका वैभव प्रवाह इतना बढ़ गया था कि प्राणियों ने वैभव की पीड़ा को कभी नहीं सहा। अर्थात् धन होने पर भी अभीष्ट पदार्थ न मिले, यह मौका नहीं आया।)

यहाँ पर प्रथम पाद के अन्तिम अर्ध भाग की द्वितीय पाद के आदि में, द्वितीय पाद के अन्तिम अर्धभाग की तृतीय पाद के आदि में और तृतीय पाद के अन्तिम अर्धभाग की चतुर्थ पाद के आदि में आवृत्ति होने से अन्तादिक यमक है। पार्श्वनाथचरित में यमक के अन्य अनेक भेदों का भी प्रयोग हुआ है।

श्लेष :

पार्श्वनाथचरित्त में कवि ने सभंग और अभंग उभय प्रकार के श्लेषों का सफल

न्यास किया है। मुख्य रूप से वन, पर्वत आदि के वर्णन में इस अलंकार का प्रयोग किया गया है। सल्लकी वन के वर्णन में कवि ने अभंग और सभंग उभयविध श्लेषों का एकत्र सन्निवेश किया है। यथा—

'जटिलाः परिवीतवल्कलाः स्थिरशाखाश्चलदन्तपंक्तयः।
तरवः सवयोदिवृद्धयो विदिता यत्र तपोभृतोऽथवा ।।' —पार्श्व० ३।१२।

अर्थात् जिस सल्लकी वन में जटिलाः— १— सघन, २— जटाओं वाले, परिवीतवल्कला- १— वल्कलों वाले २— वल्कलों को धारण करने वाले, स्थिरशाखाः— १— दृढ़ शाखाओं वाले २— वेद की शाखाओं में स्थिर, चलदन्तपंक्तयः— १— मध्य में हिलती हुई पंक्तियों वाले (चलद्+अन्तपंक्तयः=चलन्तः अन्ते पंक्तयो येषां ते) २— हिलती हुई दांतों की पंक्तियों वाले (चलाः दन्तपंक्तयो येषां ते), सवयोविवृद्धयो- १— पक्षियों से युक्त लम्बे-लम्बे २— समान उम्र वाले वड़े वड़े वृक्ष और तपस्विजन प्रसिद्ध हैं।

यहाँ पर 'चलदन्तपंक्तयः' में सभंगश्लेष एवं अन्यत्र 'जटिलाः' आदि में अभंग श्लेष है।

चित्रालंकार :

चित्र वह अलंकार है जिसे पढ़कर या देखकर पाठक या द्रष्टा को आश्चर्य होता है। इन अलंकारों के विन्यास से एक विशिष्ट आकृति बन जाती है।[1] ये अलंकार अतीव क्लिष्ट हैं और इनमें कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना निहित रहती है। भारवि, माघ आदि कवियों का अनुसरण करते हुए महाकवि वादिराज ने भी पार्श्वनाथचरित में अनेक चित्रालंकारों का प्रयोग किया है।

गतप्रत्यागत :

जिसको सीधे (अनुलोम) और उल्टे (विलोम) दोनों तरफ से एक समान पढ़ा जा सके, उसे गतप्रत्यागत चित्रालंकार कहते हैं।[2]

'विना येन नयेनाविभाव्यते न गुहामुखम्।
तस्मै स च तमाचख्यौ तेमधीरुधीमते ।।'

—पार्श्व० ७।११६।

१— "तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुना ।"
—काव्यप्रकाश, नवमोल्लास, सू० १२०।

२— "गतप्रत्यागतं तत्स्यात् अनुलोमविलोमतः।
यदुत्तरेण तन्मध्यवर्णलोपादनेकधा ।।" —अलंकार-चिन्तामणि २।६३

(जिस नीति-उपाय के विना गुहा का द्वार खुलना संभव नहीं था, उस उपाय को सरल चित्त वाले उसने उस बुद्धिमान चक्रवर्ती को वतला दिया।)

यहाँ पर प्रथम पाद 'विना येन नयेनावि' और चतुर्थपाद 'तेमधीरुरुधीयते' को अनुलोम या विलोम एक समान पढ़ा जा सकता है। यहाँ प्रथम और चतुर्थ पाद में ही गतप्रत्यागत होने से आद्यन्त पाद गतप्रत्यागत चित्रालंकार है।

अपवर्ग :

'वितेनुर्वसुधाचक्रं वरवारणवाजिनः।
आहवे निहतास्साकं वृत्तया रथकद्यया ॥' —पार्श्व० ७।१४४।

यहाँ पर पवर्ग के अक्षरों का प्रयोग न होने से अपवर्ग चित्रालंकार है।

अकवर्ग :

'असहिष्णुतया युद्धे चिलातावर्तभूभृतः।
पूर्वमारादवश्यानामहीन्द्रानतुसस्सरुः ॥' —पार्श्व० ७।१४६।

इस पद्य में कवर्ग का प्रयोग न होने से अकवर्ग चित्रालंकार है।

निरोष्ठ्य :

'किं केनेत्यसहे तीक्ष्णं कथयत्यथ राजनि।
क्षितिग्रस्तं जलं यज्ञे नतास्ते तदरातयः ॥' —पार्श्व० ७।१५०

प्रकृत पद्य में ओष्ठ्य वर्ण (उकार, पवर्ग और उपध्मानीय) न होने से निरोष्ठ्य चित्रालंकार है।

गोमूत्रिका :

जिस रचना में ऊपर और नीचे के क्रम से अक्षर एकान्तरित करके पढ़े जायें उस रचना विशेष को गोमूत्रिका चित्रालंकार कहा जाता है।[1]

यथा : ईहावहमुखज्ञेन गदया विदितालयम्।
गुहागृहमुखं तेन विदधे विवृताश्रयम् ॥

—पार्श्वनाथचरित ७।१२२।

(मुख से ही भीतरी अभिप्राय को जान लेने वाले उस सेनापति ने भीतरी स्थान को जानकर गुफा के मुख को गदा से खोल दिया।)

उक्त उदाहरण को चित्र की सहायता से अच्छी तरह से समझा जा सकता है :

१– 'यत्रैकान्तरितं पाठ्यमूर्ध्वाधः क्रमतोऽक्षराम्।
तां हि गोमूत्रिकामाह्व सर्वविद्याविशारदः ॥ — अलंकारचिंतामणि २।८३।

ई	हा	व	ह	गु	ख	ञ्जे	न	ग	द	या	वि	दि	ता	ल	यम्
गु	हा	गृ	ह	मु	खं	ते	न	वि	द	धे	वि	वृ	ता	ल	यम्

उक्त चित्र में प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर को लेकर द्वितीय पंक्ति के द्वितीय अक्षर, फिर इसी प्रकार एक-एक अक्षर छोड़कर प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति के अक्षर मिलाने पर वही श्लोक बन जाता है। अतः यहाँ गोमूत्रिका अलकार का अच्छा चित्रण हुआ है।

प्रकारान्तर से चित्र :

ई	व	मु	ञ्जे	ग	या	दि	ल
हा	ह	खं	न	द	वि	ता	यम्
गु	गृ	मु	ते	वि	धे	वृ	ल

इस चित्र में तीन पंक्तियाँ हैं। प्रथम पंक्ति में श्लोक के पूर्वार्ध का प्रथम अक्षर, द्वितीय पंक्ति में तृतीय अक्षर, इसी प्रकार एकान्तरित करके अन्य अक्षर लिखे गये हैं। तृतीय पंक्ति में श्लोक के उत्तरार्ध का प्रथम अक्षर द्वितीय पंक्ति के अक्षरों से क्रमशः एक-एक अक्षर मिलाकर पढ़ने पर श्लोक का उत्तरार्ध बन जाता है।

इन चित्रालंकारों के अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित में मात्राच्युतक[1], बिन्दुच्युतक[2], अक्षरच्युतक[3], अक्षरव्यत्यय[4], गूढचतुर्थक[5] चित्रालंकारों का प्रयोग हुआ है। ये चित्रालंकार वैचित्र्य के कारण अपनी चारुता के साथ ही कवि के उत्कृष्ट पाण्डित्य को भी प्रकट करते हैं।

१- पार्श्वनाथचरित, ७।१३२। २- वही, ७।१३५।
३- वही, ७।१३८। ४- वही, ७।१४२।
५- वही, ७।१३६।

अर्थालंकार

वादिराज ने जहाँ एक ओर अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकारों की झंकार और चमत्कृतिपूर्ण संयोजना में अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है, वहाँ दूसरी ओर उपमोत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों के माध्यम से वर्णनीय विषयों की मंजुल अभिव्यंजना भी प्रस्तुत की है। पार्श्वनाथचरित में उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, उदाहरण, व्यतिरेक, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, उदात्त, अनुमान, कारणमाला, स्मरण, भ्रान्तिमान्, असंगति, तद्गुण आदि अलंकारों का आह्लादक एवं मनोरम प्रयोग हुआ है। इन अलंकारों के प्रयोग में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है, इसे जानने के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त अर्थालंकारों के उदाहरण प्रस्तुत हैं।

उपमा :

उपमा अर्थालंकारों में प्रमुख एवं सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में अनेक स्थलों पर उपमा अलंकार का प्रयोग किया है। उनकी उपमा में सरलता, सुन्दरता एवं स्वाभाविकता सहज ही झलकती है। यथा—

"यत्रेन्द्रनीलनिर्माणगृहभित्तीरुपस्थिताः ।
हेमवर्णा स्त्रियो भान्ति कालाब्दानिव विद्युता ॥" —पार्श्व० १।६१।

अर्थात् जहाँ पर इन्द्रनीलमणिनिर्मित भवनों की दीवारों के पास उपस्थित कांचनवर्ण वाली स्त्रियाँ कृष्ण मेघों के पास उपस्थित बिजली की तरह सुशोभित होती थीं।

यहाँ पर उपमेय इन्द्रनीलमणिओं से निर्मित भवनों के पास उपस्थित कांचन-वर्ण वाली स्त्रियों और उपमान कृष्णमेघों के पास उपस्थित बिजली में सादृश्य दिखलाया गया है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

"प्रह्वद्दानवमूर्धन्यमणिरागेण यद्वपुः ।
बभावभ्रमिवाक्रान्तं विद्युता श्यामलप्रभम् ॥"

—पार्श्व० १।६।

अर्थात् नम्रीभूत दानव की शिरस्थित मणियों की लालिमा से भगवान् का शरीर बिजली से आक्रान्त नील वर्ण वाले मेघ की तरह सुशोभित हुआ।

यहाँ पर उपमेय मणिरागाक्रान्त भगवान् के शरीर का बिजली से आक्रान्त मेघ के साथ सादृश्य होने से उपमा अलंकार है। इसी तरह अन्यत्र भी उपमा की मनोरम छटा देखी जा सकती है :

उत्प्रेक्षा :

महाकवि वादिराज उत्प्रेक्षा के सशक्त कवि हैं। प्राकृतिक एवं अन्य वर्णन प्रधान स्थलों पर कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की बड़ी ही अद्भुत योजना की है। पनिहारियों द्वारा पैरों से ताड़ित धूलि का चित्रण करते हुए कवि उत्प्रेक्षा करता है कि—

"तृषिता इव पूषरश्मिपातात् पृथुगन्त्रीपथपांशवो जनस्य ।
अविशंश्चरणाभिघातवृद्धा इव चोत्प्लुत्य शिरस्थितोपकुंभान् ।।"

—पार्श्व० ५।७३।

अर्थात् सूर्य के संताप से पिपासाकुल के समान मार्ग की धूलि पैरों से ताड़ित होने पर होश में आकर ही मानो शिर पर रखे हुए घड़ों में जाकर उड़-उड़कर पड़ने लगी।

यहाँ धूलि के शिर पर पड़ने की ताड़ित होने पर अनादर को सहन न करने वाले एवं उल्टे उसके शिर पर चढ़ जाने वाले व्यक्ति के साथ संभावना की गई है। अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

संध्याकालीन लालिमा के चित्रण में कवि की एक अनूठी उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है—

"कृतसमयमसंगं प्रेयसीखर्वसोढुं
तदनुगहृदयत्वादक्षमाश्चक्रवाकाः ।।
विविशुरिव विषादादुज्ज्वलन्तं कुशानुं
प्रसृतकपिलसंध्यारागसंपर्कपिंगा ।।" —पार्श्व० ६।५६

अर्थात् संध्याकालीन लालिमा से चक्रवाकों के झुण्ड लाल वर्ण वाले हो गये, उससे ऐसा जान पड़ने लगा मानो अपनी प्रेमिकाओं के वियोग को न सह सकने के कारण शोक के वशीभूत होकर वे जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर रहे हैं।

सन्देह :

चक्रवर्ती के पड़ाव में प्रहासगोष्ठी के समय हो रहे वामलोचनाओं के विलासों के प्रसंग में किसी वामलोचना का वर्णन करते हुए कहता है कि—

"अवेक्ष्य मूर्ति मधुनि स्वकामिति व्यतर्कयत् काचन कर्कशस्तनी।
अहं निपीतास्मि किमंग हालया ययैव रागात्प्रतिपासितव्यया ।।"

अर्थात् कोई कर्कश स्तनों वाली युवती उस समय शराब से भरे प्याले में अपनी परछाहीं को देखकर विचार करने लगी कि मैंने शराब को पी लिया है अथवा शराब ने मुझे पी लिया है।

यहाँ पर अत्यन्त सादृश्य के कारण कविकल्पित सन्देह होने से सन्देह अलंकार है।

रूपक :

वादिराज ने रूपक का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के वनगमन के समय उन पर सूर्य का आरोप करते हुए कवि कहता है—

"वियोगेन जगद्भानोर्विभवन्नगरं परः ।
शोकान्धतमसं छन्नं संकुचन्मुखपंकजम् ॥" —पार्श्व० ११।३८।

भगवान् जिनेन्द्ररूपी सूर्य के वियोग से समस्त नगर शोकरूपी अन्धकार से व्याप्त हो गया और सभी लोगों का मुखरूपी कमल संकुचित हो गया।

यहाँ पर भगवान् जिनेन्द्र के ऊपर सूर्य का, शोक के ऊपर अन्धकार का और मुख के ऊपर कमल का आरोप किया गया है। अतएव यहाँ रूपक अलंकार है।

रूपक का एक और उत्कृष्ट उदाहरण देखिये—

"कुरु कुञ्जर मानसे दृढसम्यक्त्वमरालराजिते ।
त्वमणुव्रतपद्मसद्मनि प्रियपुण्याम्बु निगाह्य पीयताम् ॥" —पार्श्व ३।९०।

हे श्रेष्ठ गज, तुम दृढ़ सम्यक्त्व रूपी हंस से सुशोभित पंचाणुव्रतरूपी कमलों से भरे हुए मनरूपी मानसरोवर में प्रवेश करो और प्रिय पुण्यरूपी जल का स्वाद लेकर संतुष्ट हो जाओ।

यहाँ पर सम्यकत्व पर हंस का, अणुव्रत पर कमलों का, मन पर मानसरोवर तथा पुण्य पर जल का आरोप किया गया है।

अपह्नुति :

शिशिर ऋतु में पुष्पित मधूक वृक्ष का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"निशि निघ्नतया हिमं निपीय प्रचुरं प्रातरिदं वपुष्यजीर्णम् ।
अवमन्निव वर्तुलस्थवीर्यं प्रसवच्छद्मतया मधूकवृक्षाः ॥"
—पार्श्व० ५।३३।

रात्रि में पराधीन होने से जो अधिक हिम पी लिया था, उसे प्रातःकाल शरीर में अजीर्ण हो जाने के कारण पुष्पों के बहाने उगलते हुए के समान मधूकवृक्ष शोभित होने लगे।

यहाँ पर ये पुष्प नहीं हैं अपितु रात्रि में पिया गया हिम है, यह प्रतीति होती है। 'छद्म' इस शब्द के प्रयोग से यहाँ शाब्दी अपह्नुति है।

समासोक्ति :

कवि ने लता का वर्णन करते हुए श्लिष्ट विशेषणों के माध्यम से व्यभिचारिणी स्त्री का बोध कराने में समासोक्ति का सुन्दर चित्रण किया है।

"स्थिरं प्रकृत्या फलदं समूलं छायोपपन्नं समुपाश्रयन्ती ।
द्रुमं लता पुष्पवती तु काले स्वैरोपभोगं मधुपाय दत्ते ।।—पार्श्व० २।४८।

(१) स्वभाव से स्थिर, फल देने वाले और छाया वाले वृक्ष का समूल आश्रय लेने वाली पुष्पवती लता पुष्पों का समय आ जाने पर अपने उपभोग को इच्छानुसार मधुपों को दे देती हैं ।

(२) स्वभाव से स्थिर, प्रसव रूप फल प्रदान करने वाले, आश्रय देने वाले पुरुष का पूर्ण रूप से आश्रय लेने वाली व्यभिचारिणी स्त्री ऋतुमती होने पर अपने उपभोग को कामुकों के लिए प्रदान कर देती है।

यहाँ पर लता शब्द किसी व्यभिचारिणी स्त्री का वाचक नहीं है, किन्तु श्लिष्ट विशेषणों के कारण दो अर्थों की संक्षेप में उक्ति होने के कारण यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

निदर्शना :

उपमा में पर्यवसित होने वाले निदर्शना अलंकार के संयोजन द्वारा कवि ने भूताचल पर्वत का बड़ा ही रमणीय चित्र प्रस्तुत किया है ।

"यः पार्श्वभागप्रविलंबितेन विचित्रजीमूतकुथेन रात्रौ ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्धा सन्नद्धमन्वेति गजाधिराजम् ।।" — पार्श्व० २।६८।

रात्रि में दोनों तरफ झूलते हुए चितकबरे मेघ रूपी गलीचा (आस्तरण) के साथ तारागणों से युक्त ऊपरी भाग वाला वह पर्वत सन्नद्ध श्रेष्ठ गज का अनुकरण करता था ।

पर्वत के दोनों तरफ मेघ लटक रहे हैं और ऊपर तारागण सुशोभित हो रहे हैं। अतएव वह पर्वत दोनों तरफ लटकते हुए आस्तरण वाले तथा नक्षत्रमाला (हाथी के मस्तक पर बनाई गई रचनाविशेष) से युक्त हाथी की तरह सुशोभित हो रहा है। गज के साथ पर्वत का सम्बन्ध अनुपपन्न होने पर भी 'यह पर्वत उस हाथी के समान शोभा धारण कर रहा है' इस उपमा में पर्यवसान हो जाता है । अतएव दो पदार्थों का उपमेय-उपमान भाव में पर्यवसित होने के कारण यहाँ निदर्शना अलंकार है ।

अतिशयोक्ति :

पाल्यकीर्ति आचार्य की अतिशयित प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

"कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः ।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ।।" — पार्श्व० १।२१।

उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति आचार्य की शक्ति कहाँ से आई अर्थात् उसका

क्या वर्णन किया जाय, जिसका 'श्री' पद का श्रवणमात्र लोगों को वैयाकरण–व्याकरणवेत्ता बना देता है।

आचार्य पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने अपने शब्दानुशासन (शाकटायन व्याकरण) पर अमोघवृत्ति नाम की स्वोपज्ञ टीका लिखी है। उसका प्रारम्भ 'श्री' पद से होता है। उसी को लक्ष्य कर कवि ने यहाँ तक कह दिया है कि उसके 'श्री' पद का श्रवण ही लोगों को वैयाकरण बना देता है। वस्तुतः उसका सांगोपांग अध्ययन ही वैयाकरण बनाने में समर्थ है। परन्तु कवि ने उसका अतिशयित वर्णन किया है। अतएव यहां अतिशयोक्ति अलंकार है।

जहाँ पर यदि अथवा तदर्थक शब्द के द्वारा असंभव कार्य की संभावना की जाती है, वहाँ भी एक प्रकार का अतिशयोक्ति अलंकार होता है।[1] विजयार्ध पर्वत के वर्णन में इसी तरह के अतिशयोक्ति अलंकार का चित्रण हुआ है।

"यदि त्रिलोकोदरभाण्डसंभृतः स्थिरैकराशिर्धवलो गुणो भवेत् ।
स्वरश्मिभिः प्रोन्नमिताम्बराशयः स तस्य लीलां भृशमुद्वहेद् गिरेः ॥"

—पार्श्व० ४।१३।

यदि तीनों लोकों के मध्य भाग रूपी मात्र में संचित समस्त धवल गुण एकत्र हो जाय, तो अपनी किरणों से आकाश को सुशोभित करने वाला वह गुण अत्यन्त रूप से उस पर्वत की शोभा को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ पर यदि शब्द के साथ समस्त धवल गुण के एकत्र होने की असंभव कल्पना की गई है, अतएव अतिशयोक्ति अलंकार है।

दृष्टान्त :

उपदेशात्मक उक्तियों में कथन को प्रभावशाली बनाने तथा उसमें काव्यात्मक सौन्दर्य के आधान के लिए दृष्टान्त अलंकार का भी कहीं–कहीं सहारा लिया गया है। यथा—

"अनर्थमन्विच्छसि यद्युपेयास्तमुल्वणक्रोधहुताशदग्धम् ।
स्वयं करास्फालितमस्तकं वा कुरुष्व कंठाभरणं भुजंगम् ॥"

—पार्श्व० २।८८।

यदि तुम अनर्थ करना चाहते हो, तो उत्कट क्रोधाग्नि से दग्ध अपने भाई के पास जाओ। स्वयं अपने हाथ से सर्प के मस्तक में चोट मारकर उसी को गले की माला बना लो।

यहाँ पर क्रोधाग्नि से दग्ध भाई के पास जाना तथा सर्प के शिर में चोट

१- 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।' —काव्यप्रकाश, १०।१००।

मारकर उसे गले की माला बना लेना, इन दोनों वाक्यों में बिंबप्रतिबिंब होने से दृष्टांत-अलंकार है, क्योंकि अन्ततः दोनों वाक्यों का उपमेय-उपमान भाव में पर्यवसान हो जाता है।

उदाहरण :

जहाँ प्रस्तुत को अप्रस्तुत के द्वारा उदाहरण देकर दिखलाया जाता है, वहाँ उदाहरण-अलंकार होता है। आचार्य गृद्धपिच्छ को नमस्कार करते हुए कवि कहता है कि—

"अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्याः निर्वाणायोत्परिष्णवः ॥ —पार्श्व० १।१६।

आकाश में उड़ने वाले पंक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं। उसी प्रकार मोक्ष को जाने की इच्छा रखने वाले भव्यजन जिन अनन्त गुणों के समूह-स्वरूप 'गृद्धपिच्छ' आचार्य का सहारा लेते हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो।

यहाँ पर मोक्ष गमन के लिए गृद्धपिच्छ आचार्य के सहारे को पक्षियों द्वारा अपने पंखों का सहारा लेना घटना के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। अतएव यहाँ उदाहरण अलंकार है।

व्यतिरेक :

व्यतिरेक अलंकार की योजना में कवि का अपार कौशल दृष्टिगत हुआ है। वज्रबाहु राजा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"वृषा विमुञ्चन्नवमंबु केवलं प्रवृद्धसस्यां कुरुते वसुन्धराम्।
उपस्तुता तस्य गुणैरसौ पुनस्तदैव सर्व सुषुवे मनीषितम् ॥" —पार्श्व० ८।८७।

इन्द्र तो नवीन जल की वर्षा करते हुए केवल पृथिवी को ही धान्य उपजाने वाली बनाता है, किन्तु इस राजा के गुणों से उपस्तुत पृथिवी तत्काल समस्त मनोरथों को पूर्ण करती थी।

यहाँ पर उपमान-इन्द्र की अपेक्षा उपमेय-राजा के गुणों का आधिक्य वर्णित होने से व्यतिरेक अलंकार है।

यथासंख्य :

क्रमशः कहे गये पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय के संयोजन में कवि ने यथासंख्य अलंकार की सुन्दर योजना की है। राजा अरविन्द का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कोशगर्भात् स आकृष्टाद् दानार्थं खड्गरत्नयोः।
कोशप्रसादयोस्सिद्धिमवापदरिमित्रयोः ॥" —पार्श्व० १।७४।

उस राजा ने कोश (म्यान, खजाना) के मध्य से खड्ग और रत्न को निकाला। उन दोनों ने क्रमशः शत्रु और मित्र पर क्रमशः कोप और प्रसन्नता की सिद्धि को प्रदान किया।

यहाँ पर खड्ग और रत्न, कोप और प्रसाद तथा अरि और मित्र में उसी क्रम से अर्थात् प्रथम के साथ प्रथम और द्वितीय के साथ द्वितीय का समन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास :

दृष्टान्त अलंकार की अपेक्षा पार्श्वनाथचरित में अर्थान्तरन्यास अलंकार का अधिक प्रयोग हुआ है। इनके अर्थान्तरन्यास अलकारों में स्वतः ही कलात्मक चारुत्व दृष्टिगोचर होता है। यति-दर्शन के लिए उद्यान में गये राजा अरविन्द की विनम्रता का वर्णन करते हुएकवि कहता है—

"पदानि सप्ताभिगतश्च पश्चात् सन्भ्रमः साञ्जलिमौलिवद्धः।
ननाम तस्मै मुनिपुंगवाय गुणो हि मुख्यः विनयः प्रभूणाम् ॥"

—पार्श्व० २।११७।

इसके वाद आगे सात कदम चलकर संभ्रम के साथ हाथ जोड़कर राजा ने मुनियों में श्रेष्ठ उन यति को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। क्योंकि प्रभुओं का विनय ही मुख्य गुण होता है।

यहाँ पर राजा द्वारा यति को विनम्रतापूर्वक प्रणाम करने का 'प्रभुओं का विनय ही मुख्य गुण है' के द्वारा समर्थन किया गया है। अतएव अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

इसी के ठीक आगे पुनः अर्थान्तरन्यास का सुन्दर न्यास देखने को मिलता है—

"सोन्मेषरत्नानि विभूषणानि स्वयं स्वगात्रादवतारितानि।
अयच्छदुच्चैर्वनपाय राजा दानोत्तरा मानवतां हि तुष्टिः ॥"

—पार्श्व० २।११८।

राजा ने प्रकाशित रत्नों वाले वहुत से आभूषण अपने शरीर से स्वयं उतारकर वनपाल को दे दिये। क्योंकि सम्मानित व्यक्तियों को संतुष्टि दान देने पर ही होती है।

यहाँ पर आभूषण दान रूप विशेष का 'मान वाले लोगों की संतुष्टि दान-पूर्वक ही होती है' इस सामान्य कथन द्वारा समर्थन किये जाने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

विरोधाभास :

पार्श्वनाथचरित में विरोधाभास अलंकार का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है,

जो अत्यन्त स्वाभाविक है।

यथा : प्रभूतदान: स मदान्वयादृते बभूव नक्षत्रया विनाभिजित्।
अहीनवृत्तिर्विजहौ द्विजिह्वतां विना स्ववंशस्य विवर्धिता जलै: ।।"

—पार्श्व० ४।७०।

मद के सम्बन्ध के बिना भी वह प्रभूत दान–मद वाला था। नक्षत्रों के बिना भी वह अभिजित्–नक्षत्र विशेष था। अहीनवृत्ति सर्प के समान व्यवहार वाला होते हुए भी उसने द्विजिह्विता सर्पत्व को छोड़ दिया था। जल के बिना भी वह अपनेवंश-बांस के वृक्ष को बढ़ाने वाला था।

यहाँ पर विरोध की प्रतीति स्पष्ट रूप में हो रही है। किन्तु दान का अर्थ देना, अभिजित् का अर्थ सर्वत: जयशील, अहीनवृत्ति का अर्थ श्रेष्ठ व्यवहार वाला, द्विजिह्विता का अर्थ चुगलखोरी, और वंश का अर्थ कुल करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। अतएव विरोधाभास अलंकार है।

इसी प्रकार राजा अरविन्द के वर्णन में कवि ने बड़े ही रमणीय विरोधाभास का प्रयोग किया है—

"निर्गतं दित्सतस्तस्य न लक्षादूनमाननात्।
प्रपद्यन्त सन्तस्तं तथापि मितभाषिणम् ।।" —पार्श्व० १।७१।

दान देने की इच्छा करने वाले उस राजा के मुख से लक्ष (लाख संख्या) से कम नहीं निकलता था, फिर भी उसे कम बोलने वाला कहते थे।

यहाँ पर लक्ष जैसी विशाल राशि बोलने वाले से कम बोलने वाला कहना-विरोधी जान पड़ता है। परिहार पक्ष में मितभाषी का अर्थ परिमित बोलने वाला करने पर विरोध समाप्त हो जाता है।

स्वाभावोक्ति :

पार्श्वनाथचरित में स्वाभावोक्ति अलंकार के द्वारा मानवीय भावों एवं कार्यों का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। भैंसों की जुगाली (रोमन्थन) का स्वाभाविक चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

"शिशिरा मुमु नवतमालवीथीहतमध्यन्दिनभानुभाप्रवेशाम् ।
वसुधामधिशिश्यिरे महिष्य: कृतरोमन्थनवक्त्रमुक्तफेना: ।।"

—पार्श्व० ५।७१।

उस समय भैंसें दुपहरी के सूर्य की गर्म किरणों के ताप को रोकने वाले तमाल वृक्षों की ठंडी झाड़ी के नीचे पृथिवी पर बैठकर जुगाली करती हुयीं मुँह से फेन उगलती थीं।

इसी प्रकार घोड़ा और घोड़ी की कामावस्था का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

"अभिसारिकामनुचरं तुरगं प्रविलोक्य कश्चिदुपलब्धरताम्।
सविचित्रवल्गनमनोज्ञपदं पथिपर्यधावयदुदूढमरम् ॥"—पार्श्व० ६।२०

काम से पीड़ित अभिसरण करने की इच्छा वाली घोड़ी का पीछा करने वाले विचित्र वल्गन चाल विशेष से मनोज्ञ उन्नत घोड़े को देखकर कोई पुरुष मार्ग में इधर उधर दौड़ने लगा।

उक्त स्थलों में भैसों और घोड़ों के स्वभाव का वर्णन होने से स्वाभावोक्ति अलंकार है।

उदात्त :

किसी वस्तु की समृद्धि का वर्णन करने में उदात्त अलंकार होता है।[1] पोदनपुर नगर की समृद्धि के वर्णन में कवि ने अनेक स्थलों पर उदात्त अलंकार का प्रयोग किया है।

यथा : कृतपुण्यजनाकीर्णं पुरं तत्रास्ति पोदनम्।
पन्था यस्मिन्नयत्नेन प्राप्नुवन्ति कृपोदनम् ॥
दीप्तरत्नमयो यत्र प्राकारो भाति भासुरः।
पर्यटन् पुरगुप्त्यर्थं प्रताप इव भूपतेः ॥" —पार्श्व० ११४८-४६।

उस देश में पुण्यशाली मनुष्यों से संपन्न पोदनपुर नाम का नगर है। जिस नगर में राहगीर बिना किसी प्रयत्न के कृपोदन (बिना कीमत का भात या भोजन) प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ चमकते हुए रत्नों से युक्त प्रकाशमान प्राकार नगर की रक्षा के लिए घूमते हुए राजा के प्रताप की तरह जान पड़ता है।

अनुमान :

जहाँ पर साधन (लिंग) से साध्य (लिंगी) का ज्ञान होता है, वहाँ अनुमान अलंकार होता है।[2] भूताचल पर्वत के वर्णन में कवि ने इस अलंकार का प्रयोग किया है।

"निहन्यवन्येभविषाणभाजा निर्मूलितानेकवनद्रुमेण।
मार्गेण यस्मिन् शबरैः शयूनां निबुध्यते कायमहत्त्वयोगः ॥"
—पार्श्व० २।७३।

१- "उदात्तं वस्तुनः सम्पत्", —काव्यप्रकाश, दशमोल्लास, सूत्र १७५।
२- "अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।" —काव्यप्रकाश, १०म उल्लास, सूत्र १८१।

जिस पर्वत पर मारे गये जंगली हाथियों के दांतों से तथा तोड़ें गये अनेक वृक्षों वाले मार्ग से शबर लोग हाथियों के विशालकाय होने का अनुमान कर लेते हैं।

यहाँ पर दांत तथा भग्न वृक्ष हाथियों के विशाल शरीर के बोध में कारण-साधन हैं। अतएव अनुमान-अलंकार है।

कारणमाला :

जहाँ पर आगे-आगे के अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व का अर्थ कारण रूप में प्रतिपादित किया जाता है, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है।[1] यथा—

"विचारकुर्वल्लभतेऽनुरागं जनस्य लक्ष्मीः खलु तन्निमित्तात्।
वृद्धौ विशुद्धिं च परां निधत्ते द्वाराणि पापस्य हि सा पिधत्ते ॥"
—पार्श्व० २।५६

विचार कर कार्य करने वाला व्यक्ति मनुष्यों के अनुराग को प्राप्त करता है। उसके (अनुराग के) कारण लक्ष्मी प्राप्त होती है, बुद्धि में उत्कृष्ट विशुद्धता आती है और शुद्धबुद्धि पाप के द्वारों को ढक देती है।

यहाँ पर विचार करना अनुराग के प्रति, अनुराग लक्ष्मी प्राप्ति और बुद्धि में विशुद्धि के प्रति तथा विशुद्ध बुद्धि पापाश्रव रोकने के प्रति कारण हैं। अतएव उत्तर-उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ कारण रूप में प्रतिपादित होने से कारण-माला अलंकार है।

स्मरण :

पूर्वानुभूत किसी वस्तु के समान अन्य वस्तु को देखकर पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो आना ही स्मरण अलंकार है।[2]

यथा : "जलकुक्कुटसंशब्दं स निशम्य रतोत्सवे।
कान्ताकण्ठध्वनेः स्मर्ता व्यधत्त स्मेरमाननम् ॥" —पार्श्व० ७।३८

उस चक्रवर्ती ने वहाँ जल कुक्कुटों के शब्दों को सुनकर रतोत्सव के समय होने वाले कान्ताओं के शब्दों का स्मरण आ जाने से मुस्कराहट युक्त मुख बना लिया।

यहाँ जल कुक्कुटों के शब्द श्रवण से रतोत्सव के समय किये गये कान्ताओं के शब्दों का स्मरण हो जाने के कारण स्मरणालंकार हैं।

१- "यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ....॥" —काव्यप्रकाश १०।१८९

२- "यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम् ....।"
—काव्यप्रकाश १०।१८८

भ्रान्तिमान् :

जलक्रीड़ा के समय जल में प्रतिबिंबित अपने अधरों को रक्तकमल समझने वाली किसी स्त्री का बड़ा ही सुन्दर चित्रण कवि ने भ्रान्तिमान् अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

"गृहीतमंभः प्रसरं पदे पदे निरूप्य तस्मिन् दशनच्छदच्छविम् ।
करेण काचिद् व्रणुनोदजालिका प्रकीर्णशोणाम्बुजपत्रशंकया ॥"

—पार्श्व० ८।५३।

स्थान-स्थान पर जल में विस्तृत अपने अधरोष्ठ की परछाहीं देखकर कोई स्त्री फैले हुए रक्तकमल के पत्तों की शंका से उसे हाथ से पकड़ने की चेष्टा करने लगी।

यहाँ पर अप्रकृत-रक्तकमल के पत्र के समान प्रकृत-जल में प्रतिबिंबित अधर को देखकर प्रकृत-अधर को अप्रकृत-रक्तकमल-पत्र समझने के कारण भ्रान्तिमान् अलंकार है।

असंगति :

जहाँ पर कार्यकारणभूत दो धर्मों की भिन्नदेशतया अथवा एकसाथ प्रतीति हो वहाँ असंगति अलंकार होता है।[१]

यथा : "कस्याश्चिदंभः प्रथमं प्रविश्य प्रियेण वक्त्राभिमुखं प्रयुक्तम् ।
स्वजात्ययोग्यं बत मत्सराग्नेरन्याशये त्विंधनतामियाय ॥"

—पार्श्व० ८।५०।

प्रेमी व्यक्ति ने पानी में घुसकर किसी स्त्री के मुख की तरफ पानी फेंका। किन्तु उस जल ने अपने स्वभाव के विपरीत मात्सर्याग्नि के लिए ईंधन का काम दूसरी स्त्री के हृदय में किया।

यहाँ पर जलक्षेपण रूप कारण अन्य स्त्री पर किया गया है और तज्जन्य प्रभाव दूसरी स्त्री के हृदय पर हुआ है। अतएव कार्यकारण का भिन्न-भिन्न देश में होने के कारण असंगति अलंकार है।

तद्गुण :

जब कम गुणों वाली प्रकृत वस्तु अधिक गुणों वाली अप्रकृत वस्तु के गुणों

१- "भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥"

—काव्यप्रकाश, दशमोल्लास, सूत्र १९० ।

को प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ तद्गुण अलंकार होता है ।[1]

यथा : "अरुणस्तंभरत्नांशौ द्वारि यत्र प्रवेशिनाम् ।
मनुजः कुंकुमाल्लिप्तादितरो न विभाव्यते ॥" —पार्श्व० १।५०

जिसके लाल स्तंभों के ऊपर जुड़े हुए रत्नों की किरणों से शोभित द्वार में प्रवेश करने वालों में से कोई भी मनुष्य कुंकुम से लिप्त के अलावा नहीं जाना जाता है। अर्थात् कुंकुम से लिप्त की तरह जाना जाता है।

यहाँ पर मणियों के वर्ण के साथ संबंध होने से मनुष्यों ने अपने वर्ण को छोड़कर तद्वत् रक्त वर्ण (कुंकुम की तरह) को प्राप्त कर लिया है। अतएव तद्गुण अलंकार है। लाल वर्ण वाली मणियों की किरणों से प्रभावित वातावरण का रक्त-वर्ण होना और तज्जनित प्रभाव से मनुष्यों का कुंकुम से लिप्त की तरह हो जाना, कवि की अद्भुत प्रतिभा का परिचायक है।

कतिपय अन्य अलंकार :

उक्त अलंकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अलंकार हैं, जिनका प्रयोग कवि ने एकाध स्थल पर ही किया है। जैसे विषम, उल्लेख आदि।

विषम :

"ऋजुवक्रतया पिशंगकृष्णौ प्रकृतिस्थूलकृतौ चदंडखड्गौ ।
क्षितिपस्य निदेश-काम्ययेवाचलतामग्रपदे मिथोऽविरुद्धौ ॥"
—पार्श्व० ६।६।

राजा की आज्ञापालन की इच्छा से ही मानों क्रमशः सीधे और टेढ़े, पिंगल-वर्ण और काले, स्थूल और पतले विरोधी धर्म वाले दण्ड एवं खड्ग दोनों ही साथ-साथ अविरुद्ध होकर आगे चलने लगे।

यहाँ पर दो विरुद्ध पदार्थों—दण्ड और खड्ग का एक साथ वर्णन होने से विषम अलंकार है।

उल्लेख :

एक ही वस्तु का अनेक प्रकार का उल्लेख अर्थात् ज्ञान या वर्णन उल्लेख-अलंकार कहलाता है।[2] पार्श्वनाथचरित में इस अलंकार का वर्णन सूर्य की किरणों

१- "स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥"
—काव्यप्रकाश, दशमोल्लास, सूत्र १६०।

२- एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते । —साहित्यदर्पण १०।३७।

का वर्णन करते हुए ६ पद्यों में किया गया है।

"अशोकपल्लवैस्सख्यालंदिता इव कानने ।
बन्धुजीवप्रसूनेषु द्वैगुणमिव संश्रिताः ॥
उद्भावयन्तः सांगत्या रक्ताख्यं नदीजले ।
तलमाणिक्यदीप्तीनामुत्क्षेपप्रक्रियामिव ॥
शिविरद्विरदांगेषु कुर्वाणाः पश्यतां नृणाम् ।
कुंभोत्तंभितसिन्दूरपरागप्रसरभ्रमम् ॥
प्रवालपाटलाच्छायेष्वधरोष्ठेषु योषिताम् ।
चुंबनव्रणनिर्मुक्तरक्तधारोपभावहाः ॥
गाढालिंगनभग्नस्य कश्मीरस्य नतभ्रुवाम् ।
स्तनेषु रागं तत्प्रीत्येवोरव्कुर्वाणाः कृतस्थितिम् ॥
शच्योतल्लाक्षारसाद्धातुरुचिसर्वस्वतस्कराः ।
द्यावापृथिव्योः नव्यास्ते प्रससू रविरश्मयः ॥" —पार्श्व० ७।१०–१५।

वन में अशोक पल्लवों के साथ मित्रता करती हुई के समान, बन्धुजीव पुष्पों में द्विगुणता को प्राप्त हुई के समान, रक्ता नदी के जल में पड़ने से उद्भासित तलस्थित माणिक्यों की दीप्ति के ऊपर उठने के समान, शिविर के हाथियों के शरीर पर पड़ने से गण्डस्थल में लगाये गये सिन्दूर प्रवाह का लोगों को भ्रम करती हुई के समान, युवतियों के मूंगा के समान रक्तिम कान्ति वाले अधरोष्ठ पर चुम्बनजन्य व्रण से निकलती हुई रक्तधारा के समान और कान्ताओं के स्तनों पर गाढ़ालिंगन से छूटी हुई केशर लालिमा को प्रेमपूर्वक पुनः स्थापित करने वाली पीसे हुए लाक्षा-रस की कान्तिसम्पदा को चुराने वाली सूर्य की वे नवीन किरणें स्वर्ग और पृथिवी के मध्य में फैल गई।

यहाँ पर उल्लेख अलंकार स्पष्ट है। क्योंकि सूर्य की किरणें तो एक रूप हैं, किन्तु उनका अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

इस प्रकार किये गये अलंकारों के निर्देश से स्पष्ट होता है कि महाकवि वादिराज ने रसानुरूप अलंकारों के सन्निवेश से भाषा को प्रभावशाली बनाया है। शब्दालंकारों विशेषतया चित्रालंकारों के माध्यम से जहाँ कवि शाब्दी क्रीड़ा से पाठकों को चकित करना चाहता है, वहाँ अर्थालंकारों के माध्यम से चमत्कृतिपूर्ण वर्णन और भावानुरूप कल्पना का प्रदर्शन करता हुआ भी पाठकों को प्रभावित करता है। वादिराज वस्तुतः चमत्कारवादी और कलावादी कवि नहीं हैं, फिर भी उनके काव्य में चमत्कार और कला का विन्यास सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

(घ) छन्दो योजना

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य का आश्रय अधिक लेता है, क्योंकि अपने अभिप्राय को चमत्कृति एवं प्रभावपूर्ण ढंग से उपस्थित करने के लिए पद्य का माध्यम अधिक सुकर है। पद्यों की सहायता से ही अधिकांश प्राचीन भारतीय साहित्य शिष्य-परम्परा के माध्यम से जीवित बचा रहा है। संस्कृत भाषा में तो पद्यों (छन्दों) का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत की यह अपनी विशेषता है कि इसमें गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति जैसे नीरस विषय भी छन्दोमय होकर मनोरम, मृदुल एवं आकर्षक लगने लगते हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भावानुरूप छन्दों के निवेश को उचित बतलाते हुए कहा है कि—

"वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता ।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ॥"[१]

अर्थात् अनुचित स्थान पर किया गया छन्दों का प्रयोग गले में धारण की गई मेखला की तरह कवि की अज्ञता का ही बोध कराता है। अतः स्पष्ट है कि छन्दों का प्रयोग भी वर्णन के अनुसार किया जाना चाहिये।

महाकवि वादिराज ने भाषा को संगीतमय, भावों को सशक्त और रसों की अभिव्यक्ति के लिए वर्ण्यविषयानुसार अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। पार्श्वनाथचरित में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक रथोद्धता, स्वागता, वंशस्थ, द्रुतविलंबित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, अपराजिता, वसन्ततिलका, वसन्त (नन्दीमुखी), मालिनी, शिखरिणी, पृथ्वी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, वियोगिनी और मालभारिणी वर्णिक छन्दों तथा विपुला नविपुला और भविपुला मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। उक्त छन्दों का पृथक्-पृथक् विवरण एक-एक उदाहरण के साथ यहाँ प्रस्तुत है। इनमें वर्णिक छन्दों के उल्लेख का क्रम सम, अर्धसम और विषय में विभक्त करके वर्णगणना के आधार पर किया गया है। अनन्तर मात्रिक छन्दों का उल्लेख है।

वर्णिकवृत्त, सम : अष्टाक्षर छन्द

अनुष्टुप् :

आठ अक्षर वाले सभी छन्दों की अनुष्टुप् संज्ञा है। परन्तु प्रयोगाधिक्य के कारण पण्डित अधोलिखित लक्षण वाले को अनुष्टुप् कहते हैं। वस्तुतः यह अनुष्टुप्

१- सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास १३।

का एक भेद है।

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥"[१]

अर्थात् जिसमें चारों पादों के षष्ठ अक्षर गुरु, पंचम अक्षर लघु द्वितीय और चतुर्थ पाद में सप्तम अक्षर– ह्रस्व तथा प्रथम और तृतीय पाद में सप्तम अक्षर दीर्घ हो, उसे श्लोक (अनुष्टुप्) कहते हैं।

यथा : 'श्रीवधूनवसंभोगभव्यानंदैकहेतवे ।
नमः श्रीपार्श्वनाथाय दानवेन्द्रार्चितांघ्रये॥' —पार्श्व० १।१।

पार्श्वनाथचरित में अनुष्टुप् के प्रयोग के स्थल :

प्रथम सर्ग : १ से ११३ तक।
सप्तम सर्ग : १ से १५९ तक।
एकादश सर्ग : १ से ८५ तक।

पार्श्वनाथचरित में अनुष्टुप् छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

एकादशाक्षर छन्द

इन्द्रवज्रा[२] :

"भीमो भृशं भानुकराभिमर्शाद्
य: सूर्यकान्तैर्ज्वलितैर्मनोज्ञः।
चन्द्रांशुपातद्रवदिन्दुकांतैः
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥" —पार्श्व० २।६९।

प्रयोग के स्थल— द्वितीय सर्ग : ६९।
षष्ठ सर्ग : ३८, ९५, ९७, ९९, १०१, ११५, १३८।

प्रशस्ति पद्य : १–४

उपेन्द्रवज्रा[३] :

"अथैकनाथं वसुधांगनायाः
पुरस्य वृत्तान्तविशेषवेदी।
निवेदितात्मा सचिवद्वितीयः
चरो नराधीश्वरमाससाद॥" —पार्श्व० २।१।

१– श्रुतबोध, १०।
२– "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः।" —वृत्तरत्नाकर, ३।३०।
३– "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।" —वही, ३।३१।

प्रयोग के स्थल :

द्वितीय सर्ग : १-३, १०, १४, २४, २७-२८, ४०-४२, ५७-५६, ८२, ८८, ६५, १०२, ११०-११३, ११७ ।

षष्ठ सर्ग : १, २, ७, ८८, ८६, ६०, ६१, १०३ ।

अष्टम सर्ग : ७-८, ११-१२, १५-१६, १८-२०, २२-२३, २६-२७, २६-३१, ३४-३५, ३८-३६, ४०-४१, ४२-४३, ४६-४७, ५०-५१, ५४-५६, ५८-५६, ६२-६३, ६६-६७, ७०-७१, ७४-७५, ७८-७६, ८३-८५, ८८-८६, ६२-६३, ६६-६७, १०० ।

एकादश सर्ग : ८६ ।

उपजाति[1] :

"अनेकदिग्भेदविदर्कबिंब-
मार्गोपदेशप्रतिपन्नकृत्यम् ।
प्रभाविनस्तस्य भयादिवाग्रे
चक्रं प्रभाभालि चचाल भीमम् ॥" —पार्श्व० ६।६।

प्रयोग के स्थल :

द्वितीय सर्ग : ४-६, ११-१३, १५-२३, २५-२६, २६-३६, ४३-५६, ६०-६८, ७०-७४, ७६-८१, ८३-८७, ८६-६४, ६६-१०१, १०३-१०६, ११४-११६, ११८-१२० ।

षष्ठ सर्ग : ६, १०२, ११८ ।

सप्तम सर्ग : १६० ।

अष्टम सर्ग : ३-४ ।

दोधक[2] :

"येन तदीयगुणावलिमुच्चैः
गीतपदोपनतां कलयन्त्यः ।
यौवनरूपमनोहरवेषाः
शुश्रुविरे कमलावलिगोप्यः ॥" —पार्श्व० ६।१५।

१— "एतयोः परयोश्च संकर उपजाति ।" एतयोः—इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः... —परयोरिन्द्रवंशावंशस्थयोः ।" —छन्दोऽनुशासन, २।१५६ स्वृत्ति।

२— "दोधकवृत्तमिदं भभमाद् गौ ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।३४।

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : १५ ।

रथोद्धता[1] :

"हस्तिनः समदधावतो भया-
दुत्प्लुतेन तुरगेण पातिता ।
वारयोषिदवनीभृतो जनै-
र्हासगर्भवदनैरदृश्यत ।।" —पार्श्व० ६।२४।

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : २४, ३३, ४०, ८१, ८५ ।

नवम सर्ग : १ से ९४ तक ।

स्वागता[2] :

"तस्य पार्थिवपतेरभिपार्श्वे
चामरे प्रचलिते हिमशुभ्रे ।
कायकान्तिविभवामृतसिंधो-
र्वीचिविभ्रमरुचं व्यदधाताम् ।।" —पार्श्व० ६।१०।

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : १०, ३२, ३४, ४२, ७४ ।

द्वादशाक्षर छन्द

वंशस्थ[3] :

"प्रवृद्धजम्बूद्रुमपुख्यलांछनं-
प्रभावितद्वीपविशेषमध्यमः ।
निसर्गहेमच्छविमण्डलोदरः
स्थिरस्वभावोऽस्ति सुमेरुपर्वतः ।।" —पार्श्व० ४।१।

प्रयोग के स्थल :

चतुर्थ सर्ग : १ से १३८ तक ।

षष्ठ सर्ग : ३, २५, ४६, ५३, ५६, ६५, ७०, १०५, १०८ ।

अष्टम सर्ग : १-२, ५-६, ८-१०, १३-१४, १७, २१, २४-२५, २८,

१- "रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।३६।
२- "स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम् ।" —वही, ३।४०।
३- "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।" —वही, ३।४७।

३२–३३, ३६–३७, ४०, ४४–४५, ४८–४९, ५२–५३, ५७, ६०–६१, ६४–६५, ६८–६९, ७२–७३, ७६–७७, ८०–८१, ८६–८७, ९०–९१, ९४–९५, ९८–९९ ।

द्रुतविलम्बित[1] :

"इति सखि कथयेव तमोमुचां
युवतिरात्मवती दयितागमे ।
अकृत बुद्धिमधिज्यशरासने
निशि समीपगते कुसुमायुधे ॥" —पार्श्व० ६।७८

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : ७८, १३७ ।

प्रमिताक्षरा[2] :

"अभिसारिकामनुचरं तुरगं
प्रविलोक्य कश्चिदुपलब्धरताम् ।
सविचित्रवल्गनमनोज्ञपदं
पथि पर्यधावयदुदूढमयम् ॥"

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : २०, २३, ७९ ।

त्रयोदशाक्षर छन्द

प्रहर्षिणी[3] :

"आसीदत्सकलजनोत्सवेन गच्छन्
भूनाथैरनुनदि रम्यवर्त्मनैवम् ।
उद्योगस्थगितमनाः स चक्रवर्ती
शीतोदानिकटभगादगाधशौर्यः ॥" —पार्श्व० ६।४४

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : ४४, ६३, ७१, १२२, १३४, १३६ ।

१– "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।५०।

२– "प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता ।" —वही, ३।६२।

३– "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति प्रहर्षिणीयम् ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।७१।

मत्तमयूर[1] :

"लक्ष्मीधाम श्रीजिनधर्मादपि वाह्य:
कायक्लेशादायुरपाये स तपस्वी ।
देवो जात: ज्ञातिमयासीदपि नाम्ना
भूतानन्दो भुवनदेवेष्वसुरेषु ।।" —पार्श्व १०।८८।

प्रयोग–स्थल :

षष्ठ सर्ग : ७८ ।

चतुर्दशाक्षर छन्द

अपराजिता[2] :

"व्यदधत गगने तमांसि विलासिनी
शिशिरसिजरुचिविभ्रमाणि तनूभृताम् ।
अलिवलयभृदुन्मदेभकपोलक–
च्युतमदबहलच्छविप्रसरद्भ्रमम् ।।" —पार्श्व० ६।६६।

प्रयोग–स्थल :

षष्ठ सर्ग : ६६ ।

वसन्ततिलका[3] :

विभिन्न आचार्यों के मत में इसका भिन्न–भिन्न नाम है । काश्यप मुनि के मत में सिंहोन्नता, सैतव मुनि के मत में उद्धर्षिणी तथा पिंगल के मत में इसका नाम मधुमाधवी है ।

"धर्मस्य सर्गमिव देहमिव क्षमाया:
मोहस्य भंगमिव संघमिव व्रतानाम् ।
दृश्यं प्रकाशमिव तत्त्वधियो दयाया:
मूर्तंप्रयोगमिव सार्थमिवागमानाम् ।।" —पार्श्व० २।२१।

द्वितीय सर्ग : १२१ ।

१– "वेदे रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम् ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।७३।

२– "ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता ।" —वही, ३।७७।

३– "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौग:
सिंहोन्नतेयमुदिता मुनिकाश्यपेन ।
उद्धर्षिणीति गदिता मुनिसैतवेन
रामेण सेयमुदिता मधुमाधवीति ।।" —वृत्तरत्नाकर, ३।७९।

तृतीय सर्ग : १२०, १२१, १२३ ।

पंचम सर्ग : १११ ।

षष्ठ सर्ग : ४, ८, ११, १३, १६, १९, २१–२२, २६, ४५, ४७-४९, ५१, ६०, ७३, ८०, ८७, ९६, ९८, १०४, ११४, ११९, १२१, १२५–१२६, १२९, १३२ ।

अष्ट सर्ग : १०१ ।

दशम सर्ग : ८७ ।

एकादश सर्ग : १ से ६१ तक ।

वसन्त (नन्दीमुखी)[1] :

"कृतरुचिकुलटालिप्सया लीलवासा
निभृतपदमटन्नंधकारेऽपि जशे ।
निशिविटनिवहो मल्लिकामालभारी
भ्रमरपटलनिध्वानकोलाहलेन ।। —पार्श्व० ६।६८।

प्रयोग स्थल :

षष्ठ सर्ग : ६८ ।

पंचदशाक्षर छन्द

मालिनी[2] :

"नृपतिररहितमेवं वज्रवीरं विजित्य-
स्वपुरमभिजगामोद्दामलक्ष्मीसमेतः ।
विकचकुमुदताराहारशुभ्रं यशः स्वं
दिशि दशि सवधूकैर्गापयत्किन्नरौधैः ।। —पार्श्व० १।११४।

प्रयोग के स्थल :

प्रथम सर्ग : ११४ ।

द्वितीय सर्ग : १२२ ।

तृतीय सर्ग : १२२ ।

चतुर्थ सर्ग : १३९–१४० ।

षष्ठ सर्ग : ४३, ५५, ५९, ६९, ७२, ७६, ८३, ९२, १००, १२८, १३५, १४० ।

१– "नौ तौ गौ वसन्तः । नन्दीमुखीत्येके ।" —छन्दोनुशासन, २।२२४।

२– "ननभययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः । —वृत्तरत्नाकर, ३।८४।

सप्तम सर्ग : १६१ ।
अष्टम सर्ग : १०२ ।
नवम सर्ग : ६५ ।
द्वादश सर्ग : ६२ ।

सप्तदशाक्षर

शिखरिणी[1] :

"गलद्गात्रस्वेदा व्यजनकमरुत्संगसुहिता
दद्दीयोऽध्वश्रान्ताः क्षणमनवरुद्धा हयकुलात् ।
विपश्यन्तस्तस्थुर्निजभवनरम्याजिरगतां
यथास्थानं सेनामभिनिविशमानां क्षितिभृता ॥"

—पार्श्व० ६।५०।

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : ३६, ३७, ५० ।

पृथ्वी[2] :

निरस्य करिणां गलन्मदजलाः कपोलस्थलीः
सुगंधिकलमानमूनपि विमुच्य ताः षट्पदैः ।
प्रयद्भिरभिवेष्टितं गगनमंडलं निर्बभौ
विदीप्तरविवासरेऽपि तमसेव संछादितम् ॥

—पार्श्व० ६।१७।

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : १७, १८, २८, ४१, ४३, ६१, ७५, ७७, ९३ ।
एकादश सर्ग : ८७ ।

हरिणी[3] :

वनगजमदावेशोदीर्णक्रुधस्तदकुर्वत
क्षितिपतिगजा धावन्तस्ताः दिशो दलितांकुशाः ।
कृतकलकलं भ्रश्यद्भारं भयादनडुत्कुलं
पथि यदनुविभ्राम्यद् गोपव्रजं प्रपलायते ॥"—पार्श्व० ६।३० ।

१- "रसै रुद्रैश्छिन्ना, यमनसभला गः शिखरिणी ।" —वृत्तरत्नाकर, ३।९०।
२- "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।" —वही, ३।९१।
३- "रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।" —वृत्तरत्नाकार, ३।९३।

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : १२, १४, ३०, ६४ ।

मन्दाक्रान्ता[1] :

"तीरे भूरिद्रुमवति वधूबन्धुभिर्भोजनान्ते
विश्रान्तानां क्षणमनुचराः पद्मिनीपत्रगूढम् ।
अंभः शुभ्रं सबिसवलयं पद्मजालं सनालं
ताम्यत्यंशौ पथि धनवतामाहरन् दीर्घिकाभ्यः ।।"

—पार्श्व० ६।३५।

प्रयोग के स्थल :

षष्ठ सर्ग : ३५, ५२, ५४, १२३ ।

प्रशस्ति पद्य : ६ ।

एकोनविंशत्यक्षर छन्द

शार्दूलविक्रीडित[2] :

"वातोन्नर्तितकेतुयष्टिभुजया व्याहूयमानस्तया
तात्पर्यादिव विप्रयोगविधुरामासाद्य रम्यां पुरीम् ।
कुर्वन् जैनमहप्रबन्धविधिना लोकस्य भूरिश्रियं
राजा वारिधिमेखलां वसुमतीं दीर्घं ररक्षाज्ञया ।।"

—पार्श्व० १।११५।

प्रयोग-स्थल :

प्रथम सर्ग : ११५ ।
द्वितीय सर्ग : १२३ ।
तृतीय सर्ग : १२४ ।
चतुर्थ सर्ग : १४१, १४२ ।
पंचम सर्ग : ११२ ।
षष्ठ सर्ग : ८२, १३१, १३८, १४१ ।
सप्तम सर्ग : १६२ ।
अष्टम सर्ग : १०३ ।
नवम सर्ग : ९६ ।

१– "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरु चेत् ।" —वही, ३।९४।

२– "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।" —वही, ३।९९।

दशम सर्ग : ८९ ।
एकादश सर्ग : ८८ ।
द्वादश सर्ग : ६३ ।
प्रशस्ति पद्य : ५, ७ ।

अर्धसमवृत्त

पुष्पिताग्रा[1] :

"कुसुमसुरभिगंधि तोयमन्नं
शकटभृतं संततं बुभुक्षितेभ्यः ।
अभिरुचितमनुक्रमादयच्छ-
न्नपिवनवर्त्मसु चक्रिणो नियुक्ताः ॥" —पार्श्व० ६।२७।

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : २७, २९, ३१, ३९, ५७-५८, ६२, ६७, ६८, ९४, ११३, १२०, १२४, १२७, १३०, १३३ ।

दशम सर्ग : १ से ८६ तक ।

वियोगिनी[2] :

वियोगिनी छन्द का दूसरा नाम सुन्दरी भी कहा गया है।[3]

"भवतापनिदाघपीडितं
भवता नाथ मनश्चिराय नः ।
अमृतद्युतिनैव नेत्रयोः
परिलब्धेन भृशं प्रमोदते ॥ —पार्श्व० ३।१

प्रयोग-स्थल :

तृतीय सर्ग : १ से ११९ तक ।

मालभारिणी[4] :

"विजयातनयः स वर्धमानः
सह बन्धुप्रमदेन सन्मुखश्रीः ।

१- "अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।"
—वृत्तरत्नाकर, ४।६।

२- "विषमे यदि सौ जगौ समे सभरा लगौ च तदा वियोगिनी ।"

३- "अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा ।"—छन्दोमंजरी ३।६।

४- "साजगगाः स्भर्या मालभारिणी ।" — छन्दोऽनुशासन, ३।१७।

निजपुष्टिविलिप्सयेव पश्चाद्
गुणमुख्यैरनुबन्धिभिः सिषेवे ।।" —पार्श्व० ५।१।

प्रयोग-स्थल :

पंचम सर्ग : १ से ११० तक ।

षष्ठ सर्ग : ५, ६, ८४, १०६, ११६ ।

कहीं-कहीं इस छन्द का नाम कलभारिणी भी मिलता है।[1]

मात्रिक वृत्त

विपुला :

जिस छन्द के द्वितीय और चतुर्थ पाद में सप्तम अक्षर लघु हो उसे विपुला कहते हैं। सैतव ऋषि के मत में चारों पादों में सप्तम वर्ण लघु होना चाहिये।[2] इस छन्द में पाद के चतुर्थ अक्षर के बाद यदि यगण को छोड़कर नगण, तगण, भगण, रगण, मगण और सगण आते हैं, तो उन छन्दों को उन्हीं नामों से अर्थात् नविपुला, तविपुला, भविपुला, रविपुला, मविपुला कहते हैं।[3] यह विपुला छन्द वस्तुतः आर्या के ९ भेदों में से एक है।[4]

विपुला छन्द के उक्त भेदों में से पार्श्वनाथचरित में नविपुला और भविपुला का प्रयोग मिलता है।

(क) नविपुला[5] :

"वधूवरान्मधुमदनिप्रियः (?)
स्मरो मुदा भरतरसक्रियागुरु ।
अयोजत् निधुवननृत्यकर्मणा
समुल्लसद्गरलतालयोजनः ।।" —पार्श्व० ६।१००

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : १०० ।

१– "विषमे ससजा यदि गुरु भवेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम् ।" —छन्दोमंजरी, ३।१२।

२– "युजोः षड्भ्यो लो विपुला । सैतवस्य चतुर्षु ।" —छन्दोऽनुशासन, ३।३७-३८।

३– द्रष्टव्य, वही ३।३८ की वृत्ति ।

४– "पथ्या विपुला चपला मुखचपला जघनचपला च ।
गीत्युपगीत्युद्गीतयः आर्यागीतिश्च नवधाऽऽर्या ।। —छन्दोमंजरी ५।३।

५– "नोऽन्त्रुवेश्चेन्नविपुला ।" —वृत्तरत्नाकर, २।२८।

(ख) भविपुला[1] :

अचिक्लिदन्वामदृशः प्रयस्ताः

प्रस्वेदतोयैर्पुरुषायितेषु ।

वक्षांसि वल्गत्कुचकुंभमुक्तै-

र्मूर्तैरिव प्रेमरसैः प्रियाणाम् ।" —पार्श्व० ६।१११

प्रयोग-स्थल :

षष्ठ सर्ग : ११-११२ ।

छन्दों के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वादिराज ने अनेक छन्दों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दोधक, मत्तमयूर, अपराजिता, नन्दीमुखी आदि कुछ छन्दों का एकाध प्रयोग वादिराज ने केवल षष्ठ सर्ग में ही किया है । अतः इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ये छन्द उन्हें प्रिय नहीं थे । मालभारिणी जैसे अप्रचलित छन्द का पर्याप्त प्रयोग उनके पाण्डित्य का परिचायक है ।

वादिराज द्वारा प्रयुक्त छन्दों की संख्या इस प्रकार है— (१) अनुष्टुप्-३५७ (२) वंशस्थ-१९३, (३) वियोगिनी-११६, (४) मालभारिणी-११५, (५) पुष्पिताग्रा-१०२, (६) उपजाति-१०१, (७) रथोद्धता-९९, (८) वसन्ततिलका-९६, (९) उपेन्द्रवज्रा-८६, (१०) मालिनी-२१, (११) शार्दूलविक्रीडित-१८, (१२) इन्द्रवज्रा-१२, (१३) पृथ्वी-१०, (१४) प्रहर्षिणी-६, (१५) स्वागता-५, (१६) मन्दाक्रान्ता-५, (१७) हरिणी-४, (१८) शिखरिणी-३, (१९) प्रमिताक्षरा-३, (२०) द्रुतविलम्बित-२, (२१) भविपुला-२, (२२) नविपुला-१, (२३) दोधक-१, (२४) मत्तमयूर-१, (२५) अपराजिता-१, और (२६) नन्दीमुखी (वसन्त)-१ ।

(ङ) गुण-दोष विवेचन

(गुण)

मधुर भावों की अभिव्यक्ति के लिए मधुर भाषा भी आवश्यक है । रसानुकूल पदों की योजना हृदय के भावों को झटिति प्रकाशित करती है । जिस प्रकार मानव-शरीर में सारभूत आत्मा के धर्म शौर्य-औदार्य आदि है, उसी प्रकार काव्य-शरीर के सारभूत तत्त्व रस के धर्म माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण हैं ।

वादिराज ने अपने काव्यों में वैदर्भी रीति[2] और प्रसाद गुण का बहुतायत

१- "भेनाब्धितो भाद्विपुला । —वृत्तरत्नाकर, २।२७।

२- "माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ —साहित्यदर्पण ९।२-३।

प्रयोग किया है। यद्यपि कहीं-कहीं उनके काव्यों में महाप्राण वर्णों और लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उनके लिए अभीष्ट तो वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण ही है। काव्य में रचना-पद्धति का निर्देश करते हुए वादिराज ने स्वयं कहा है—

"अल्पसारापि मालेव स्फुरन्नायकसद्गुणाः।
कण्ठभूषणतां याति कवीनां काव्यपद्धतिः॥" —पार्श्व० १।१५

अर्थात् प्रकाशमान श्रेष्ठ गुण से युक्त अल्प सार (सूत्र) वाली माला की तरह प्रकाशमान नायक के सद्गुणों से युक्त, अल्प समास वाली काव्य रचना-पद्धति कवियों के कण्ठ की शोभा को प्राप्त करती है।

स्पष्ट है कि कवि अल्पसमासों वाली वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण का ही मुख्य रूप से समर्थक है। किन्तु वादिराज के पार्श्वनाथचरित में यथास्थान माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुणों का प्रयोग हुआ है।

माधुर्य :

चित्त को पिघलाने (द्रवीभूत करने) वाले आनन्दप्रधान गुण को माधुर्य कहते हैं। यह संभोग-शृंगार, करुण, विप्रलंभ और शान्त रस में क्रमशः अधिक मधुर होता जाता है।[1]

माधुर्य गुण के अभिव्यंजन में ट ठ ड ढ को छोड़कर अपने वर्गों के अन्तिम वर्णों से युक्त वर्ण, लघु र ण वर्ण और समास रहित या छोटे-छोटे समासों वाली रचना सहायक है।[2]

पार्श्वनाथचरित में माधुर्य गुण का अनेक जगह प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वत्र उसके अभिव्यंजक वर्णों का विन्यास दृष्टिगोचर नहीं होता है। उदाहरण के लिए यहाँ माधुर्य गुण का एक पद्य उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा।

"किञ्चिन्मरुत्सङ्गचलाङ्गलेखाः
सत्पुष्पभारा मधुपप्रणादैः।

१- "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलंभे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥" —साहित्यदर्पण ८।२

२- मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेण युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा॥
—साहित्यदर्पण ८।३, ४ का पूर्वार्ध।

लताः स्वयं दर्शितलास्यलीला—
स्तस्यैव गायन्ति तपःप्रभावम् ॥"

—पार्श्व० २।१०४

यहाँ पर वर्ग के अन्तिम वर्ण ञ्, ङ्, न् से युक्त चवर्ग, कवर्ग और तवर्ग (ञ्च, ङ्ग, न्ति) माधुर्य के अभिव्यंजक हैं, अतः माधुर्यगुण है।

ओज :

चित्त का विस्ताररूप दीप्तत्व ओज कहलाता है। यह वीर, बीभत्स और रौद्र-रस में क्रमशः बढ़ता जाता है।[1]

ओज के अभिव्यंजक वर्ण वर्ग के प्रथम अक्षर के साथ मिले हुए द्वितीय अक्षर, तीसरे अक्षर के साथ मिले हुए चौथे अक्षर, आगे या पीछे रेफ और ट, ठ, ड, ढ, श, ष हैं। इसी प्रकार लम्बे लम्बे समास वाले वाक्य भी ओज के अभिव्यंजक होते हैं।[2]

पार्श्वनाथचरित में वीर और रौद्र रस में ओज गुण का प्रयोग किया गया है। मागध व्यन्तराधिप के वर्णन में यह विशेष रूप से देखा जा सकता है।

"तद्द्रष्टसमयोद्गीर्णक्रोधघूर्णद्विलोचनः।
प्रोद्यत्कहकहाध्वानं प्रहस्येदमब्रवीत् ॥"

—पार्श्व० ७।५४

"तस्य का वा भवेन्न श्रीर्यस्तु ते संगरोत्सवे।
चण्डदोर्दण्डकण्डूतिकण्डूयनभरक्षमः ॥"

—पार्श्व० ७।६१

प्रसाद :

जैसे सूखे ईंधन में अग्नि शीघ्र ही व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार चित्त में जो शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। यह गुण सम्पूर्ण रसों और रचनाओं में रह सकता है। जिन शब्दों के श्रवणमात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाय,

१- 'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकमस्य तु ॥'

—साहित्यदर्पण, ८।४ का उत्त०, ५ का पूर्वा०

२- 'वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गता ॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ॥'

—वही, ८।५ का उत्त०, ६ एवं ७ का पूर्वा०

ऐसे वर्ण इसके अभिव्यंजक हैं।[1]

पार्श्वनाथचरित में सर्वत्र ही इस गुण का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए यहाँ एक-दो स्थलों का निर्देश कर देना ही पर्याप्त है।

"वपुर्मनोज्ञं नवयौवनाढ्यं कला च शिक्षा विपुला च लक्ष्मीः।
अचूपतः सर्वमिदं निरर्थं मनोरमाणामधरोष्ठबिम्बम् ॥"

—पार्श्व० २।४२।

"अर्थैकनाथं वसुधांगनायाः पुरस्यवृत्तान्तविशेषवेदी।
निवेदितात्मा सचिवद्वितीयं चरो नराधीश्वरमाससाद ॥"

—वही, २।१

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भावों के प्रकट करने के लिए गुणों के प्रयोग और उनके व्यंजक शब्दों के चुनाव में कवि सक्षम है।

दोष

प्रायः सभी अलंकारिकों ने काव्य की निर्दोषता पर अधिक बल दिया है। काव्य में गुण और अलंकारों का सन्निवेश जितना आवश्यक है, उतना ही दोषों का अभाव भी। क्योंकि जहाँ गुण और अलंकार रसोत्कर्षक हैं, वहां दोष रसापकर्षक। काव्य की निर्दोषता का समर्थन करते हुए आचार्य भामह ने लिखा है-

"सर्वथापदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्यणां हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥"[2]

अर्थात् जैसे कुपुत्र पिता की निन्दा का कारण बन जाता है, उसी तरह कुकाव्य कवि की निन्दा का। अतः एक भी सदोष पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य दण्डी ने भी कहा है—

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥"[3]

अर्थात् काव्य में छोटे से भी दोष की उपेक्षा नहीं करना चाहिये। क्योंकि सुन्दर शरीर भी एक छोटे से श्वेत कुष्ठ से कुरूप बन जाता है।

१- 'चित्रं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥— साहित्यदर्पण, ८।७ का उत्तरार्द्ध।

२- काव्यालंकार, १।११।

३- काव्यादर्श, १।७।

स्पष्ट है कि सभी समीक्षकों ने दोषाभाव की आवश्यकता का निर्देश किया है। किन्तु कवि काव्यरचना में कितना ही सावधान क्यों न रहे, उसे दोषों से बचना संभव नहीं है। अधिक क्या ? महाकवि कालिदास जैसे समर्थ कवि भी दोषों से नहीं बच सके। कोई भी काव्य सर्वथा निर्दुष्ट हो यह संभव नहीं है, फिर महाकाव्य की तो बात ही क्या ? इसीलिए तो कहा गया है—

"कीटानुविद्ध रत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥[1]"

अर्थात् जैसे कोई रत्न कीटानुविद्ध होने पर भी रत्न ही कहलाता है, उसी प्रकार दोषों के रहने पर भी काव्य में यदि रसादि की अभिव्यंजकता है तो वह काव्य ही कहलाता है।

पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वादिराज भी दोषों से बच नहीं सके हैं। उनमें से कुछ दोषों का दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत है।

च्युतसंस्कृति :

व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध पद के प्रयोग का नाम च्युतसंस्कृति दोष है।[2] यथा :

"देव देवांगनापांगरुचिगौरगुणा गुणाः ।
किन्नरैर्गायिषेरंस्ते मानुषोत्तरमूर्धनि ॥" —पार्श्व० १।८३।

यहाँ पर 'गायिषेरन्' पद का प्रयोग व्याकरण विरुद्ध है। क्योंकि गै धातु से आत्मनेपद विधिलिङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'गीयेरन्' रूप बनता है, गायिषेरन् नहीं।

अप्रयुक्तत्व :

कोश आदि में प्रसिद्ध होने पर भी जिस अर्थ में कवियों ने जिस शब्द का प्रयोग नहीं किया हो, ऐसे शब्द के प्रयोग को अप्रयुक्तत्व दोष कहते हैं।[3] यथा—

"परिहृत्य गुणी गणान्त्रयं विदधानः पुनरात्मसंस्क्रियाम् ।
जिनचैत्यगृहान् विवंदिषुः सह सार्थेन मयाँ दयानिधिः ॥"

—पार्श्व० ३।६२

---

१ द्र०–साहित्यदर्पण, पृ० ८।

२– "व्याकरणलक्षणहीनत्वात्, च्युतसंस्कारत्वम् ।"
—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ५७७।

३– "अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतम् । —वही, पृ० ५६१।

यहाँ गृह शब्द का पुंल्लिग में प्रयोग अप्रयुक्त दोषग्रस्त है। गृह शब्द का प्रयोग कोश,[1] तथा लिंगानुशासन[2] में पुंल्लिग तथा नपुंसकलिंग दोनों में हुआ है। किन्तु कवियों ने गृह शब्द को पुंल्लिग में नहीं अपनाया है। इसी प्रकार—

"वार्धक्यवेषवेदेन स्खलतोऽनुपदं मम।
चित्तशुद्ध्येव निर्यन्त्या दृश्यते पाण्डुरं शिरम्॥"

—पार्श्व० १।८१।

उक्त स्थल में भी शिरम् (नपुंसकलिंग) का प्रयोग कोश में अस्त्री (पुं०–नपुं०) लिंग[3] में पठित्र होने पर भी कवियों ने नहीं किया है। अतः अप्रयुक्तत्व दोष है।

अविमृष्टविधेयांश :

जहाँ पर विधेय (प्रधान) अंश अप्रधान रूप से निर्दिष्ट किया जाता है, वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है।[4] यथा—

"अतिसर्गनिसर्गसौरभं करिभग्नं खलु यत्र चन्दनम्।
अनुशोचति निश्वसन्नली न रसज्ञस्य गुणो न तादृशः॥"

—पार्श्व० ३।२१।

यहाँ भग्नत्व विधेय है, किन्तु 'करिभग्नं' इस समस्त पद में आ जाने से उसकी प्रधानता नष्ट हो गई है। इसी प्रकार—

"यदीयकान्ताः स्फुरदंगयष्टयः सुधागृहोत्संगमलंकरिष्णवः।
विभज्य साक्षादचिरप्रभाधियं जनस्य कुर्वन्ति बलाहकादृते॥"

—पार्श्व० ४।६१

यहाँ 'कान्ता' ही विधेय है और वह समस्त पद में आ जाने से गुणीभूत हो गया है। अतएव इन दोनों स्थलों में अविमृष्टविधेयांश दोष है।

१– द्र०–अमरकोश, द्वितीय काण्ड, पुरवर्ग। ४–५।

२– "गृहमेहदेहः……।" वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, लिंगानुशासन, पुन्नंपुसकाधिकार, सूत्र ७, पृ० ३।

३– "उत्तमांगं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्"
—अमरकोश, द्वितीयकाण्ड, मनुष्यवर्ग।९५।

४– "विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविष्मृटविधेयांशत्वम्।"
—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ५६५।

छन्दोभंग[1] :

"प्रौढानुरागेण विभर्ति लक्ष्मीं नरो गुरूनप्यतिसंदधानः ।
सा वारनारीव नवप्रिया तं, विमुंचति वांछति कंचिदन्यम् ।।"

—पार्श्व० २।६८

उक्त पद्य उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा) का उदाहरण है। यहाँ चतुर्थ-पाद (उपेन्द्रवज्रा) में चतुर्थ अक्षर गुरु होना चाहिए था। किन्तु 'विमुंचति' में 'ति' ह्रस्व है। अतः छन्दोभंग दोष है।

इसी प्रकार कुछ स्थलों पर स्थायिभाव, और संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता भी उपलब्ध होती है। इन्हें मम्मट आदि ने रसदोषों की कोटि में ग्रहीत किया है। इतना होने पर भी अनेक गुणों के मध्य एकाध दोष का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

१- छन्दोभंगवद्वृत्तिर्या छन्दोभ्रष्टमिदम् । —अलंकारचिन्तामणि, ५।२११।

पञ्चम अध्याय

वर्णन

प्रकृति का चित्रण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। यही कारण है कि प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति-चित्रण अवश्य किया है। सामान्यतः प्रकृतिचित्रण के दो रूप दृष्टि-गोचर होते हैं- आलंवन रूप और उद्दीपन रूप। महाकवि वादिराज ने इन दोनों रूपों का चित्रण किया है। उनका यह चित्रण कहीं मादक वातावरण पाकर शृंगार का उद्दीपन करता है तो कहीं शान्त वातावरण में शान्त रस का संचार। वादिराज के स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक चित्रण रसपोषण के साथ ही अलंकृत होने के कारण आनंद का भी संचार करते हैं। कालिदास आदि महाकवियों ने अपने काव्यों में जिन प्राकृतिक वर्णनीय विषयों का समावेश किया है, वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में उनका यथास्थान स्पष्ट रीति से वर्णन किया है।

चन्द्रोदय

सायंकाल में उदयाचल पर स्थित लाल वर्ण वाले चन्द्रमा को देखकर कवि कल्पना करता है कि—

"जिस प्रकार कोई रागी पुरुष वियोग को न सह सकने के कारण अपनी वियुक्त प्रिया को किसी ऊँचे स्थान पर चढ़कर खोजता है, उसी प्रकार यह रागी चन्द्रमा उसी समय पृथिवी पर प्रथित प्रदोष वाली वियुक्त रात्रि के वियोग को न सह सकने के कारण ही मानों उसको प्रसन्न करने के लिए एणक मृग को लेकर उसे खोजने के लिए उदयाचल पर आरूढ़ हो गया है।"[1]

१- "रागी वियोगमसहन्निव रात्रिमिन्दुर्मुक्तां मुहूर्तमवनीप्रथितप्रदोषम्।
तस्याः प्रसादनमिवैणकमुद्वहत्तामन्वेष्टकाम इव गोधरमध्यरोहत॥
--पार्श्व०, ६।८७

कवि की इस कल्पना में मानवीकरण का पुट सुन्दरता को दुगनी बढ़ा देता है। इसी प्रकार लालिमायुक्त चन्द्रमा को लालमणि से सुशोभित शेषनाग की तरह बतलाता हुआ कवि कहता हैं कि—

"लाल रत्न के समान कान्ति वाले चन्द्रमा ने अपनी प्रभा को देखने के लिए उठाये गये पृथिवीधारण करने वाले शेषनाग के फणसमूह का अनुगमन किया। अर्थात् रक्तवर्ण चन्द्रमा ऐसा मालूम पड़ता था मानो मणिधारी शेषनाग ने अपनी कान्ति को देखने के लिए फणसमूह को उठा लिया हो।"[1]

शनैः शनैः चन्द्रमा ने अपने लाल वर्ण को त्यागकर सोने की तरह पीले वर्ण को धारण कर लिया। कवि उसका उन्मादकारी चित्र देखकर उसे कामदेव का पीठ समझते हुए कहता है कि—

"रात्रि में उदयाचल के शिखर पर आरूढ़, पीत किरणों वाला चन्द्रबिंब सुशोभित होने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था मानों उसने तत्काल साम्राज्य-पदवी को प्राप्त कामदेव के स्वर्णपीठ की शोभा को धारण कर लिया हो।[2]

सूर्योदय

वादिराज ने उदयकालीन सूर्य की लालिमा पर एक रमणीय एवं आकर्षक कल्पना की है। कवि कहता है—

"फैलती हुई लाल शोभा वाले सूर्य ने अंधकार रूपी भैंसे को मारकर मानों उसके खून से दिशाओं को बलि का उपहार दिया।"[3]

प्रातःकाल लाल सूर्य की किरणों के विस्तार का वर्णन कवि ने उल्लेख अलंकार के माध्यम से अत्यन्त रमणीय एवं आह्लादक प्रस्तुत किया है।

"सूर्य की किरणों के सम्पर्क से उत्पन्न लक्ष्मी के निवास कमलों में भ्रमरों ने मंजीर के समान शब्द किया। पीसे हुए लाक्षारस आदि धातुओं की कान्ति को चुराने वाली वे किरणें वन में अशोक-पल्लवों के साथ मित्रता करती हुई के समान, बन्धुजीव पुष्पों में द्विगुणता को प्राप्त के समान, रक्ता नदी के जल में पड़ने से

१– "हिमांशुरुद्यत्फणचक्रवालंशेषोरगस्यारुणरत्नदीप्तिः ।
भुवो भृता यं स्वयमन्विपाय प्रभाभिवोद्वीक्षितुमुश्रितस्य ॥" —पार्श्व०, ६।८८

२– "पिशंगमंगैः शुशुभे हिमांशोर्बिबं गिरेः शृंगविलग्नि रात्रौ ।
तत्कालसाम्राज्यकृतं स्मरस्य प्रापोदयस्येव सुवर्णपीटम् ॥" —वही, ६।८९

३– "तमोमहिषमाहत्य बलिहारं दिशामिव ।
तस्यासृग्भिः चकारार्कः प्रसरल्लोहितच्छविः ॥" —वही, ७।८

उद्भासित तलस्थित मणियों की शोभा के ऊपर उठने के समान, शिविर के हाथियों के शरीर पर पड़ने से लोगों को गण्डस्थल में लगाये गये सिन्दूर-प्रवाह के भ्रम को उत्पन्न करती हुई, युवतियों के मूंगा के समान रक्तिम अधरोष्ठों पर चुम्बनजन्य व्रण से निकलती हुई रक्तधारा के समान, कान्ताओं के स्तनों पर गाढ़ आलिंगन से छूटी हुई केसर की लालिमा को प्रेमपूर्वक करती हुयीं स्वर्ग और पृथिवी के मध्य में फैल गई।"[१]

प्रातःकाल

शिशिर में सरोवर के तटवर्ती वृक्षों पर पक्षियों की चहचहाहट को कवि अपनी कल्पना के आधार पर प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि—

"प्रातःकाल हिमपात के कारण भग्न हुए अपने हितैषी कमलाकर को पत्ररूपी नेत्रों से देखकर तुहिनांशु (कुमुद) आदि तीरस्थ वृक्ष पक्षियों के शब्दों से अत्यन्त रोने लगे।"[२]

१– "भानुमत्करसंवाहादुत्थितायास्तदा श्रियः ।
भ्रमरैः कमलावासे मंजीरैरिव सिंजितम् ।।
अशोकपल्लवैस्सख्यालंविता इव कानने ।
वप्रजीवप्रसनेषु द्वैगुण्यमिव संश्रिताः ।।
उद्भावयन्तः सांगत्या रक्ताख्यं नदीजले ।
तलमाणिक्यदीप्तीनामुत्क्षुपप्रक्रियामिव ।।
शिविरद्विरदांगेषु कुर्वाणाः पश्यतां नृणाम् ।
कुंभोत्तमितसिंदूरपरागप्रसरभ्रमम् ।।
प्रवालपाटलच्छायेष्वधरोष्ठेषु योषिताम् ।
चुंवनव्रणनिर्मुक्तरक्तधारोषमावहाः ।।
गाढालिंगनभग्नस्य कश्मीरस्य नतभ्रुवाम् ।
स्तनेषु रागं तत्प्रीत्येवोत्कुर्वाणाः कृतस्थितिम् ।।
श्च्योतल्लाक्षारसाद्धातुरुचिसर्वस्वतस्कराः ।
द्यावापृथिव्योर्नव्यास्ते प्रससू रविरश्मयः ।।"

—पार्श्व०, ७।८६-९१

२– "सवयोविरुताः स्वपत्रनेत्रैस्तुहिनांशुप्रमुखाश्च तीरवृक्षाः ।
भ्रशमन्वरुदन्निवात्मनीनं हिमभग्नं कमलाकरं प्रभाते ।।

—पार्श्व०, ५।२४

मध्याह्न

कवि मध्याह्न के समय धूप से पीड़ित भैंसों की स्थिति का चित्रण करता हुआ कहता है कि—

"दोपहर के समय सूर्य की किरणों के ताप को न सह सकने के कारण भैंसें सूर्य के ताप को रोकने वाले तमाल वृक्षों के झुरमुट में जाकर बैठ गई और जुगाली युक्त अपने मुख से फेन को झराने लगीं।"[1]

संध्या

सायंकालीन पाटल वर्ण वाली संध्या का चित्रण करते हुए कवि ने संध्या को एक विलासिनी स्त्री की तरह चित्रित किया है।

"पर्वतरूपी स्थूल स्तनों का आलिंगन करने वाले सूर्य रूपी विट से संयुक्त विलासिनी स्त्रीकी तरह संध्या मद पी लेने के कारण ही मानों पाटल (ईषद् रक्त) वर्ण वाली हो गई।"[2]

संध्या की लालिमा के कारण पिंगल वर्ण को प्राप्त चक्रवाकों के वर्णन में कवि ने सुन्दर कल्पना की योजना की है।

"फैलती हुई कपिल वर्ण वाली संध्या की लालिमा से संयुक्त पिंगल वर्ण वाले चक्रवाक ऐसे मालूम पड़ते थे मानों उन्होंने समयवशात् (सायंकाल होने से) होने वाले अपनी प्रियाओं में वियोग को उन्हीं में हृदय के अनुरक्त होने के कारण न सहकर विषाद से जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर लिया हो।"[3]

रात्रि

अन्धकाराच्छन्न रात्रि का वर्णन करते हुए कवि ने रात्रि में विटों और अभिसारिकाओं के अभिसरण हेतु गमन का वर्णन किया है।

"विलासिनी स्त्री के केशों की शोभा के विलास की तरह अंधकार ने आकाश

१- "शिशिरामभुनक्तमालवीथींहृतमध्यंदिनभानुभाप्रवेशाम्।
वसुधामधिशिश्यिरे महिष्यः कृतरोमन्थनवक्त्रमुक्तफेनाः॥"
—पार्श्व०, ५।७१।

२- "गिरिपृथुलकुचोपगूढभास्वद्विटवपुरुद्धविलासिनीव संध्या।
कवलितपृथुवारुणीप्रभावादिव परिपाटलदर्शना बभूव॥" —वही, ६।५८।

३- "कृतसमयमसंगं प्रेयसीखर्वसोढुं तदनुगहृदयत्वादक्षमाश्चक्रवाकाः।
विविशुरिव विषादादुज्ज्वलन्तं कृशानुं प्रसृतकपिलसंध्यारागसंपर्कपिंगाः॥"
—वही, ६।५९।

में लोगों को भ्रमरों से युक्त मत्त हाथियों के गण्डस्थल से चूते हुए मद के भ्रम को पैदा कर दिया। अत्यन्त काले अंधकार से राजमार्ग के ढक जाने पर भी अभिसारिकायें पूर्वनिश्चित अभिमत स्थान को कामदेवरूपी मन्त्री के उपदेश के सहारे स्वयं चली गईं। कुलटा स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा से काले वस्त्र को पहने हुए, छिपे-छिपे चलने वाले, मल्लिकापुष्पों की माला के धारक विट लोग अंधकाराच्छन्न रात्रि में भी भ्रमरों के शब्द-कोलाहल से जान लिये जाते थे।[1]"

पर्वत

पार्श्वनाथचरित में वादिराज ने पर्वतों का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। कवि ने भूताचल पर्वत का भयानक एवं आह्लादक दोनों रूपों में वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि कहता है—

"यहाँ से दस योजन दूर भूताचल नाम का वह प्रसिद्ध पर्वत है, जिसकी अत्यन्त उन्नत चोटी के अग्र भाग को सूर्य भी बड़ी कठिनाई से पार कर पाता है। जो पर्वत चोटी से निकलते हुए झरनों से मनोज्ञ हार वाली (मुक्ता से युक्त झरने के समान सुन्दर हार वाली) भुजा के समान लताओं के अग्र भाग में स्थित नागरूपी मुद्रा वाली) भुजा के समान लताओं के अग्र भाग में स्थित नागचिह्न वाली) विलास भार से युक्त, बड़े-बड़े गण्डशैलवाली (वृहत् नितम्बों वाली) मनोरम भित्तियों को धारण करता है। जो पर्वत झरनों के शुभ्र जलों से ग्रीष्मकाल में भी जंगली वृक्षों को अत्यन्त बढ़ाता है। क्योंकि अत्युन्नति वाले का यही कर्त्तव्य है कि वह पादाश्रितों की रक्षा करे। उस पर्वत के दोनों तरफ मेघ लटकते रहते हैं और ऊपर नक्षत्रमालायें आच्छादित रहती हैं। अतएव वह पर्वत ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों चित्रविचित्र आस्तरण को डाले हुए श्रेष्ठ हाथी हो, जिसके मस्तिष्क पर नक्षत्रमाला(रचना विशेष)

१– "व्यधत गगने तमांसि विलासिनी शिरसिजरुचिविभ्रमाणि तनूभृताम् ।
अलिवलयभृदुन्मदेभकपोलकच्युतमदवहलच्छविप्रसरद्भ्रमम् ॥
अभिमतकृतसंविदं प्रदेशं बहलतमोपिहितेऽपि राजमार्गे ।
मनसिजसचिवोपदेशदृष्टया स्वयमासनैरभिसारिकाः प्रजग्मुः ॥
कृतरुचिकुलटालिप्सयानीलवासा निभृतपदमटन्नंधकारेऽपि जज्ञे ।
निशिविटनिवहो मल्लिकामालभारी भ्रमरपटलनिध्वानकोलाहलेन ॥"
—पार्श्व० ६।६६-६८

चित्रित हो।"[1]

जो पर्वत सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जलती हुई सूर्यकान्तमणियों से अत्यन्त भयानक और चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से स्रवित होने वाली चन्द्रकान्त मणियों से अत्यन्त मनोहर लगता है। क्योंकि दोष और गुण संसर्ग से उत्पन्न होने वाले होते हैं। जिस पर्वत पर चौड़ी मछलियों के समान मनोहर (चंचल मछलियों से मनोहर), नीलोत्पल के समान शोभा से रमणीय (नीलोत्पलों की शोभा से रमणीय), पुत्तलिका से युक्त मध्य भाग वाले (तारागणों की परछाईं से युक्त मध्य भाग वाले) नेत्रों की तरह तालाब हैं। जिस पर्वत की चोटियों पर भ्रमरियों की चंचलता से गिरे हुए फूलों से भरी हुयी शय्या वाले लतागृहों में प्रियाओं के साथ अत्यधिक आनन्दित आकाशचारी विद्याधर केलि-क्रीडा करते हैं। जो पर्वत पवित्र मार्ग में वर्तमान सिंह के शब्दों से भयानक शब्दों वाले गुहा के अग्रभागों से कन्दरा के मध्य भागों में स्थित हाथियों के समूह को दूर देश में भगा रहा है। जिस पर्वत पर मारे गये जंगली हाथियों के दाँत से युक्त तथा तोड़े गये अनेक वृक्षों वाले मार्ग से शबर लोग हाथियों के शरीर के बड़े होने का अनुमान कर लेते हैं।"[2]

इस प्रकार कवि ने पर्वत के वर्णन के प्रसंग में शिखर, निर्झर, सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्त मणियों, सरोवर, लतागृह, केलि-क्रीडा, सिंह, हाथी एवं शबर आदि का वर्णन प्रस्तुत किया है।

१- "इतोऽस्ति दूरे दशयोजनान्ते भूभृत्स भूताचलनामधेयः ।
अत्युत्थितं यस्य सहस्रधामा कृच्छ्रादतिक्रामति शृंगकूटम् ।।
आमुक्तनिष्यन्दमनोज्ञहारा भुजालताग्रस्थितनागमुद्राः ।
वृहन्नितम्बाः सविलासभारा मनोरमा यश्च विभर्ति भित्तीः ।।
वनद्रुमान्निर्झरशुभ्रतोयैर्धर्मेऽपि यो वर्धयतिप्रकामम् ।
पादाश्रितानामभिरक्षणं यत् तदेव कृत्यं नु महोन्नतीनाम् ।।
यः पार्श्वभागप्रविलंबितेन विचित्रजीमूतकुथेन रात्रौ ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्धा सन्नद्धमन्वेति गजाधिराजम् ।।"
—पार्श्व०, २।६५-६८।

२- "भीमो भृशं भानुकरभिशाद् यः सूर्यकान्तैर्ज्वलितैर्मनोज्ञः ।
चन्द्रांशुपातद्रवदिन्दुकान्तैः संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।।
विलोचनानीव सरांसि यस्मिन् विवृत्तपाठीनमनोहराणि ।
नीलोत्पलश्रीरमणीयतारासारोदराण्यायतिमन्ति सन्ति ।।

नदी

सुरम्य देश के वर्णन के प्रसंग में वहाँ की नदियों का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें प्रसवोन्मुखी बालाओं के समान निर्दिष्ट करता है।

"जहाँ प्रसवोन्मुखी (पुत्रोत्पत्ति के लिए उन्मुख–फलों की उत्पत्ति में सहायता के लिए उन्मुख), श्यामांगी (तप्तकांचनवर्णा–श्याम वर्ण वाली) बालाओं की तरह नदियाँ अपने पय (दुग्ध–जल) से परिपुष्ट धान्य की वृद्धि को अपने जलजनेत्रों (कमल के समान नेत्रों–कमलरूपी नेत्रों) से देखती हैं।"[1]

"ग्रीष्मकाल में यद्यपि यहाँ की नदियों का जल सूख जाता है, किन्तु नदियों में स्फटिक पत्थर भरे होने से ऐसा मालूम पड़ता है मानों उनमें जल भरा हो।"[2]

सल्लकी वन में बहने वाली वेगवती नदी का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

"लम्बे तट रूपी जघन को धारण करती हुई, अत्यन्त मूलधन रूपी जघनों को ढकने वाले विमल जल रूप दुकूल को, सुन्दर तरंग समूहों रूपी हंस के चिह्न को धारण करने वाली, जलों (दुग्ध) से संवलित, ऋजु होने के कारण सीधे बढ़े हुए तट रूपी तल्प पर सोने वाले समस्त बाल वृक्षों को जननी की तरह पालती हुई, शीघ्रता से बड़े वेग के साथ शब्द करने वाली, समुद्र (पति) के पास जाने के लिए उद्यत, चंचल तरंग रूपी हाथों से सखी के समान तीरस्थित लताओं को खींचती हुई, सल्लकी वृक्षों के पुष्पों से कषायित मध्य भाग वाली, तट के दोनों तरफ जल परिपूर्ण करके वेगवती नदी निरन्तर बह रही है।"[3]

क्रीडन्ति वप्रेषु सह प्रियाभिर्नभश्चरा यस्य गुरुप्रमोदाः।
भृंगीगणक्षोदगलत्प्रसूनपर्याप्ततल्पेषु लतागृहेषु ॥
गुहामुखैर्गह्वरगर्भगूढं कंठीरवध्वानसुभीमशब्दैः।
यः पावने वर्त्मनि वर्तमानो मातंगयूथं कुरुते दविष्ठम् ॥
निहन्यवन्येभविषाणभाजा निर्मूलितानेकवनद्रुमेण।
मार्गेण यस्मिन् शवरैः शयूनां निबुध्यते कायमहत्त्वयोगः ॥"
—पार्श्व०, २।६६–७३।

१– "सस्यवृद्धीर्मुदा यत्र श्यामांगीः प्रसवोन्मुखीः।
आपगाः स्वपयः पुष्टाः पश्यन्तीवांबुजेक्षणैः ॥" —वही, १।४१।

२– "नद्यः स्फटिकपाषाणदीप्तिभिर्यत्र पूरितः।
वहन्तीव शुचौ शुष्कवारोऽपि बृहदंभसः ॥" —वही, १।४२।

३– "बहुमूलपिधायकं पृथुरोधो जघनस्य बिभ्रती।
विमलांबुदुकूलमायतं सुतरंगावलिहंसलांछनम् ॥"

अन्य कवियों की तरह नदी पर स्त्री का आरोप वादिराज ने भी किया है। वर्षाकाल में नदियाँ वेगपूर्वक समुद्र की ओर जाने लगी। कवि कल्पना करता है कि वे अपने पति समुद्र का विरह न सह सकने के कारण लहरों रूपी हाथों में सुपाड़ी लेकर पति की ओर जा रही हैं।[१]

वन

पार्श्वनाथचरित में सल्लकी वन का वर्णन करते हुए वादिराज ने एक ओर उसके मनोरम रूप का चित्रण किया है, तो दूसरी ओर उसके भयानक रूप का भी। श्लेषालंकार के माध्यम से समान विशेषणों वाले वृक्षों और तपस्वियों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"जहाँ पर समान आयु वाले (पक्षियों से युक्त), उन्नतकाय (बढ़े हुए), जटाओं वाले (सघन), वल्कलों को धारण किये हुए (वल्कलों वाले), वेद की शाखाओं में स्थिर (दृढ़ शाखाओं वाले) हिलती हुई दांतों की पंक्तियों वाले (मध्य में चंचल कतारों वाले) तपस्वी और वृक्ष हैं।"[२]

इसी प्रकार श्लेषानुप्राणित उपमा के द्वारा वृक्षों की उपमा श्रेष्ठ योद्धाओं से करता हुआ कवि कहता है—

"जिस वन में अपनी चंचलता से ऊँची आवाज वाले, नवजीव वृक्षों पर घूमते हुए भ्रमरों वाले (नवीन-नवीन प्राणियों के लिए घूमते हुए वाणधारी), फूलों के गुच्छों रूप ध्वजा वाले (फूलों के गुच्छों के समान ध्वजा वाले) रण में अग्रेसर योद्धाओं के समान वृक्ष हैं।"[३]

परिपुष्पयोभिरूर्जितं जननीवाखिलबालशाखिनः।
ऋजुवृत्ततया क्रमोन्नतां घटयन्तो तटतल्पशायिनः॥
त्वरयेव सवेगनिस्वना चलितुं भर्तृसमीपमुद्यताः।
तरलांगतरंगपाणिभिः कृषती तीरलताः सखीरिव॥
अभितस्तटमंबु सल्लकीतरुनिर्यासकषायितोदरम्।
प्रतिपूर्य वहत्यनारतं विषमा वेगवती च यन्नदी॥" —पार्श्व० ३।३४-३७।

१- "विरहासहनादिवांबुवाहे मुहुरावर्षति पर्वतावतीर्णाः।
पतिमभ्ययुरापगाः प्रवेगाल्लहरीहस्तगृहीतपूगपात्राः॥" —वही, ५।८८।

२- "जटिलापरिवीतवल्कलाः स्थिरशाखाश्चलदन्तपंक्तयः।
तरवः सवयो विवृद्धयो विदिता यत्र तपोभृतोऽथवा॥" —वही, ३।१६।

३- "निजचापलतारनिस्वना नवजीवापसरच्छिलीमुखाः।
कुसुमस्तवकध्वजोद्वहा रणधुर्या इव यत्र शाखिनः॥" —वही, ३।२०।

आगे वनवृक्षों और जंगली पशुओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"जिस वन में अतिशय स्वाभाविक सुगंधि वाले चन्दन के वृक्ष हाथियों के द्वारा तोड़ डाले गये हैं। अतः ऊँची साँस लेकर भ्रमर सोच रहा है कि रसिक का गुण वैसा ही होता है। जहाँ उत्पन्न शाल्मलीवृक्ष कोटरों में स्थित पक्षियों की ध्वनियों के द्वारा पवन से चंचल शाखा के तीक्ष्ण काँटों से चुभे हुए अतएव व्यथित होकर मानों रो रहे हैं। जंगली हथिनियों के मदजल से सुगंधित, बहुत समय से बढ़े हुए सप्तच्छदवृक्ष अपने द्विगुणित सौरभ को भ्रमरों से शोभायमान पुष्पों में धारण करते हैं। अनेक प्रकार की पुरानी-पुरानी लताओं से आवृत नाना प्रकार के वृक्षों से सघन उस वन में कानों को सुखद शब्द बोलने वाले भ्रमर ही प्रवेश कर पाते हैं, गुण (धनुष की डोरी माधुर्य आदि गुण) से रहित शिलीमुख (वाण-भ्रमर) प्रवेश नहीं कर पाते हैं।"[1]

"चन्दन के वृक्षों पर साँप लिपटे रहते हैं। कवि कल्पना करता है कि वे चन्दनलताओं से आलिंगन करने की इच्छा से लिपटे हैं। कवि कहता है—

"जिस समय में नवीन पल्लवों से आछन्न सुगन्धित चन्दनलताओं की कतारें फण एवं मद से युक्त भोगियों (विलासियों-सर्पों) से आलिगन की वुद्धि से ही मानों सेवित होती हैं।"[2]

परिसंख्या अलंकार के माध्यम से कवि कहता है कि उस जंगल में वृक्षों को ही सत्पथ में उन्नति है, जंगली मनुष्यों की नहीं।

"जिस जंगल में नवीन वाण वृक्षों से युक्त, जमीन में उगे हुए, टेढ़े-मेढ़े

१– "अतिसर्गनिसर्गसौरभं करिभग्नं खलु यत्र चन्दनम् ।
अनुशोचति निश्वसन्नली न रसज्ञस्य गुणो न तादृशः ।।
सुषिरस्थशकुन्तसंततध्वनिभिर्यद्भवशाल्मलीकुजैः ।
व्यथयेव विरुद्यते मरुच्चलशाखाशितकंटकाहतैः ।।
वनदन्तिमदांवुवासिता वितता यद्विषमच्छदाश्चिरम् ।
कुसुमेषु तदीयसौरभं द्विगुणं विभ्रति भृंगपेशलम् ।।
यदनेकविधैरनोकहैर्निविडं भूरिजरल्लतावृतैः ।
श्रुतिरम्यरवाश्शिलीमुखा निविशन्ते न परे गुणच्युताः ।।"
—पार्श्व०, ३।२१-२४।

२– "सुरभिर्नवपल्लवास्तरा सवया यद्वनचन्दनावलिः ।
परिरम्भतयेव भोगिभिर्नवनागैः समदैस्तु भुज्यते ।।" —वही, ३।२५।

स्कन्धों वाले, पक्षियों के शब्दो से व्याप्त पत्तों वाले वृक्ष सत्पथ (आकाश) में उन्नति (ऊंचाई) को प्राप्त करते हैं। किन्तु नवीन-नवीन वाणों से युक्त नीच जाति वाले, विकटनेत्रों तथा अंगभंग वाले, माँस-भक्षण करने वाले जंगली मनुष्य सत्पथ (श्रेष्ठ मार्ग) में उन्नति को नहीं करते हैं।"[१]

यमकालंकार के माध्यम से वन का मादक वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"जिस जंगल की सदा झुकी हुई सुगंधित फूलों वाली लतायें भ्रमरों को अत्यधिक मद प्रदान करती हैं और हाथियों का सुगंधित मदमत्त कर्णचालन भी भ्रमरों को मद प्रदान करता है।"[२]

अजगरों की भयानकता का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि--

"खुले हुए अजगर के मुख को पर्वत की गुफा समझकर प्रविष्ट होता हुआ हाथी निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व अनर्थ का कारण है।"[३]

इसी प्रकार सल्लकी वन के वर्णन में तिलकवृक्ष, सरलवृक्ष, लवलीलता, कोद्रवधान्य आदि के साथ सिंह, मणिधारी सर्प, दावानल और शवर आदि का वर्णन किया गया है।[४]

आश्रम भूमि

भूताचल पर्वत पर स्थित तपस्वियों के आश्रम का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण पार्श्वनाथचरित में हुआ है।

भूताचल पर्वत के समीप वृक्षों की कतार से रमणीय तपस्वियों की आश्रम भूमि है। जो आश्रम भूमि प्रतिदिन होम के धुंओं से आकाश में नवीन मेघ की शोभा का विस्तार करती है। जहाँ अपने मध्य भाग के समान गुण से वश में हो गई मुनियों की मुग्ध (रति को न जानने वाली) कन्यायें कुच के समान फलशों से

१- "नववाणयुता: कुजातयो विकटाक्षा विकला: पलाशिन: ।
प्रतिविभ्रति सत्पथोन्नतिं तरवो यत्र न वन्यमानवा: ।।" —पार्श्व०, ३।२६।

२- "वितनोति षडंध्रये भृशं प्रमदं यस्य सदा नता लता ।
सुरभिप्रसवाऽथ दन्तिनामपि भूनाथ, सदानतालता ।।" —वही, ३।२७।

३- "विवृताजगरस्यगह्वरं प्रविशन्नद्रिगुहाधिया द्विप: ।
ध्रुवमंचति यत्र पंचतां ननु मिथ्यात्वमनर्थकारणम् ।।" —वही, ३।३२।

४- द्र०—वही, ३।२८-३१।

तीनों समय जल सिंचन करके लता और वृक्षों को बढ़ाती हैं। जिस आश्रम में शिक्षा प्राप्त वानरगण स्वाभाविक चंचलता को छोड़कर तपस्वियों की आज्ञा से अंधों के हाथों की लकड़ियों को पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। द्विजों के रहस्य ग्रन्थों (वेदों) के बाद पिंजड़ों में रहने वाले शुक शारिकाओं का कर्णरसायन (सुनने में मधुर) अनुवाद सुनाई पड़ता है।"[1]

नगर

वादिराज ने नगर की स्थिति का बड़ा ही व्यवस्थित चित्रण किया है। पोदनपुर नगर के वर्णन में कवि ने उसके प्राकार, परिखा, गलियां, उद्यान, प्रासाद, भवन, दुकान एवं विद्यालय-न्यायालय आदि का वर्णन किया है।

प्राकार : पोदनपुर नगर के प्राकार का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"जिस नगर में चमकते हुए रत्नों से युक्त प्रकाशमान प्राकार (परकोटा) है। यह प्रकार ऐसा मालूम पड़ता है मानों नगर की रक्षा के लिए घूमता हुआ राजा का प्रताप ही हो। जिसके लाल स्तम्भों पर जड़े हुए रत्नों की किरणों से संयुक्त द्वार में प्रवेश करने वाले व्यक्ति कुंकुम से लिप्त की तरह जान पड़ते हैं।"[2]

अश्वपुर नगर के प्राकार की ऊंचाई का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

१– "तस्योपकण्ठे वनराजिरम्या तपोभृतामाश्रमभूमिरस्ति।
या प्रत्यहंव्योमनिहोमधूमैर्नवांबुवाहश्रियमातनोति॥
कुचोपमेयैः कलशैस्त्रियसंध्यं पयः क्षरन्त्यो प्रतिमुग्धकन्याः।
स्वमध्यसादृश्यगुणेन वश्या लताद्रुमं यत्र विवर्धयन्ति॥
शाखामृगा यत्र गृहीतशिक्षा नैसर्गिकं चापलमुत्सृजन्तः।
कृषन्ति मार्गाय नियोगदृष्ट्या तपोभृतामंधकहस्तयष्टीः॥
द्विजैरहस्याध्ययनस्य पश्चादनंतरं पंजरवासितानाम्।
यत्रानुवादः शुककशारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायनश्रीः॥
—पार्श्व० २।७४-७७।

२– "दीप्तरत्नमयो यत्र प्राकारो भाति भासुरः।
पर्यटन् पुरगुप्त्यर्थं प्रताप इव भूपतेः॥
अरुणस्तंभरत्नांशौ द्वारि यत्र प्रवेशिनाम्।
मनुजः कुंकुमाल्लिप्तादितरो न विभिद्यते॥" —पार्श्व० १।४६-५।

"उस नगर का प्राकार इतना ऊंचा था कि उसके अग्रभाग में लगे हुए रत्नों की किरणों से संयुक्त मेघ वर्षाकाल न होने पर भी लोगों को नाना वर्णों वाले इन्द्रधनुष का सन्देह करा देता था।"[1]

जलाशय : प्राकार के चौतरफा खोदे गये जलाशय का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

"जहाँ खोदे गये जलाशय के मोतियों की कान्ति से प्रकाशित तट पर स्नान करेने के बाद शीतलता का अनुभव करने वाले लोग उष्ण स्पर्श के कारण उसे अग्नि समझ लेते हैं। खोदे गये जलाशय के परिवेश वाले प्राकार के शिखर पर जड़े हुए रत्नों की किरणें सालवृक्ष के पल्लवों की तरह सुशोभित होती हैं।"[2]

मुख्य द्वार : नगर के मुख्य द्वार की उन्नतता के वर्णन में कवि ने अत्यन्त उत्कृष्ट कल्पना की है।

"जिस नगर के मुख्य द्वार के मूल के अग्र भाग से विदीर्ण, मानों व्यथा के कारण शब्द करने वाले (गड़गड़ाने वाले) रसिक लोग (मेघ) समय पर (वर्षा ऋतु) में अपने जीवन (जल) को छोड़ देते हैं।"[3] अर्थात् जिस प्रकार शूल से विदीर्ण होने पर व्यथा के कारण चिल्लाते हुए रसिक लोग अपने प्राणों को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार मुख्य द्वार के उन्नत होने के कारण मेघ उससे टकराकर वर्षाऋतु में पानी बरसाने लगते हैं।

गलियां : पोदनपुर नगर की गलियां अत्यन्त चौड़ी थीं। अतएव उनमें चन्द्रमा का प्रकाश आसानी से पहुंच जाता था। उसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"जिस प्रकार रात्रि के प्रारम्भ में रागी पुरुष पूर्ण कुंभ के समान स्तनों वाली, सुगंधित द्रव्यों से सुशोभित वेश्याओं का अपने करों से स्पर्श करता है।

१– "यदीयसालोच्छ्रितभित्तिमस्तकस्फुरन्मणिव्रातशिखाग्रचुम्बिताः।
वहन्त्यवर्षासमयेऽपि वारिदा विभक्तवर्णामरचापविभ्रमम्॥—पार्श्व०, ४।५६।

२– "यस्य खातांभसि स्नाताः स्फुरन्माणिक्यदीधितौ।
स्पर्शेनोष्णेन वुध्यन्ते तटे शीतालवोऽनलम्॥
शिखरप्रोतरत्नानां खातांबुपरिवेषिणः।
यस्य सालस्य शोभन्ते पल्लवा इव रश्मयः॥" --वही, १।५१-५२।

३– "यस्य गोपुरशूलाग्रदारितास्सव्यथा इव।
रसन्तो रसदाः काले निजः मुंचन्ति जीवनम्॥" —वही, १।५३।

उसी प्रकार पूर्ण कुंभ रूपी स्तनों वाली, मालाओं से व्याप्त उस नगर की गलियों का चन्द्रमा अपने करों (किरणों) से स्पर्श करता है।"[1]

चन्द्रमा का रागी पुरुष और गलियों का वेश्याओं के रूप में चित्रण करके कवि ने उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है।

गृहाराम : नगर में मनोरंजन के लिए गृहाराम बनाये जाते थे। गृहाराम का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

"जिस नगर के गृहाराम में भ्रमरगण वृक्षों के सुगंधित कुसुमों का और घर में प्रेमी लोग स्त्रियों के मुखों (अधरों) का आस्वादन करते थे।"[2]

दुकान : मणियों की दुकानों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

"उस नगर में खरीदने योग्य मणियों की किरणों से व्याप्त दुकानें ऐसी मालूम पड़ती थीं मानो बालसूर्य ने आकाश में जाने के लिए कलेवा (पाथेय) की इच्छा से उन्हें प्राप्त किया हो।"[3]

प्रासाद, भवन : चित्रविचित्र मणिजड़ित प्रासादों का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

"जिस नगर में वेदी के ऊपर जुड़े हुए रत्नों की प्रभा से पाण्डुर वर्ण वाले प्रासाद इन्द्रधनुष से युक्त मेघ के विलास को धारण करते हैं।"[4]

पोदनपुर नगर के समृद्ध भवनों का उदात्त वर्णन करते हुए कहता है—

"जिस नगर में घरों के ऊपर अग्रभाग में लगे हुए रत्नों की प्रकाशमान किरणें दिन में भी देखने वालों के मन में तारागणों की शंका उत्पन्न कर देती हैं। जहाँ इन्द्रनीलमणि से निर्मित गृहों की दीवालों के पास उपस्थित काञ्चनवर्ण वाली स्त्रियाँ कृष्ण मेघों के पास उपस्थित विजली की तरह सुशोभित होती हैं।"[5]

१– "पूर्णकुंभस्तनीर्यस्यालीढमाल्या निशामुखे।
वेश्या इव करै रागी रथ्याः स्पृशति चन्द्रमाः॥" —पार्श्व०, १।५४

२– "कुसुमानि सुगंधीनि निष्कुटे यस्य वीरुधाम्।
पिबन्ति भ्रमराः स्त्रीणां गृहे वक्त्राणि वल्लभाः॥" —वही, १।५५।

३– "आस्तीर्णा विपणिर्यत्र क्रय्यमाणिक्यरोचिषा।
प्राप्ता बालातपेनेव व्योमपाथेयलिप्सया॥" —वही, १।६०।

४– "वेदी रत्नप्रभोत्कीर्णाः प्रासादाः यत्र पाण्डुराः।
सेन्द्रचापशरन्मेघविभ्रमं साधु बिभ्रते॥" —वही, १।५८।

५– "गृहाग्रोन्नतरत्नानां स्फुरन्त्यो रश्मिसूचयः।
दिवाऽपि यत्र कुर्वन्ति शंकामुल्कासु पश्यताम्॥"

इसी प्रकार अश्वपुर के भवनों का वर्णन भी द्रष्टव्य है—"जिस नगर में गगनचुम्बी स्फटिक-निर्मित भवनों के अग्रभाग में अच्छी तरह जुड़ी हुई अत्यन्त चमकने वाली मणियाँ दिन में भी मनुष्यों को उदित हुए नक्षत्रसमूह के विलास को उत्पन्न करती हैं। जिस नगर के भवनों में प्रदीप के तेज को रोकने वाली मरकत-मणिमय स्तंभों की कान्तियाँ नवोढा स्त्रियों की रतिकालीन लज्जा को रात्रि के समय दूर करती हैं।"[1]

पताका : भवनों पर लगी हुई पताकाओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"उस नगर में भवनों के ऊपर लगी हुई पीत वर्ण की कान्ति वाली पताकायें मेघों से रहित आकाश में क्षणभर के लिए बिजली के विलास को पैदा कर देती है।"[2]

इस प्रकार नगर के उक्त वर्णनीय विषयों के अतिरिक्त वादिराज ने अश्वपुर नगर के वर्णन में समस्त प्राणियों के सन्ताप को दूर करने वाली नदी, विद्यालय, न्यायालय एवं नगरोचित स्थिति की धारक वेश्याओं आदि का भी चित्रण किया है।"[3] उक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि वादिराज ने नगर का सांगोपांग वर्णन किया है।

जलक्रीड़ा

चक्रवर्ती वज्रनाभ की रानियाँ जब स्वच्छ सरोवर के तट पर पहुंची, उसी

यत्रेन्द्रनीलनिर्माणगृहभित्तीरुपस्थिता: ।
हेमवर्णास्त्रियो भान्ति कालाब्दानिव विद्युत: ॥ —पार्श्व०, १।५९, ६१।

१- "नभोनिमस्फाटिकसौधकोटिषु स्थिरं पित्तद्धा मणय: प्रभास्वरा: ।
दिवापि यस्मिन् जनयन्ति देहिनानुदीर्णनक्षत्रसमूहविभ्रमम् ॥
हरिन्मणिस्तंभसमुद्भवा रुच: प्रदीपधामप्रतिरोधहेतव: ।
गृहेषु यत्राभिनवोढयोषितां हरन्ति रात्रौ सुरतोत्सवह्रियम् ॥"
—वही, ४।६२-६३।

२- "भवनोत्तंभिता यत्र पताका: पीतभासुरा: ।
भावयत्यघने व्योम्नि क्षणदीधितिविभ्रमम् ॥" —वही, १।६२।

३- "अनारतं यद्वनवत्सवत्सलं निरस्तसर्वासुमदापदापगम् ।
चकास्ति विद्याविनयालयालयं पवित्रचर्यापवमानमानदम् ॥
वृहन्नितंबा: मणिमेखलाभृतश्चिरायत्र स्थितिमत्पयोधरा: ।
वहन्ति वेश्या नगरोचितस्थितिं भुजंगभोगांचितगंडभित्तय: ॥"
—वही, ४।६०, ६५।

समय जलक्रीड़ा का वर्णन किया गया है। पार्श्वनाथचरित में जलक्रीड़ा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। कवि कहता है—

"किसी व्यक्ति नें जल में प्रविष्ट होकर किसी स्त्री के मुख की तरफ जल फेंका। किन्तु उस जल ने अपने स्वभाव के विपरीत दूसरी स्त्री के हृदय में मात्सर्य रूपी अग्नि के ईंधन का काम किया। क्या इस कमल में भी सुगंधि है? ऐसा कहते हुए किसी पुरुष ने जल से आच्छादित शरीर वाली मुग्धा स्त्री को ठगकर गंध सूंघने के वहाने दूसरी स्त्री का चुम्बन कर लिया। काम से अनभिज्ञ किसी स्त्री ने अपने स्तनों के ऊपर बड़े–बड़े कमल–कुड्मल लगा लिये। अतएव उसके पति ने उसे रतोत्सव के समय अभीष्ट फल देने वाली कामधेनु समझा। स्थान स्थान पर जल में विस्तृत अपने अधरोष्ठ की परछाहीं देखकर कोई स्त्री उसे फैले हुए रक्त कमलों की शका से पकड़ने की चेष्टा करने लगी। नवीन अहंकार के साथ काम को जानने वाली कोई स्त्री सूक्ष्म वस्त्र के कारण साफ दिखाई देने वाली जंघाओं को पति से छुपाने के लिए स्तनों पर्यन्त गहरे स्वच्छ पानी में घुस गई। रक्त करकमलों और नयनाभिराम शरीर को धारण करने वाली कोई मृगनयनी लक्ष्मी के समान कमलवन में इधर-उधर लीलापूर्वक फिरने लगी।" जल में वस्त्ररहित दोनों जंघाओं को पति के देखने की इच्छा करने पर मेंढक की तरह कूदने में चतुर किसी विदग्धा स्त्री ने जल को कलुषित कर दिया।"[1]

१– "कस्याश्चिदंभः प्रथमं प्रविश्य प्रियेण वक्त्राभिमुखं प्रयुक्तम्।
स्वजात्ययोग्यं वत मत्सराग्नेरन्याशये त्विंधनताभिप्राय॥
पद्मे किमत्रापि सुगंधतेति मुग्धांगनां कश्चन वंचयित्वा।
तद्गंधयत्नेन चुचुंब वक्त्रं निगूढकायं पयसापरस्याः॥
आदिस्तनोत्संगमगंगमुग्धया न्यधायिपातां पृथुपद्मकुड्मले।
अबुध्यतैनां सुरभि रतोत्सवे चतुःस्तनीकामदुधामिव प्रियः॥
गृहीतमंभः प्रसरं पदे पदे निरूप्य तस्मिन् दशनच्छदच्छविम्।
करेण काचिद् व्रणुनोदजालिका प्रकीर्णशोणांवुजपत्रशंकया॥
आः किं न सूक्ष्मं वरदर्शनीयं प्रियस्य दृष्टिर्जघनं निषेद्धुम्।
आगच्छदच्छं कुचदघ्नमंभः काचिन्नवाहंकृतज्ञातकामा॥
करांवुजे रागवती दधाना वपुश्च पुंसां नयनाभिरामम्।
लक्ष्मीरिवावर्तत लीलयैका ततस्ततः पद्मवने मृगाक्षीः॥"
—पार्श्व० ८।५०–५६।

आगे जल में तैरती हुई किसी स्त्री को जलदेवता के समान चित्रित करते हुए कवि ने अत्यन्त मनोरम एव कामोत्पादक रतिक्रीडा का अनेक तरह से वर्णन किया हैं।[1]

रतिक्रीड़ा

रतिक्रीड़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"दृढ़तर आलिंगन के बहाने से कटि को खिन्न करने वाले युवकों के ऊपर प्रसन्न हुई के समान कृशांगी नत भौंहों वाली स्त्रियाँ अधर-मधु का विस्तार करने लगी। शृंगार रस की क्रिया कराने में गुरु, मदिरा के मद के अत्यन्त प्रेमी अत्यन्त तालयोजना से शोभायमान कामदेव ने वधु और वरों को निधुवनरति रूपी नृत्य कर्म में लगा दिया।"[2]

विपरीत रति का भी वर्णन वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में किया है—

"पुरुषायित (पुरुष के समान) क्रिया करने के कारण हिलते हुए कुच रूपी कुंभों से मुक्त प्रियाओं के मूर्तिमान् रस के समान पसीना की बूंदों से लथपथ वाम-लोचनाओं ने वक्षस्थलों को क्लिन्न कर डाला।"[1]

मदिरापान

रतिक्रीड़ा में कामोद्दीपन के लिए कवि ने मदिरापान का वर्णन किया है। कवि का यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। कवि कहता है—

"प्रासाद के ऊपर कामातुर युवतियाँ लीला से नेत्रकमलों को चंचल कर देने वाले, चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित, मद को बढ़ाने वाले मद्य का पान करने लगी। पुन: युवकगण उनके मद्यविशिष्ट मुख का पान करने लगे। शराव में अपने प्रतिबिंब को देखकर कोई कठोर स्तनों वाली नायिका ऐसा सोचने लगी कि शराव ने मुझे पी लिया है अथवा राग के कारण मैंने शराव को पी लिया है। अत्यधिक पान कर लेने के कारण नहीं चाहने वाले अपने प्रिय को उद्देश्य कर उत्कट सुगंधि वाली कोई नायिका पहले सो गई और फिर उस चतुर नायिका ने अधरबिंब को दिखलाकर उसे स्पृहयालु बना दिया। रात्रि में उदित हुआ चन्द्रमा मृगनयनियों के मुख के साथ

१– द्र० पार्श्वनाथचरित, ८।५७-५८।

२– "दृढतरपरिरंभणच्छलेन यूनां कुचभरमुद्वहतामिव प्रसन्नाः ।
अधरमधु नतभ्रुवो वितेनुस्तनुतनवस्तनुमध्यखेदहेतुम् ॥
वधूवरान्मधुमदनिचुलप्रियः स्मरो मुदा भरतरसक्रियागुरुः ।
अयोजयन्निधुवननृत्यकर्मणा समुल्लसद्गुरलतालयोजनः ॥"

—पार्श्व०, ६।१०६-११०।

मणिमय पात्र में रखे हुए मदिराजल में मिलता हुआ, अत्यधिक राग वाले निर्मल अन्त:करण में प्रतिबिंब रूप से प्राप्त होकर सफल बन्धुता को करते हुए लौटने लगा। निश्चय ही प्रेमी-प्रेमिकाओं को कंठ रूपी गुफा से शराब की मदशक्ति को ग्रहण कर उत्पन्न हुई गीतमयी श्रुति को प्राप्त सरस्वती ने लोगों को मोहित कर दिया। अर्थात् लोग शराब पीकर गाने लगे और उनके गानों से सभी लोग मुग्ध हो गये।"[१]

पुत्रजन्मोत्सव

किसी महापुरुष का जन्म लोककल्याण के लिए होता है। अतएव उसके जन्म से जितनी प्रसन्नता माता-पिता आदि पारिवारिक जनों को होती है, उससे कहीं अधिक नगरनिवासियों एवं अन्य जनसमुदाय के लिए भी। महापुरुष की उत्पत्ति प्रकृति में भी परिवर्तन कर देती है। उसके जन्म के साथ ही शीतल-मन्द पवन बहने लगती है। महाकवि वादिराज ने चक्रवर्ती वज्रनाभ के जन्म का अत्यन्त आह्लादक वर्णन प्रस्तुत किया है। प्राकृतिक मनोहर वातावरण के वर्णन के अनन्तर दासी द्वारा पुत्रजन्म का समाचार सुनकर राजा वज्रवीर्य के अपार आनन्द का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"चेटी के मनोहर वचन सुनकर राजा को जो प्रसन्नता हुई उसको 'इतनी है' ऐसा मैं जानता हूं, किन्तु वे शब्द नहीं जिनसे उसे वर्णित कर सकूं। राजा ने अनेक वस्त्राभूषणों के द्वारा ब्राह्मणों, दीनमनुष्यों और चेटी को

१– "लीलाविलोलनयनोत्पलभृंति सौधशृंगे शशांकरुचिमंति मदोपक्लृंति।
कामातुरा युवतयः स्वधयन्मधूनि तासां मुखानि समखानि पुनर्युवानः॥
अवेक्ष्य मूर्तिमधुनि स्वकामिति व्यतर्कयत्काचन कर्कशस्तनी।
अहं निपीतास्मि किमंग हालया मयैव रागात्प्रतिपासितव्यया॥
अतिपानविधेरगृघ्नुमेका प्रियमुद्दामसुगंधिकापि शेये।
अधरप्रतिबिंबदर्शनेन स्पृहयालुं विदधे पुनर्विदग्धा॥
हरिणदृशां मुखैः सह निशोदितशीतरुचिरफलदंफल्गुबांधवमीभिरभात्।
यदयं मणिमयभाजनस्थमदिराभृतवारि मिलन्नलुठदनल्परागसुहृदिप्रतिबिंबतः॥
ध्रुवं वधूवल्लभकंठगह्वराद् गृहीतहालामदशक्तिरुद्गता।
विमोहनं देहभृतां व्यधत्त तत्सरस्वती गीतमयीं श्रुतिं गता॥
—पार्श्व०, ६।१०४-१०८।

संतुष्ट करके कारागार में बन्दी कैदियों को छोड़कर महान् उत्सव किया।"[१]

पुत्रजन्म की प्रसन्नता से समस्त अश्वपुर का वातावरण खिल उठा। कवि अश्वपुर की अंगनाओं के आनन्द का वर्णन करते हुए कहता है—

"कुंकुमयुक्त जल में स्नान करने से लाल वर्ण वाली, राजपुत्ररूपी चन्द्रमा के उदय से बढ़े हुए रागरूपी सागर में अत्यन्त निमग्न अंगनायें खेलकूद करने लगीं। उन्होंने अनेक पिचकारियों से आकाश में जपा-पुष्प के समान लाल वर्ण वाले कुंकुम जलों को छोड़ा। अतएव आकाश लोगों को असमय में उपस्थित संध्याकालीन मेघों का भ्रम कराने लगा। जल से भरी हुई झाड़ी (भृंगार) को हाथ में लेकर वेश्यायें शीघ्र ही अपने नर्मबन्धुओं (भडुओं) के पास पहुंच गईं। जलार्द्र महीन वस्त्र से दिखाई देने वाली उनकी जंघाओं को लोगों ने अत्यन्त कौतुक के साथ देखा। जल से भीगे हुए उत्तरीय वस्त्र को देखकर कोई विलासिनी स्त्री लज्जा से स्तनों की ओर देखने लगी। वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानों स्तनों पर नील वस्त्र डाल रही हो। किसी एक स्त्री ने कुंकुम से पंकिल पृथिवी तल पर गिरते हुए किसी पुरुष को स्तनों के पीडनपूर्वक आलिंगन करके उठा लिया। अतएव उस पुरुष ने अपने को धन्य समझा। सुन्दरी गोपियां मनोहर कीचक के शब्दों से प्रतिध्वनित मृदु गीत गाने लगीं। उनके मुख की गंध की तरफ जाने वाले भ्रमरों ने स्वर से स्वर मिलाते हुए गीत गाया। बड़े हर्ष के साथ लास्यक्रीड़ा को करने वाली कुछ स्त्रियों के अंक से वस्त्र गिर गया। अतएव उन वृद्ध स्त्रियों को देखकर लोग हँसने लगे।"[२]

१- "असिक्निकाया वचनं मनोहरं निशम्य या प्रीतिरभून्महीभुजः।
इयत्तया तां प्रतिवेद्मि किंतु ते न सन्ति शब्दाः कथयामि यैस्तथा॥"
अनेकवस्त्राभरणैर्विशांपतिः प्रतोष्य चेटीं द्विजदीनमानवैः।
विमुच्य जीवानपि बंधनास्थितां चकार तस्मिन्नगरे महोत्सव॥"
—पार्श्व०,४।१२५-१२६।

२- "सकुंकुमांवुव्यतिलेकशोणिता विभेजुराक्रीडनमंगनाजनाः।
नृपात्यजेन्दोरुदयेन वर्धिते भृशं निमग्ना इव रागसागरे॥
अनेकयंत्रच्युतकुंकुमांवुभिर्जपातुवर्णं प्रविकीर्णमंबरम्।
अधत्त तस्मिन् समये तनूभृतामकालसंध्याघनपंक्तिविभ्रमम्॥
सवारिभृंगारकरा वरांगनाः स्वनर्मबन्धून् प्रति सत्वरं गताः।
जलार्द्रसूक्ष्मांबरदर्शितोरवो जनैर्विलोक्यन्त विवृद्धकौतुकैः॥

इसी तरह राजमार्ग की अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई कुछ स्त्रियों के आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने गीत गाने आदि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

"अश्वपुर नगर के राजमार्ग पर राजा को देखकर अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई कुछ स्त्रियाँ अत्यन्त मधुर गान करने लगीं और कटाक्षों से अमृत की तरंगों को छोड़ती हुई नृत्य करने लगीं ।"[1]

जिनमन्दिर

जैन काव्यों में प्रायः जिनमन्दिरों का वर्णन उपलब्ध होता है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में जैनमन्दिर में वज रहे वाद्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जैनमन्दिरों में दिन के समाप्त हो जाने पर अर्थात् सायंकाल में विभिन्न प्रकार के भेरी आदि वाद्यों के शब्दों को सुनकर पुण्यवेला समझकर राजा ने अन्य राजाओं के साथ हाथ जोड़कर नमस्कार किया ।"[2]

युद्ध

पार्श्वनाथचरित में चक्रवर्ती वज्रनाभ की दिग्विजय और राजा अरविन्द द्वारा वज्रवीर के ऊपर चढ़ाई करने के प्रसंग में युद्ध का वर्णन देखने को मिलता है। राजा अरविन्द के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

आलोकयन्ती स्तनयोर्विलासिनी विषक्तदंभश्छुरितोत्तरच्छदम् ।
अवाकिरल्लोचनदीधितिं तयोरवाग्मुखी नीलपटीमिव ह्रिया ॥
अनुध्रितक्लेदनिमित्तमेकया पतन्धवः कुंकुमपंकिले तले ।
कृतार्थमात्मानमवुद्ध कश्चन स्तनोपपीडं परिरम्य धारितः ॥
कृतानुवादं कलकीचकस्वनैर्जगुः सुगोप्यो मृदु तच्च गीतकम् ।
क्वणन्मुखैस्तन्मुखगंधपातिभिर्विभज्यमानं जगृहे मधुव्रतैः ॥
अवुध्यमानाः परिधानमंकतो वहिश्च्युतं काश्चन वृद्धयोषितः ।
ससंमदालास्यकृतोऽपि पश्यतां बभूवुरुद्वेलविलासहेतवः ॥"

—पार्श्व० ४।१२६-१३१

१– "क्षितिपतिमवलोक्य प्रौढहर्षातिभारा हयपुरनृपवीथी शौधटंगाधिरूढाः ।
अतिमधुरमगायन्नंगनाः काश्चिदन्याः ननृतुरमृतवीचीमीक्षणैर्दिक्षिपन्त्यः ॥
—वही, ४।१३९।

२– अनेकतूर्यप्रभवं दिनात्यये जिनेन्द्रगेहेषु निशम्य निस्वनम् ।
ननाम सम्राड् सहसा कृतांजलिस्स पुण्यवेलापिशुनं नरेश्वरैः ॥ —वही, ६।६५।

'उस बलशाली राजा ने जाते समय गुल्म (वन की झाड़ियों) को समाप्त कर डाला, कीचड़ को दूर कर दिया एवं कंटकों को उखाड़ डाला। अतएव उसने मानों वनमार्ग का प्रिय ही किया। सेना के चलने से पृथिवी की आकाश में उड़ती हुई धूलि उस राजा के तेज रूपी अग्नि के धुआं के समान जान पड़ती थी।'[1]

राजा अरविन्द और वज्रवीर के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

'राजा अरविन्द ने उद्दाम घमण्ड वाले शत्रु वज्रवीर को और उसकी सम्पत्ति को उसी तरह रौंद डाला, जिस तरह तीव्र हिमागम कमल सहित मधुप को संकुचित कर देता है। वज्रवीर के सेना के साथ नगर से बाहर निकलकर बाणों की वर्षा से उस कुत्सित अतिथि महानाथ अरविन्द का डटकर मुकाबला किया। तलवारों के संघर्षण से उद्भ्रान्त स्फुलिंग वाले बाणों के समूह से उन दोनों के युद्ध ने आकाश में बिजली के साथ मेघ के विलास को धारण किया। वज्रवीर के द्वारा भेजे गये श्यामपत्र बाण (श्यामल भ्रमर) तेज के आघात (तेज के कारण विकसित) अरविन्द महाराज (कमल) के पास नहीं पहुंच सकें। अत्यन्त पराक्रम के नाश हो जाने के कारण वज्रवीर कोमल हो गया। अतएव वह राजा अरविन्द के कठोर दण्ड को नहीं सह सका और अन्ततः विजय राजा अरविन्द को ही प्राप्त हुई।'[2]

१– "जहि गुल्ममवस्कंद पंकमुद्धर कंटकम्।
गच्छन् प्रियं व्यधत्तेव स बली वन पद्धतेः॥
भूरजः सैन्यसंपाताादुत्पपात नभःस्थलम्।
तस्य धूम इवाभ्यग्रस्तेजोवह्नेर्जवेलिप्यतः॥" —पार्श्व० १।१०४,१०६।

२– "अरौत्सीदरिमुद्दर्पं संपद्मं मधुपं तथा।
संकुचत्यत्र सम्पत्ति यथा तीव्रो हिमागमः॥
निर्गत्य वज्रवीरोऽपि सबलो नगराद् बहिः।
प्रैत्यग्रहीन्महानाथं बाणवर्षैरणातिथिम्॥
खड्गसंघट्टनोद्भ्रान्तस्फुलिंगैः शरमंडपैः।
युद्धं व्योम्नि तयोश्चक्रे सतडिन्मेघविभ्रमम्॥
प्रहिता वज्रवीरेण श्यामपत्राः शिलीमुखाः।
नारविन्दमुपासर्पन्नपि तेजो, विकस्वरम्॥
वनविक्रमसंनाहभंगान्मृदुरिवाभवत्।
स दंडमरविन्दस्य कर्कशं सोढुमक्षमः॥

षड्ऋतु

पार्श्वनाथचरित के पंचम सर्ग में युवराज वज्रनाभ को देखने की इच्छा से उपस्थित अपने-अपने समय में होने वाली बहार को लिये हुए ऋतुओं का वर्णन किया गया है। ऋतुओं का वर्णन कवि की स्वाभाविक उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत होकर ललित शब्दावली की शोभा से सहज ही पाठकों का चित्त आकर्षित कर लेता है। कविकृत ऋतुवर्णन का क्रम इस प्रकार है—हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद्।

(१) हेमन्त :

हेमन्त ऋतु के आते ही शरद् ऋतु का नाश हो जाता है। सर्वत्र ओस की बूंदें व्याप्त हो जाती हैं और वृक्षों के जीर्ण-शीर्ण पत्ते गिर जाते हैं। उक्त स्थिति का निदर्शन अपनी उत्कृष्ट कल्पनाओं से करते हुए कवि ने हेमन्त ऋतु की अन्त:स्थिति का प्रतिपादन अत्यन्त रोचक ढंग से किया है। हेमन्त का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

'हेमन्त ऋतु के आते ही आकाश में ओस की बूंदे व्याप्त हो गईं। वे ऐसे मालूम पड़ती थीं मानो अपने नाश को निकट देखकर हेमन्त ऋतु रोई है और वे उसके आँसू हैं। अपने मित्र शरद् के नाश को देखकर हंस पंखों को फैलाकर आकाश में उड़ने लगे। वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो उस समय बरसने वाला हिम है। श्लथ संधि वाले गिरते हुए वृक्षों के जीर्ण शीर्ण पत्ते ऐसे मालूम पड़ते थे मानों पाला और ठंडी पवन के झकोरों से डरकर वे पृथिवी के अन्दर छुपने के लिए जा रहे हैं।"[1]

हिम के बरसने के कारण हेमन्त ऋतु में पुष्पों के म्लान हो जाने का भय रहता है और पुष्प कामदेव के अस्त्र हैं। कवि कल्पना करता है कि इस समय कामदेव इसीलिए युवराज के महल में वामांगनाओं के मन रूपी कुटीर में जाकर रहने लगा है, क्योंकि उसे डर है कि कहीं उसके अस्त्रस्वरूप पुष्प म्लान न हों

भयेव धावतो युद्धादव्यवस्थितदिक्तया।
तस्याग्रे चारविन्दस्य जयवार्ता जवाद् ययो ॥" —पार्श्व०, १।१०७-११२।

१- "अवबुध्य निजात्ययं विषादाद् रुदितायाः शरदो हिमागमादौ।
भृशमश्रुलवैरिव प्रसस्रे हिमविन्दुप्रकरैर्वियत्यपारे ॥
शरदः सुहृदो लयेन खेदाच्चलितायाः सुतरां मरालपंक्तेः।
धुतपक्षतिनिर्विकीर्यमाणं तुहिनं तूलमिवांबरं न्यरौत्सीत् ॥
हिमशीतलवातसन्निपातादिव भीत्या श्लथसंधिजीर्णपत्रैः।
वसुधाप्रदरोदरेषु चक्रे तरुशाखाः प्रविमुच्य सन्निवेशः ॥"
—वही, ५।२७-२९।

जायें ।[1]

इस प्रकार हेमन्त ऋतु के वर्णन में कवि ने अपनी कल्पना के सामंजस्य के साथ उस समय होने वाली यथार्थ स्थिति को चित्रित किया है।

(२) शिशिर :

शिशिर ऋतु में अत्यन्त ठंड पड़ने लगती है। ऐसे समय में गरीबों और भिक्षुओं की बड़ी ही विचित्र स्थिति हो जाती कवि भिक्षुकों की स्थिति और ग्रामीण जीवन का चित्रण करते हुए कहता है—

'आपस में किड़किड़ाने के कारण शब्द करते हुए दाँतों से जाड़े के कारण कांपते हुए यज्ञ का हवन खाने वाले चिथड़े पहने हुए भिक्षुकगण दिन-रात जलती हुई अग्नि वाले घरों में शीघ्रता से प्रवेश करने लगे। प्रात:काल अधिक ठंड पड़ने के कारण कंडों (उपलों) की आग को घेरकर बछड़ों के साथ ग्वालों के लड़के हाथ पसारकर नगर के बाहर गप्पें लगाते हुए तापने लगे।'[2]

मधूकवृक्ष पुष्पित हो गये। कवि उन पर मानव का आरोप करके कहता है कि—

'रात्रि में मधूक वृक्षों ने पराधीन होने के कारण अधिक हिमपान कर लिया था, उससे अजीर्ण हो जाने के कारण वे फूलों के बहाने उसे उगल रहे हैं।'[3]

सरोवरों के तीरस्थ वृक्षों पर पक्षी चहचहा रहे हैं। कवि कल्पना करता है कि—

'हिम के कारण भग्न हुए अपने हितैषी सरोवर को अपने पत्र रूपी नेत्रों से

१- "समये हिमवर्षिणि स्वहेतिप्रसवम्लानिभयादिवांगजात्मा।
अमनागविशन्मनः कुटीरं युवराजस्य पुरे कृशोदरीणाम्॥"
—पार्श्वं०, ५।३०।

२- "इतरेतरकट्टनक्वणद्भिर्दशनैः शत्रभुजस्य शीतकंपाः।
ज्वलदग्निसदः प्रधामवह्नामविशन् कर्पटिनः संवेगमन्ते॥
शिशिरांगतया करीषजाग्निं सह वत्सैः परिवृत्य गोपडिंभाः।
व्युदतप्सत संप्रसार्य बाहून् दिवसादौ नगराद् बहिस्सजल्पाः॥"
—वही, ५।३२,३।

३- "निशि निघ्नतया हिमं निपीय प्रचुरं प्रातरिदं वपुष्यजीर्णम्।
अमन्निव वर्तुलस्थवीयं प्रसवच्छद्मतया मधूकवृक्षाः॥"
—वही, ५।३३।

देखकर प्रातःकाल तीर पर स्थित तुहिनांशु (कुमुद) आदि वृक्ष ही पक्षियों के शब्दों के माध्यम से रो रहे हैं।"[१]

शिशिर ऋतु में दिन पर्याप्त छोटे होने लगते हैं तथा शीघ्र ही सूर्यास्त हो जाता है। सूर्य क्यों शीघ्र आकाश में प्रस्थान कर गये—इस विषय में कवि की कल्पना नितान्त प्रशंसनीय है। कवि कहता है—

'उस समय अपनी प्रिया कमलिनी की तिरस्कृत दशा को सूर्य नहीं देख सका। इसीलिए वह अपने प्रताप रूपी नेत्रों को बंद करके शीघ्र ही आकाश में चला गया है।'[२]

शिशिर ऋतु का पवन गर्विणी नायिकाओं के गर्व को बलात् नष्ट कर डालता है। कवि उसका वर्णन करते हुए कहता है—

'इन दिनों वनिताओं के मानरूपी विशाल पर्वत को सूखे पत्तों के समूह के समान नष्ट करता हुआ देह की कान्ति को चुराने वाला पवन मधूक पुष्पों की गंध से संपृक्त होकर बहने लगा।"[३]

शिशिर ऋतु में लोग नये-नये कपड़ों को और ठंड बचाने योग्य कंबल अधिक खरीदने लगते हैं। व्यापारी वर्ग इस अवसर पर लाभ उठाकर कंबल की कीमतें बढ़ा देते हैं। कवि इस स्थिति का चित्रण करते हुए कहता है—

'जाड़ा पड़ने के कारण लोग आकाश के समान नये स्वच्छ वस्त्रों को खरीदने लगे। अतएव नवीन कंबलों की बिक्री ने बनियों को मूल्य से चौगुना लाभ दिया।"[४]

१– "सवयोविरुताः स्त्रपत्रनेत्रैस्तुहिनांशुप्रमुखाश्च तीरवृक्षाः।
भृशमन्वरुदन्निवात्मनीनं हिमभग्नं कमलाकरं प्रभाते॥"
—पार्श्व०, ५।३४।

२– "असहिष्णुरिवेक्षितुं नलिन्याः किल तत्कालदशागतं निकारम्।
विनिमील्य निजप्रतापनेत्रं द्युपथं धर्मरुचिर्लघु प्रतस्थे॥"
—वही, ५।३७।

३– "वनिताजनमानशल्यशैलं प्रणुदन् जीर्णमिवाशु पर्णजालम्।
प्रथमेऽह्नि देहकान्तिहारी पवमानः प्रववौ मधूकगन्धिः॥"
—वही, ५।३६।

४– "गुणमच्छतया तुषारदोषादलभन्नंबरवन्नवांबराणि।
नवकंबलविक्रयस्तु लाभं प्रददौ मूल्यचतुर्गुणं वणिग्भ्यः॥"
—वही, ५।३८।

इस प्रकार कवि ने शिशिर ऋतु का बड़ा ही यथार्थ तथा स्वाभाविक वर्णन अपनी कल्पना के रंग में रंजित करके प्रस्तुत किया है, जो पाठक के हृदय को अनुरंजित किये बिना नहीं छोड़ता है।

(३) वसन्त :

कवि ने पार्श्वनाथचरित में वसन्त ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। कोकिलों का कूजन, सौरभपूर्ण पवन का प्रवाह, दोलालीला और वियुक्त स्त्री-पुरुषों का व्यथापूर्ण चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक, कमनीय और मनोरम है। विरह के वर्णन में तो कवि का गंभीर अनुभव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

वसन्त ऋतु के आगमन के साथ ही शिशिर ऋतु भाग गया और कोकिल शब्द करने लगे। यहाँ कवि की कल्पना द्रष्टव्य है—

'वन में प्रविष्ट वसन्त चतुर कोकिलों के कूजन से मानों यह कहकर बुला रहा है कि 'अरे, तरुसमूह को नष्ट करने वाले दुष्ट शिशिर तुम कहाँ भाग गये हो।'[1]

वसन्त ऋतु के प्रभाव से विविध प्रकार के वृक्षों और लताओं में फूल आ गये। कवि उनका मनोरम चित्रण करते हुए कहता है—

'कोकिलों की मधुर ध्वनि के सुनने से संतुष्ट हुए की तरह समृद्धभूत (श्लेपान्तक) वृक्ष भ्रमरों को पुष्पों के रसयुक्त मधु का सस्वाद पान कराते थे। उस समय चारों तरफ मंडराते हुए पक्षियों ने ही केवल लताओं के कुसुमों में स्थित रज-पराग को नहीं गिरा दिया, अपितु कामदेव के वाणों ने भी मनस्विनी स्त्रियों के मन में स्थित रज-मान या क्रोध को नष्ट कर दिया।'[2]

इसी तरह अवतु और आम्रवृक्षों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

'स्थूल दल वाले अवतु की डालियों में लगी हुई, पत्तों मात्र से

१- "शिशिरस्तरुषंडविप्लवानां स विधाता क्व नु वर्तते दुरात्मा।
पटुकोकिलकूजितैर्वसन्तो वनमित्याह्वयतीव संप्रविष्टः॥"
—पार्श्व० ५।४३।

२- "मधुरध्वनितश्रवाभितुष्टा इव भूतद्रुमयष्टयस्समृद्धाः।
कुसुमस्तवकानुतर्षपूर्णं मधु सस्वादमबोधयन् द्विरेफान्॥
न पतद्भिरुदासिरे समंतात् कुसुमस्थानि रजांसि वल्लरीणाम्।
मदनस्य शिलीमुखैर्मनस्थान्यपि तस्मिन् समये मनस्विनीनाम्॥"
—वही, ५।४८, ४६।

दिखाई देने वाली कलियाँ विजयाभिलाषी कामदेव के तूणीर में छिपे हुए वाणों की तरह दिखलाई पड़ने लगी। कलियों के भक्षण से उन्मत्त आम्रवृक्षों के गुच्छों में शयन करने वाले कोकिल मानों पथिकजनों को कामसन्निपात से उत्पन्न मूर्च्छा की घोषणा करते थे।[1]

कविसमय प्रसिद्धि है कि कामिनी के उच्छिष्ट मधु को पाकर वकुल वृक्ष पुष्पित हो जाता है। कवि उसका वर्णन करते हुए कहता है—

'किरातकामिनियों के मुख से उच्छिष्ट मधु को पाकर वकुल वृक्ष पुष्पित हो गया और उस पर उड़ने वाले भ्रमण उसका सेवन करने लगे। क्योंकि समान स्वभाव वाले के साथ मित्रता सुकर होती है।[2] अर्थात् मधुपान से वकुलवृक्ष पुष्पित होता है और भ्रमर भी मधुपान से पुष्पित-आनन्दित होते हैं। अतएव दोनों का स्वभाव समान है।

वसन्त ऋतु के आते ही चम्पक वृक्ष पुष्पित हो गये। चम्पक के पीले पुष्पों को देखकर कवि कहता है कि—

'श्रेष्ठ चम्पक वृक्ष फूलों से पीले वर्ण का हो गया। वह ऐसा मालूम पड़ता था मानों धैर्यहीन पथिक लोगों की बुद्धि में कामदेव ने अग्नि की वर्षा कर दी है।'[3]

वसन्तकालीन दक्षिण दिशा का पवन किस विरही के चित्त को आन्दोलित नहीं कर देता है। ऐसे दक्षिण पवन का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

'विरहिणी स्त्रियों के गरम श्वासोच्छ्वास को न सह सकने के कारण ही दक्षिण दिशा का पवन मानों उसे छोड़ने की इच्छा से वन के समीप वृक्षों की झाड़ियों में घुस गया। काँपते हुए पल्लव रूपी हाथों वाली माधवी लताओं के पुष्प रूपी मुख

१– "विपटेषु विरेजिरे विरुढाः कलिकाः स्थूलदलावतुद्रुमाणाम्।
शरधिष्विव पत्रमात्रदृश्याः कुसुमेषोर्विजयैषिणः शरौघाः॥
कलिकादलनोन्मदाः सहेलं सहकारोद्गमगुच्छगर्भशय्याः।
जघुषुः स्मरसन्निपातमूर्च्छामिव पान्थस्य नितान्तमन्यपुष्टाः॥"
—पार्श्व० ५।४६ ४७।

२– "वकुलश्च किरातकामिनीनां मुखमुक्तं मधु संप्रपद्य फुल्लः।
मधुपैरनुपातिभिः सिषेवे ननु सख्यं सुकरं समानशीलैः॥" —वही, ५।५५।

३– "वरचंपकयष्टिराततान प्रसवस्तोमपिशंगिमावरुद्धा।
कुपितस्मरवह्निवृष्टिरेपेत्यवदानं धृतिमंथि पांथवुद्धौ॥" —वही, ५।५७।

का चुंबन करने वाला एवं विविध आलिंगन और विलासों को करने वाला पवन लता भवन में प्रविष्ट होकर रमण करने लगा। वन लताओं के कुसुमों से संपृक्त सुगंधित पवन का शरीर के साथ स्पर्श होने पर पथिकजन उसे विष के समान मानते हुए प्रमदाओं के नाम रूपी मंत्र का जाप करने लगे।"[1]

पवन के झोंकों से वन मल्लिकाओं के पुष्प बिखर कर गिर गये। यहाँ कवि की कल्पना द्रष्टव्य है—

'वसन्त ऋतु में कान्तसंगत रमणियाँ झूले पर झूलती हैं। पार्श्वनाथचरित में एक युग्मक में दोलालीला का वर्णन किया गया है।'

'उस वज्रनाभ ने मलयाचल के पवन के द्वारा लाये गये पुष्पों से सुगंधित शुभ्र वर्ण वाले महल की छत पर सायंकाल वनिताओं के साथ आनंद को पाकर स्वर्ण-रज्जुओं से निर्मित लम्बे झूलाओं के मणिपीठ पर आसीन अश्वपुर की सुन्दरियों के द्वारा गाये जाते हुए अपने गुणगान वाले मृदु गीतों को सुना।'[2]

इस प्रकार वादिराज ने वसन्त-ऋतु का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित किया है।

(४) ग्रीष्म :

ग्रीष्म ऋतु में शीतल मंद सुगंधित पवन का बहना बंद हो जाता है। कोकिलें भी बोलना बंद कर देते हैं। वृक्षों से पुष्प झड़ जाते हैं। आकाश में मेघों का नामोंनिशान भी नहीं दिखता। नदियों का बहना बंद हो जाता है तथा सर्वत्र

१- "विजिह्मसुरिवासहिष्णुरंगैर्विरहिस्त्रीश्वरितोपमूढम् ।
पवनः प्रविवेश दाक्षिणात्यो द्रुमवीथीशिशिरं वनोपकंठम् ॥
धुतपल्लवपाणिमाधवीनामभिरेमे प्रसवाननाभिचुंबी ।
व्रततीभवनं प्रविश्यवायुर्विविधालिंगनविभ्रमप्रयोगः ।
पथिका मरुतः शरीरसंगं वनवल्लीकुसुमस्पृशः सुगंधेः ।
विषवेदमिवावबुध्यमानाः बत जेपुः प्रमदाभिधानमंत्रान् ॥"
—पार्श्व० ५।५०-५२।

२- "मलयश्वसनीपनीतनानाप्रसवामोदिनि शुभ्रसौधपृष्ठे ।
वनितानिवहेन साथमह्नः स विनोदं समवेत्य वज्रनाभः ॥
मृदुगीतिमुदस्तहेमरज्ज्वायतदोलामणिपीठदेवतानाम् ।
स्वगुणग्रहणानुबंधरम्यामशृणोदश्वपुरस्य सुन्दरीणाम् ॥
—वही, ५।५८-५९।

धूलि उड़ने लगती है। कवि ग्रीष्म ऋतु की ऐसी अवस्था का चित्रण करते हुए कहता है—

'गर्मी का समय आ जाने पर अनेक कोमलांगी नागकन्याओं के भोक्ता पवन ने चन्दन और झरनों के जलप्रपात से शीतल मलय पर्वत का त्याग नहीं किया। अर्थात् अब शीतल पवन केवल मलय पर्वत पर ही रहने लगा। कोकिलों ने मौन धारण कर लिया। मानों वे अपने आनन्द के कारणभूत वसंत के विरह हो जाने पर दुःखपूर्वक उसके पुनः आगमन की प्रतीक्षा करने लगे हैं। अनेक प्रकार के वृक्षों, शाड्वलों (घास विशेष) और झड़े हुए फूलों वाली वाटिकायें दूर दिशाओं से मधुराज की सेना की वेश लीला के समान मालूम पड़ने लगीं। सूर्य के ताप से ही मानों नदियाँ अपने चल स्वभाव को छोड़कर तट के वृक्षों की पंक्ति से अंधकारित बड़े-बड़े अगाध महासरोवरों में स्थिर हो गईं। अत्यन्त दीर्घ मार्ग में परिभ्रमण कर समस्त दिशाओं से जल को खोजकर सूर्य ने पी लिया। अतएव चकित मेघ मानों सूर्य के मार्ग को छोड़कर कहीं छिप गये।'[1]

ग्रीष्म में दिशायें भयानक रूप धारण कर लेती हैं। कवि उनकी उपमा राक्षसियों से देकर जेठ माह के दिनों का चित्रण करता हुआ कहता है—

'गर्मी से रुक्ष जलशून्य होने के कारण, विपक्षियों के फाड़े हुए मुख से विशिष्ट, धूम्र के समान धूलि को उगलती हुई दिशायें प्राणियों के लिए भयानक बनकर रास्ते में भयानक होने के कारण मुंह को फाड़े हुए, अपने मुंह से धुंयें को उगलती हुई राक्षसियों के समान जान पड़ती थीं। कष्टदायक, स्पर्श में कठोर,

---

१– "मृदुसृष्टिरनेकनागकन्याकृतभोगः प्रसृते तु धर्मकाले।
विजहो मलयं न मातरिश्वा शिशिरं चंदननिर्झरांवुपातैः॥
सुरभेर्निजसंमदैकहेतोर्विरहे दुःखमिवाधिकं दधानैः।
जगृहे वनकोकिलैर्न मौनं न पूनस्तत्समयागमावसानम्॥
विविधद्रुमशाड्वलानि बभ्रुः प्रसवोद्वस्तजनांतवाटकानि।
विनिवृक्षगतस्य दूरदिग्भ्यो मधुराजस्य चमूनि वेशलीलाम्॥
तपतापमियेव तीरवृक्षव्रजतिर्यग्विधिनांधकारितेषु।
विरमय्य चरप्रभावमस्थुः पृथुलागाधमहाहृदेषु नद्यः॥
अतिदीर्घपथभ्रमादिवार्कें परिमृग्यांवु पिबत्यशेषदिग्भ्यः।
चकितैरिव भानुवर्त्म हित्वा क्वचिदप्यंबुधरैस्तिरोबभूवे॥"
—पार्श्व० ५।६२-६६।

आलस्य के उत्पादक, गर्मी से संतप्त, राहगीरों को उद्विग्न करने वाले जेठ माह के दिनों की तरह वृक्ष भी रस से रहित, स्पर्श में रूक्ष, सूखे हुए, राहगीरों को कष्टदायक और जीर्ण पत्तों को छोड़ने लगे।'[1]

गर्मियों में सर्वत्र लाल-लाल धूलि उड़ने लगी। कवि कल्पना करता है—

'उड़ती हुई धूलि की लालिमा से दिशायें ऐसी मालूम पड़ती थी मानों सूर्य के संताप से उनका वक्षस्थल फट गया है। अतएव उससे यह रक्त की धारा वह रही है।'[2]

वन में दावानल ने प्रवेश कर लिया, मृग इधर-उधर वन में ही भाग रहे हैं, किन्तु नगर में नहीं आते है। इस प्रसंग में कवि कल्पना द्रष्टव्य है—

'नगर की रमणियों के नेत्रों की सुन्दरता को चुरा लेने के कारण अपराधी होने से शंकित होकर मृग दावानल से डरकर भी वन को छोड़कर नगर का आश्रय नहीं ले रहे हैं।'[3]

गर्मी में स्त्रियाँ जल भरने गईं। जब वे शिर पर घड़े को रखकर जल भरकर आ रही थीं तो चरण प्रहार से ताड़ित धूलि उनके घड़े में जाने लगी। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि—

'गाड़ी के मार्ग की धूलियाँ सूर्य की किरणों के संताप से प्यासी होकर बेहोश पड़ी हैं। वे चरण प्रहार से होश में आकर ही मानों शिर पर रखे हुए जल कुंभों में उछलकर गिर रही हैं।'[4]

१- "रसशून्यतया विदारितास्या वदनोद्वान्तरजोवितानधूम्रा ॥
अभवन् ककुभो निदाघरूक्षाः पथि राक्षस्य इवासुमद्विभीत्यै।
विरसाः परुषस्पृशः सशोषाः पथिकोद्वेगकृतो निरुद्धतापाः।
जहिरे महिजैर्जरत्पलाशाः शुचिमासस्य लवा इवालग्नाः ॥"

—पार्श्व०, ५।६७-६८।

२- "बहलोत्थितधूलिपाटलिम्ना ककुभः काश्चन मंश्रिताः विरेजुः।
तरणेरिव तापतो विवृद्धाद् दलितोरःक्षरितप्रवाहरक्ताः ॥" —वही, ५।६९।

३- "वनितानयनाभिरामलीलागुणचौर्यादिव दोषतो जनांतः।
अभिशंक्य न शिश्रिये कुरंगैः प्रविमुच्यापि वनं दवाग्निभीत्या ॥"

—वही, ५।७०।

४- "तृषिता इव पूषरश्मितापात् पृथुगंत्रीपथपांशवो जनस्य।
अविसंज्ञचरणाभिघातलब्धा इव ... शिरस्थतोयकुंभान् ॥" — वही, ५।७२।

इस प्रकार वादिराज ने उत्प्रेक्षा अलंकार के विधान से ग्रीष्म-ऋतु का सजीव एवं मोहक वर्णन प्रस्तुत किया है। इससे कवि के हृदय पर पड़े ग्रामीण जीवन के यथार्थ अनुभवों का पता चलता है।

(५) वर्षा :

वादिराज ने वर्षा ऋतु के वर्णन में संयोग और वियोग की स्थिति में स्त्री-पुरुषों के मन में होने वाली भावनाओं का अतीव सूक्ष्म चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति को सचेतन मानकर उसमें सुख, दुख, श्वासोच्छ्वास आदि मानवीय अनुभूतियों का सचित्र निदर्शन किया है। वर्षा ऋतु के आते ही आकाश में मेघ दिखाई देने लगे। जलवृष्टि होने से लोगों का घर्मताप दूर हो गया। कवि इसका वर्णन करते हुए कहता है—

'आकाश में दृश्यमान मेघ-रेखा ऐसी मालूम पड़ती थी मानों ग्रीष्म-ऋतु के समाप्त हो जाने पर विरहजन्य ज्वर के दाह से धूसरित अंगों वाली पथिकों की श्वासपरम्परा हो।' दिशाओं में जलपूर्ण आकृति वाले मेघ जलवृष्टि द्वारा लोगों के घर्मताप को दूर करते हुए ऐसे मालूम पड़ते थे मानो दिग्गजों द्वारा ऊपर फेंके गये मोटे शुण्डादण्ड हों। प्रथमोदित मेघों से गिरती हुई जल की बूंदे ऐसे मालूम पड़ती थीं मानो वे चिरकाल तक गर्मी रूपी चाण्डाल के संसर्ग से दूषित संसार को शुद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुई हों। पृथिवी पर स्थूल मेघ की धारा पड़ने से उभरे हुए धूलिकण पृथिवी के भीतर जम गये। उनसे निकलती हुई सूं सूं की आवाज ऐसी मालूम पड़ती थी मानो घाम की पीड़ा से उत्पन्न उच्छ्वास हों।'[१]

वर्षा ऋतु के आते ही वियुक्त स्त्री पुरुषों की हालत विगड़ गई। कवि उनका वर्णन करता है कि—

१- "विरहज्वरदाहधूसरांगी पथिकश्वासपरंपरेव दृश्या।
दिशि दिश्युपपादि मेघरेखा स्वयमासेदुषि घर्मकालभंगे॥
सरसाकृतयः ककुप्सु मेघाः बभूवुरुच्चैर्भुवनस्य घर्मपातम्।
वमथूद्गमनैरिवापनेतुं पृथुहस्ता इव दिग्गजैरुदस्ताः॥
प्रथमोदितवारिवाहमुक्ताश्चिरमस्पृश्य निदाघदूषितस्य।
जगतः प्रविशोधनप्रवृत्ता इव शुभ्रज्जलबिन्दवः प्रपेतुः॥
अकृतोच्छलदच्छपांशुपाता पृथुपाथःकणसंहतिः पृथिव्याम्।
क्षितिभागगतावशिष्टघर्मस्फुटदुच्छ्वासनिभानि सूत्कृतानि॥"
—पार्श्व०, ५।८०-८३।

'मेघों के छा जाने से मलिन आकाश वाली शब्दायमान दिशाओं ने मैले तालाबों को और मलिन वस्त्र पहनने वाली वियोगिनी स्त्रियों ने कृशता को धारण कर लिया। निकटवर्ती मेघ की गर्जना वाले, चमकते हुए उद्दाम विद्युत रूप दांत से भयंकर हाथ में विशाल वज्रदण्ड को धारण किये हुए वर्षा-ऋतु को देखकर प्रवासी राहगीर मरने में ही अपना हित समझने लगे।'[1]

वर्षा-ऋतु में मेघरूपी पर्वतों का घर्षण करती हुई बिजली कौंधने लगी। वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो मेघों द्वारा रात्रिरूपी धोंकनी से जलाई गई कामाग्नि हो।'[2]

मूसलाधार वृष्टि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

'वियोगिनी स्त्रियों के चित्त को फाड़ डालने वाले बड़े-बड़े मेघों से छोड़े गये वर्षाकालीन जल मूसलाधार के रूप में मानों पृथिवी पर कीलित से होकर चिर-काल तक स्थित हो गये।'[3] अर्थात् चिरकाल तक मूसलाधार वृष्टि होती रही।

वर्षा-ऋतु में लाल-लाल इन्द्रगोप (रेशम की तरह एक कीड़ा) वन में सर्वत्र व्याप्त हो गये। अतएव वन फैले हुए बिजली के स्फुलिगों से व्याप्त पूर्व दिशा की तरह जान पड़ने लगा। उन इन्द्रगोपों को देखकर वियोगिनी स्त्रियाँ अत्यन्त डरने लगीं।'[4]

वर्षा-ऋतु के समय कौन ऐसा स्त्री या पुरुष है जो काम के वशीभूत नहीं हो जाता है। कवि कहता है—

१- "ककुभो मलिनांबरं दधाना: कृतघोषा:कलुषं जलाशयं च।
न घनाभिनिवेशतो न बभ्रु: कृशिमानं गतभर्तृकाश्च योषा: ।।
निकटेन करोरुवज्रदण्डं घपगर्जेन हितं निरीक्ष्य कल्पम्।
पथिका मरणे मतिं बबन्धु: स्फुरदुद्दामतडिल्लतैकदंष्ट्रम् ।।"
—पार्श्व० ७, ५।८४,८६।

२- "वनिताहृदये तमोमषीके रजनीभस्त्रिकया मनोभवाग्ने: ।
ज्वलितस्य घनैरिवात्रिरांशुच्छलनलीलारुचय: समुद्बभूवु: ।।
—वही, ५।९०।

३- "चिरमस्थुरकामिनीकचेत:क्षयगृट्या घनकालवासतोया: ।
बृहदंबुदमुच्यमानपाथ: पृथुधारा: परिकीलिता इवोर्व्याम् ।।" —वही, ५।९१।

४- "विततैरिव विस्फुलिंगवर्गैररुणाशावदनैरिरंमदस्य।
वनभूरवकीर्णशक्रगोपै:प्रवितस्तारभयान्यवल्लभानाम् ।।" —वही, ५।९५।

'कौन ऐसी स्त्री है, जिसने अभिमान को छोड़कर अपने मस्तक पर काम की आज्ञा को धारण न कर लिया हो और कौन ऐसा पुरुष है, जिसने वर्षा-ऋतु के आगमन से होने वाली मयूरों की अनिर्वचनीय केका को सुनकर अपनी वनिता का त्याग कर दिया हो। अर्थात् सभी स्त्रियों ने कामाज्ञा को धारण कर लिया और सभी पुरुष अपनी वनिताओं के पास ही रहने लगे।'[1]

मयूरों के द्वारा नागों का भक्षण प्रसिद्ध है। मयूरों की केका को सुनकर कवि कल्पना करता है कि—

'काले-काले मेघों के समान काले वर्ण वाली नागिनों को मयूरों ने हर्ष-पूर्वक खा लिया है। अतएव वे उसके विष की वेदना के कारण ही मानो चिल्ला रहे हैं।'[2]

नाचते हुए मयूरों की उपमा चलचित्र से देता हुआ कवि कहता है कि—

'मयूर मेघ की आवाज को सुनकर स्फुरायमान वर्हमण्डल को ऊपर उठाकर नाचने लगे। उनसे वनभूमि सभी दिशाओं में चलचित्र की तरह सुशोभित होने लगी।'[3]

मेघों की गर्जना किस प्रकार युवतियों के अभिमान को नष्ट कर देती है, इसे कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसिद्ध उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत किया है।

शिखण्डि (द्रुपदपुत्र अर्जुन का साला) को आगे कर धनुषधारी अर्जुन ने गर्जना के साथ अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों से जैसे भीष्म को नष्ट कर डाला था, वैसे ही शिखंडि-मयूर को आगे कर इन्द्रधनुषधारी मेघ ने गर्जना के साथ काम के तीव्र बाणों से युवतियों के अभिमान को नष्ट कर डाला।'[4]

१- "अभिमानमुदस्य मस्तके कामनिदेशं न दधौ सवस्तुके का।
वनितां मुमुचुर्निशम्य के काममपि मेलागमजां मयूरकेकाम्॥" — पार्श्व० ५।९६।

२- "भुजगीरसिताः पयोदलेखा इव मुग्धाः प्रमदेन भक्षयित्वा।
विषवेदनयेव तीव्रयोगादनुसंधाय कलापिनः प्रणेदुः॥"
—वही, ५।९७।

३- "जलध्वनिनर्तितेन सद्यः स्फुरदुत्तानितवर्हमण्डलेन।
शिखिनां निवहेन सर्वदिक्काचलचित्रैव बभावरण्यभूमिः॥"
—वही, ५।९८।

४- "प्रणिधाय शिखंडिनं पुरस्तात् धृतधन्वा घनफाल्गुनः सगर्जम्।
निजघान शरैर्निकामतीव्रं वरभीष्मं तरुणीजनाभिमानम्॥" —वही, ५।१००।

इससे स्पष्ट है कि वादिराज ने वर्षा-ऋतु का आलंकारिक ढंग से सर्वात्मना सुन्दर चित्रण किया है। वर्षा-ऋतु के वर्णन में कवि ने अपनी कल्पना का कलेवर देकर उसे मूर्तिमान् बना दिया है।

(६) शरद् :

ज्यों ही शरद् ऋतु का समय आया कि शस्त्रागार के प्रवन्धक ने चक्रवर्ती वज्रनाभ को शस्त्रागार में चक्ररत्न की उत्पत्ति की सूचना दी तथा इसी समय को दिग्विजय के योग्य समय बतलाया। चक्रवर्ती वज्रनाभ सेना के साथ अखण्ड पृथिवी के विजय के लिए निकल पड़े। अतएव युद्ध का वर्णन आ जाने से शरद्-ऋतु का विशेष वर्णन पार्श्वनाथचरित में नहीं हो पाया है। फिर भी युद्ध के लिए गमन करती हुई सेना के वर्णन के प्रसंग में कहीं-कहीं शरद्-ऋतु का वर्णन हुआ है।

शरद् ऋतु के आने से दिशायें धूलि रहित और प्रसन्न हो गईं। कवि कल्पना करता है कि—

'उस समय दिशाओं की विजय के लिए समस्त पृथिवी के स्वामी उस राजा के चलने पर शत्रुसमूह को निवास देने के कारण अपराधिनी की तरह समस्त दिशायें उस राजा के भय से मानो शीघ्र ही धूलिरहित और प्रसन्न हो गईं।'[1]

शरद् ऋतु के आ जाने से तालावों और नदियों का पानी निर्मल हो गया। नदी के किनारों का पानी सूख गया। कमल खिल गये और पक्षियों के शब्दों के साथ ही नदियों में लहरें भी उठने लगीं। कवि इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है—

"भ्रमरपंक्तियों के शब्दों से स्तुति करती हुई के समान शरद्-ऋतु ने स्वच्छ जल से मनोहर, विकसित कमलों की शोभा से शोभायमान मधुर तालाब रूपी नेत्रों से पृथिवी पर जाते हुए उस चक्रवर्ती को देखा। उस चक्रवर्ती ने मलिन जघनों से गिरे हुए दुग्ध की तरह शुभ्र वस्त्र वालीं, स्वभावतः मधुर अनुराग से विकसित कमल की तरह नयनों वालीं, सजल रोग रहित और मार्ग में उत्तान चाल से मनोहर रतिभाराक्रान्त कान्ताओं की तरह मलिन पुलिन रूपी जघन से अलग न होते हुए

१- "सकलवसुधानाथे तस्मिन् जयाय दिशां तदा
चलति तदरिव्रातावासप्रधानकृतागसः।
पुनरिव भयात्तस्यारातीनिहेतिनिदर्शिकाः
संपदि ककुभः सर्वाः सम्यक् प्रसेदुरधूलय ॥"
—पार्श्व० ६।१२१

जल रूपी विमल वस्त्र वालीं, स्वभावतः मनोहर ईषद् रक्त विकसित कमलरूपी नेत्रों वालीं, जलपक्षियों की आवाज के साथ उठती हुई तरंगों से मनोहर नदियों को देखा।"[१]

इस प्रकार वादिराज ने षड्-ऋतुओं का अत्यन्त सरस, सजीव और रमणीय चित्रण किया है। उनके ऋतु वर्णन में शीतल, मंद, सुगंधित पवन, पुष्पों का अलौकिक सौन्दर्य, भ्रमरों का गुंजार, पक्षियों का कलरव, युवतियों का नाच-गान एवं झूला झूलना, वियुक्त स्त्री पुरुषों का विप्रलंभ वर्णन और प्रकृति पर मानव का आरोप सहज ही पाठकों को आकर्षित कर लेता है।

नारी सौन्दर्य

महाकवि वादिराज का प्रकृतिवर्णन की तरह सौन्दर्य वर्णन भी चमत्कारजनक है। प्रायः सभी अधिकारी महाकवियों ने महाकाव्यों में नारी सौन्दर्य का वर्णन किया है। महाकवि भारवि सौन्दर्य आदिक गुणों का निवास प्रेमी के हृदय में मानकर सौन्दर्य को विषयिगत मानते हैं और महाकवि माघ सौन्दर्य को विषयगत मानते प्रतीत होते हैं। किन्तु वादिराज की दृष्टि में सौन्दर्य उभयगत है। पार्श्वनाथचरित में वर्णित एक ओर अनुपम सुन्दरियों को छोड़कर वनमार्ग में गमन और दूसरी ओर वामांगनाओं के साथ रमण वादिराज की उक्त मान्यता को पुष्ट करते हैं।

विषयगत सौन्दर्य का वर्णन करने में तो वादिराज अनुपम हैं। उन्होंने वज्रवीर्य की महारानी विजया का सांगोपांग वर्णन अत्यन्त कुशलता एवं सूक्ष्मता के साथ किया है। यद्यपि उनके इस वर्णन में कहीं-कहीं कृत्रिमता खटकती है, तथापि वह नवीन, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक है। कवि ने महारानी विजया के अंग-प्रत्यंग का मनोरम एवं रमणीय वर्णन किया है।

चरण : रानी के चरण लालिमायुक्त हैं। कवि कल्पना करता है कि—

'अत्यन्त रागयुक्त महाराज के चित्त ने उस महारानी के दोनों चरणों को

१- "अंबुप्रसादसुभगैर्विकसत्पयोजश्रीबंधुरैर्मधुरतारतटाकनेत्रैः ।
पुष्पंधयावलिरवैस्स्तुवतीव नाद्यं तं निर्गतं शरदिवैक्षत भूतधात्र्या ॥
मलिनजघनाभोगभ्रश्यत्पयोविमलांबराः
प्रकृतिमधुरारागोत्फुल्लमहोत्पलवीक्षणाः ।
सजलविरुगध्वानोत्तानप्रवृत्तिमनोहरा
रतिभरसमाक्रान्ताः कान्ता इवैक्षत निम्नगाः ॥"
—पार्श्व०, ६।१३-१४।

चिरकाल से अपने में आश्रित कर रखा था। इसलिए ही मानो वे जल से बार-बार धोये जाने पर भी राग (लालिमा) को नहीं छोड़ रहे हैं।"[1]

'उस रानी के चरणों को कमल रूप में वर्णित करते हुए कवि कहता है—

'शब्दायमान नूपुरों से युक्त उस मृगनयनी के चरण भ्रमरों से वेष्टित कमल जान पड़ते थे—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। क्योंकि जहाँ-जहाँ वे पड़ते थे, वहाँ-पृथिवी तल पर कमलों से उत्पन्न होने वाली शोभा के समान शोभा उत्पन्न हो जाती थी। धूलि को स्पर्श न करने वाले और अपने नखों की शुभ्र कान्ति को सामने बिखेरने वाले उस रानी के चरणों को जो लोग शंका से कमल समझ लेते थे, वे चरण उन लोगों की मूर्खता पर मानो हंस रहे थे। मनोरमा, निष्पाप-शुद्धशीला, कृशांगी वह अपने चरणों में नूपुरों को चिरकाल से धारण किये हुए थी, किन्तु वह खंडितशील वाली नहीं थी।"[2]

जंघायें : उस रानी की सुन्दर सुघटित जंघायें काम की पताका के समान मालूम पड़ने वालीं और क्रीड़ा करती हुई मछलियों के समान थीं। अतएव उन्होंने दर्शकों के मन में स्थान पा लिया। अर्थात् दर्शक उनका ही ध्यान करने लगे। दूसरों से सर्वथा अजित, हथिनी की सूंड के समान गोल और स्थूल उस मृगनयनी की विशाल जंघायें प्रदीप्त रूप वाले कामदेव के आश्रय स्वरूप थीं। इसलिए ही मानो वे नवीन चंपक-पुष्पों की शोभा के समान सुशोभित होती थीं। अनेक पत्रों से निर्मित और जरारहित रंभायें अर्थात् कदली और देवांगनायें उस रानी की जंघाओं को जीत न सकीं। मानो इसीलिए लज्जा में आकर उनमें से कुछ (कदली) तो जंगल में चलीं गईं और कुछ (देवांगनायें) वैरागिनी होकर अप्सराओं में मिल

१- "प्रकामरक्तेन नृपस्य चेतसा चिराय तस्याश्चरणावुपाहितौ।
पयः प्रधौतावपि रागविभ्रम नतभ्रुवो नूनमतीव बभ्रतुः॥"
—पार्श्व०, ४।८३।

२- "क्रमौ मृगाक्ष्या कलनूपुरांकितौ संभृगपद्माविति मे दृढा मतिः।
यतो यतस्तन्न्यसनं धरातले ततस्ततो यत्समभूयत श्रिया॥
पुरः प्रसर्पन्नखशुभ्रदीधिती तदीयपादावरजःस्पृशौ नृणाम्।
स्वशंकया पंकरुहाणि जल्पतां पृथग्विविच्याहसतामिवाज्ञताम्॥
मनोरमा तर्जनहारि निस्स्वनं पदस्थमुच्चैरथ नूपुरं परम्।
चिरं दधानाऽपि विधूतकल्मषा दधौ न तन्वी विजयार्धशीलताम्॥"
—पार्श्व०, ४।८४-८६।

गई ।"[1]

कटि-नितम्ब : अत्यन्त सुन्दर और पुष्ट रत्नमेखला से वेष्टित यौवन से विभूषित उस सुन्दर दांतों वाली रानी का कटितट कामालय के नित्य समीप रहने के कारण नाना प्रकार को लीलाओं को करता था। रत्नों की विकीर्ण किरणों से दुस्तर अंधकार का नाश करने वाला, सुन्दर कांची के विलास से युक्त उस रानी का विशाल नितंब अत्यन्त शोभायमान था। किन्तु वह कुशल पुरुषों के लिए भी आशा का विषय नहीं था। नितंबों के पार्श्ववर्ती होने से अपने विरोधी स्थूल गुण के भय से गुणों का नाश न करने वाली उस मृगनयनी की कृशता मानो मध्यस्थ (कटिस्थ-उदासीन) हो गई। अर्थात् नितंबों के विशाल होने स उसकी कटि और कृश मध्य भाग में ही चिरकाल तक रहने लगी। क्योंकि कृशता का फल ही ऐसा है। अर्थात् तो कृश होते हैं उन्हें वलि (उपद्रव) दबा ही लेते हैं।'[2]

स्तन : उस रानी के दोनों स्तन अपने साथ रहने वाले हार के गुण से गोल मुक्तामणि से उत्पन्न समृद्धि का ओजोगुण से संयोग कराते थे, तब भी वे अविवेकी (मूर्ख–परिहार पक्ष में संयुक्त) हैं—यह आश्चर्य की वात है। समस्त पर्वतों की

१– "तया नु मीनध्वजसत्पताकया सलीलमुद्यच्छफरानुरूपयोः।
गुणेन संघातभृतोर्न जंघयोर्मनरसु न व्यजत साधु पश्यताम् ॥
करेणुकान्ताकरवृत्तपीवरौ मृगीदृगूरू हि गुरू पराजितौ।
प्रदीप्तरूपस्मरसंश्रयाविव व्यभासिषातां नवचंपकच्छवी ॥
अनेकपत्रोल्लिखितायताजरा गुणं तदूर्वोरिव जेतुमक्षमा।
वनस्थिति काचिदयाद्विलज्जया विरज्य रंभास्वितराप्सरोगता ॥"
—पार्श्व० ४।८७–८९।

१– "मनोरमां पुष्टिमजस्रमाश्लिपन् स यौवनो नूतनरत्नमेखलाम्।
चकार कामालयनित्यसन्निधिप्रसंगलीलां सुदतीकटितटः ॥
विकीर्णरत्नांशुनिरस्तदुस्तमः प्रपंचकाञ्चीविभवो विनिर्बभौ।
वृहन्नितंबः सुतनोस्तनुभृतां न दक्षिणाशाविषयो जनाश्रयः ॥
तनोतु भारोभयपार्श्ववर्तिनो भियेव भूम्नः स्वविरोधिनो गुणात्।
चिराय मध्यस्थतयापि पप्रथे गुणाननिघ्नन् कृशिमा मृगीदृशः ॥
विमुच्य संभूय सुवर्णहारिणं नितंबमुच्चैर्वलिभिर्नतभ्रुवः।
न मध्यदेशं रुरुधे न यच्चिरं भवेत्कृशत्वस्य फलं तदीदृशम् ॥
—वही, ४।९०–९३।

मणिमुक्ताओं की रक्तिमा को प्राप्त, परस्पर संयुक्त, विशाल देश में विस्तृत उसके दोनों स्तन कामरूपी नृप के साक्षात् नय और विक्रम की तरह थे। अतएव उचित ही उद्धत उन्नत थे।"[1]

हाथ : हाथ में लालिमा देखकर कवि कल्पना करता है—

'रति के निमित्त उसके सौंदर्य को लाने हेतु कामदेव द्वारा भेजा गया राग नूतन पल्लवों की शोभा को मूल्य के रूप में लेकर आया था। किन्तु इस मृगनयनी के पास आते ही सब कुछ भूल गया। और इस रूपवती का हाथ पकड़कर यहीं रह गया है।'[2]

अंगुलियाँ : 'कामदेव को पंचवरण कहा जाता है। परन्तु कब से, कवि इस विषय में कल्पना करता है—

'केतकी की सूची के समान उस कृशांगी की पाँच अंगुलियों के द्वारा कामदेव ने महाराज का मन वेधकर अपने वश में कर लिया था। अतएव उस समय से कामदेव को पंचवाण कहने लगे हैं।'[3]

बाहु : 'उस रानी की रत्नों की किरणों से दीप्त, श्रेष्ठ वृक्ष के स्कंध के समान सुन्दर स्कंधों में संपृक्त मनोरम लावण्यरूपी जल से सिक्त और वलय (बाहुबंध) रूपी आलवालों से वेष्टित भुजलतायें थीं।'[4]

१– "सुवृत्तमुक्तामयतां स्वसंगिनो गुणेन हारस्य समृद्धिमोजसा ।
प्रयोजयन्तावपि साधु सुभ्रुवः कथं न्वभूतामविवेकिनौ स्तनौ ॥
समग्रभूभृन्मणिमुक्तरागमावभेदवृत्ती पृथुलब्धमंडलौ ।
स्मरस्य मूर्तौ नयविक्रमाविव स्तनौ तदीयावुचितं यदुद्धतौ ॥"
—पार्श्व०,४।९४–९५।

२– "तदीयसौन्दर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदितः ।
प्रकल्प्य मूल्यं नवपल्लवश्रियं वली मृगाक्ष्याः करमग्रहीद्ध्रुवम् ॥
—वही, ४।९६।

३– "भृशं कृशांग्याः करजायतांकुरैर्न केतकीसूचिसमैर्न पंचभिः ।
चिराय जेता मदनो महीभुजस्तदादि बभ्रे किल पंचबाणताम् ॥"
—वही, ४।९७।

४– "न्यधत्त रत्नद्युतिजालमांसले वरद्रुमस्कंधसमाश्रये वधूः ।
मनोज्ञलावण्यपयोनिषेकिते कृतालवाले वलयै भुजालते ॥"
—वही, ४।९८।

मुख : 'अमृत स्वरूप अंगों से बना हुआ उस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के दूसरे रूप के समान था। इसलिए उसने अपनी लीला से कमलों की शोभा को जीत लिया, तो इसमें क्या आश्चर्य है।'[1]

नेत्र : नेत्रों के ऊपर मीन का आरोप करते हुए कवि ने एक सुन्दर रूपक की योजना की है—

'उज्जवल देदीप्यमान कान्तिरूपी जल से परिपूर्ण मुखरूपी सरोवर में चंचल मछलियों की गति को अपनी चंचलता से तिरस्कृत करने वाले उस रानी के नेत्र रूपी मीन थे।'[2]

अपांग : 'शुद्ध सरस्वती जिस प्रकार मुख को शोभित करने वाली, विधि-पूर्वक प्रयुक्त होने पर मन का हरण करने वाली, निर्दोष वर्णों से युक्त और शास्त्रानुवर्तिनी होती है। उसी प्रकार उस रानी की अपांगलक्ष्मी मुख-कमल को सुशोभित करने वाली, स्वाभाविक सुन्दरता से चित्त का हरण करने वाली, निर्मल वर्णों से सुशोभित और कर्ण तक लंवायमान थी।'[3]

नासिका : 'मुख कमल की सुगंधि को सूंघने वाली, कठिनाई से ग्राह्य अग्रभाग वाली उस रानी की श्रृंगारित नासिका थी। तव भी महाराज ने हृदय में स्थित कर लिया था।'[4]

अधर : 'दांतों के द्वारा अभग्न राग वाला, मूंगा की शोभा को हरण करने वाला उस रानी का अधर विशुद्ध वाणी द्वारा रोके जाने पर भी राजा के द्वारा

१– "निसृष्टमंगैरमृतात्मकैर्वपुर्द्वितीयमिन्दोरिव सुन्दरीमुखम्।
किमत्र चित्रं यदितेन लीलया विजिग्यिरे पंकजसंश्रया: श्रिय: ।।"
—पार्श्व०, ४।९९।

२– "समुल्लसत्कान्तिमयांवुसंभृते मुखापदेशे कमलाकरो भृशम्।
परस्पराभिद्रुतदृप्तमीनयोर्नतभ्रुवो जह्रतुरीक्षणे श्रियम् ।।"
—वही, ४।१००।

३– "अपांगलक्ष्मीर्मुखपद्ममंडनी विधिप्रयुक्ताकृतिचित्तहारिणी।
सरस्वतीवामलवर्णतन्मयी वभूव तस्या: श्रवणानुवर्तिनी ।।"
—वही, ४।१०१।

४– "उपेत्य जिघ्रन् मुखपद्मसौरभं तयाकरग्राह्यशिरा क्वचिद् विधौ।
तथापि पत्युर्हृदयंगमोऽभवत् तदीयश्रृंगारितनासिकाविधि: ।।"
—वही, ४।१०२।

निर्दयता के साथ पीड़ित किया जाता था।"[1]

केश : 'कामदेव के साथ द्वेष करने वाले उस रानी के घने केश कुन्तलभाव (बरछा धारण करने वाले पुरुष के भाव–केशों के भाव) को धारण कर संसार में सबसे पवित्र मस्तक के ऊपर आक्रमण करके तमः स्वभाव वाले (क्रोधी–काले) हो गये थे।'[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वादिराज के प्रकृतिवर्णन और सौन्दर्यवर्णन में भावात्मक चारुत्व के साथ कलात्मक चमत्कृति का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। प्रकृति-वर्णन में किसी क्षेत्र को वादिराज ने अछूता नहीं छोड़ा है। नारी सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन परम्परा मात्र का निर्वाह नहीं, अपितु कवि की सूक्ष्म दृष्टि और कल्पना-शक्ति का अनुपम निदर्शन है।

१– "गवां निरुद्धोऽपि विशुद्धया द्विजैरभग्नरागो हरिणांगनांदेशः।
हरन् प्रबालश्रियमंगनिर्दयं नृपेण नित्यं निरपीड्यताधरः ॥
—पार्श्व, ४।१०३।

२– "अनंगविद्वेषभृतः शिरोरुहा निरन्तरा कुंतलभावलंबिनः।
विबभ्रु राक्रम्य तमःस्वभावतो तदुत्तमांगं जगदेकपावनम् ॥" —वही, ४।१०४।

षष्ठ अध्याय

तात्कालिक स्थिति

कवि का मानसपटल दर्पण की तरह प्रभावग्राही होता है । अतएव उसकी कृतियों में तत्कालीन समाज की परिस्थितियों एवं घटनाओं की झांकी दिखलाई पड़ती है । यद्यपि यह सत्य है कि कवि अपने कथानक में जिस देश, नगर या पात्रों आदि का चित्रण करता है, वे कवि के समय के हों,यह आवश्यक नहीं है । किन्तु कवि की कृतियों में तत्कालीन समाज का प्रतिबिंब देखा जाता है । पार्श्वनाथचरित एक महाकाव्य है और उसका कथानक कवि ने पुराण से ग्रहण किया है । अतएव उसमें कवि को तत्कालीन परिस्थितियों के प्रतिबिंबन का अवसर कम ही मिल पाया है । फिर भी पार्श्वनाथचरित के आन्तरिक अनुशीलन से उसमें प्रतिबिंबित तत्कालीन परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । अतः यहां पर पार्श्वनाथचरित में प्रतिपादित सामाजिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक परिस्थितियों पर विचार कर लेना प्रासंगिक होगा ।

(क) सामाजिक स्थिति

वर्ण व्यवस्था :

जैनधर्म अपने मूल स्वरूप में स्मृत्यनुमोदित वर्ण–व्यवस्था का समर्थक नहीं है । उसमें जातिवाद तथा वर्णवाद के प्रति विरोध की भावना दृष्टिगत होती है । आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में चार जातियों की मान्यता को अहेतुक बतलाते हुए किसी भी जाति को निंदनीय नहीं माना है ।[1] किन्तु जैनधर्म अपनी समन्वयात्मक

१– "चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकम् ।
ज्ञानदेहविशेषस्य न च श्लोकाग्निसंभवात् ।।

प्रवृत्ति के कारण हिन्दू धर्म और संस्कृति के साथ अत्यन्त मेल के साथ रहा है। परिणामतः आचार्य सोमदेव आदि कुछ जैन आचार्यों ने लोकव्यवहार के लिए वर्ण-व्यवस्था तथा स्मृत्यनुमोदित वर्ण विभाजन को स्वीकार किया है।[1] यहाँ तक ही नहीं आचार्य जिनसेन ने तो आदिपुराण में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की उत्पत्ति वृत्तियों के आधार पर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा बतलाई है और ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति उनके पुत्र भरतचक्रवर्ती द्वारा बतलाई है। उनके अनुसार तीर्थंकर ऋषभदेव ने घोषित किया कि जो व्यवस्था के अनुसार अपनी आजीविका नहीं करेगा, वह राज्य द्वारा दण्डित किया जाएगा। क्योंकि ऐसा न करने से वर्ण-संकरता आ जायेगी और समाज की व्यवस्था नहीं चल सकेगी।[2] इस प्रकार कुछ जैनाचार्यों ने वर्णव्यवस्था का समर्थन किया है।

पार्श्वनाथचरित में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कुछ अनार्य जातियों का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों का समाज में सम्माननीय स्थान था। वे यज्ञोपवीत धारण करते थे तथा नित्य जल में स्नानकर संध्यावंदन एवं मन्त्रजाप करते थे।[3] वे सामवेद का गान करके यथेष्ट दान प्राप्त करते थे।[4] ब्राह्मण विद्वान् एवं राजनीतिकुशल होते थे। राजा अरविन्द का मंत्री विश्वभूति ब्राह्मण ही था। वैदिक और श्रमण दोनों ही सम्प्रदायों में संभवतः ब्राह्मण वर्ग मौजूद था। राजा अरविन्द का मंत्री विश्वभूति श्रमणसम्प्रदायी ब्राह्मण था। वृद्धावस्था में जैनी दीक्षा धारण कर तप के लिए वन में जाना इस बात का समर्थक है।[5]

राजा लोग प्रायः क्षत्रिय होते थे। वे निरभिमानी कुलीन होते थे तथा मूर्खों की संगति से बचते थे। अश्वपुर का राजा वज्रवीर्य इन गुणों से सम्पन्न था।[6] वैश्य के लिए सार्थवासि[7] और वणिक्[8] शब्द का प्रयोग हुआ है। इस वर्ण में व्यापारी वर्ग अधिक था। ये धार्मिक स्थानों की यात्रा के लिए आजकल की तरह उस समय भी

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तु देवाः ब्राह्मणं विदुः॥"

—पद्मपुराण, ११।१९४,२०३।

१- "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः।" —नीतिवाक्यामृत, ५।६।

२- द्रष्टव्य-आदिपुराण, १६।२४३-२४८।

३- पार्श्वनाथचरित ६।६०।

४- वही, ४।१३६।

५- वही, १।६१-६३।

६- वही, ४।७०।

७- वही, ३।६३,६४,६६।

८- वही, ३।७५।

संघ बनाकर जाते थे। अरविन्द मुनिराज के साथ शिखरसम्मेद को जाने वाले संघ में शशिगुप्त आदि प्रधान वणिक् भी थे।[१] यद्यपि ये वणिक् धर्मकथाश्रवण भी करते थे। परन्तु यथार्थ में उनका उद्देश्य व्यापार ही होता था। वणिक् समय का फायदा उठाकर वस्तुओं की कीमतें बढ़ा देते थे। ठंड के दिनों में जब कंबलों की बिक्री अधिक होने लगी तो वणिकों ने उन पर अपने लाभ को चौगुना बढ़ा दिया।[२]

अनार्य जातियों में शबर[३], म्लेच्छ[४], किरात[५], वनेचर[६] आदि जातियों का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में हुआ है। ये गुणहीन जंगल में रहने वाली जातियाँ हैं। इन अनार्य जातियों के अतिरिक्त नीच, धूलिधूसरित शरीर वाले, अस्पृश्य चाण्डालों का संकेत भी पार्श्वनाथचरित में मिलता है।[७] इस प्रकार तत्कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव का पता चलता है।

आश्रमव्यवस्था :

सामान्यतः लोगों की यह धारणा है कि वर्ण और आश्रम दोनों व्यवस्थाओं का संबंध वैदिक परम्परा से है और जैन धर्म में इन दोनों व्यवस्थाओं का विरोध किया गया है। किन्तु आश्रमव्यवस्था के विरोध की तो बात ही क्या? मुख्य रूप से आश्रमव्यवस्था का संबंध श्रमण परम्परा से ही है। श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य ने इस संबंध में लिखा है कि—

'वैदिक धर्म में चार आश्रमों की व्यवस्था बहुत बाद में आई है और चौथे सन्यास आश्रम के प्रति उनकी आस्था नहीं रही है श्रमणों की परम्परा बहुत प्राचीन है और आश्रम शब्द भी उसी धातु से निष्पन्न हुआ है जिससे श्रमण। अतः आश्रमों का संबन्ध श्रमणों से ही जान पड़ता है।'[८]

जैनाचार्य सोमदेव ने आश्रमों को चार भागों में विभक्त किया है—

१– पार्श्वनाथचरित ३।६४।

२– "गुणमच्छतया तुषारदोषादलभन्नवरवन्नवांबराणि।
नवकंबलविक्रयस्तु लाभं प्रददौ मूल्यचतुर्गुणं वणिग्भ्यः॥"
—पार्श्वनाथचरित, ५।३६।

३– वही, २।७३। ४– वही, ७।१२५।

५– वही, २।८०,५।५५। ६– वही, २।६३।

७– वही, ५।७६,८२।

८– "ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः।"
—नीतिवाक्यामृत, ५।७।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ।[१] पार्श्वनाथचरित के आन्तरिक अनुशीलन से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में आश्रमव्यवस्था विद्यमान थी। प्रथम अवस्था में व्यक्तिपूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करता था। वज्रनाभ की प्रथम अवस्था इसी प्रकार व्यतीत हुई।[३] राजा वज्रबाहु तृतीय अवस्था के आ जाने पर अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर स्वयं तपस्या के लिए वन में चला जाता है।[२] वृद्धावस्था आ जाने पर मंत्री विश्वभूति भी राजा से अनुमति प्राप्त करने के बाद वन को चला जाता है।[४]

पारिवारिक संबन्ध :

परिवार शब्द परि उपसर्ग पूर्वक वृ धातु से घञ् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ है समूह। अर्थात् परिवार व्यक्तियों का समूह या संगठन है । भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है। इसलिए यहाँ संयुक्त परिवारों की परम्परा रही है। अतः परिवार के सदस्यों में संबंध होना स्वाभाविक है। पार्श्वनाथचरित में पारिवारिक संबंधों के तीन घटकों–दाम्पत्य, पितृ–सन्तति तथा सोदर पर प्रकाश डाला गया है।

दाम्पत्य जीवन के कटु और मधुर उभयविध संबंधों का विवेचन पार्श्वनाथ-चरित में हुआ है। महाराज वज्रवीर्य और महारानी विजया के संबंध अत्यन्त मधुर और सुखमय हैं।[२] किन्तु मरुभूति और वसुन्धरा के संबंध को कटु एवं दुखमय ही कहा जाएगा। वसुन्धरा को पता है कि कमठ काम–पीड़ित है, फिर भी वह कमठ के मित्र कलहंस के कहने पर कमठ के पास चली जाती है। मरुभूति की अनुपस्थिति में वह आरंभ में विरोध करने पर भी काम के वशीभूत होकर अन्ततः अपने पति के अग्रज कमठ के समक्ष आत्मसमर्पण कर देती है।[५]

पितृसन्तति के अन्तर्गत माता–पिता के अपनी सन्तान के प्रति और माता-पिता के प्रति संबंध आते हैं। सन्तानप्राप्ति माता–पिता को अत्यन्त आनन्ददायक होती है। वज्रवीर्य की महारानी विजया ने जब पुत्ररत्न को जन्म दिया तो उस

१– द्रष्टव्य–पार्श्वनाथचरित, पंचम अध्याय।

२– "ततस्तृतीये जरयापहास्ये विरक्तचेताः वयसि क्षितीशः।
सितातपत्रं स्वसुताय दत्वा वनं तपस्थानरुचिः प्रतस्थे ॥"
—वही, ८।१००।

३– वही, ९।६१–६३।

४– नीतिवाक्यामृत, ४।१०५।

५– पार्श्वनाथचरित, २।३१–४५।

समय मनाये गये पुत्रोत्पत्ति-उत्सव का बड़ा ही रम्य वर्णन पार्श्वनाथचरित में किया गया है।[1] सन्तान के प्रति माता-पिता का जैसा प्यार था, सन्तान भी उसी तरह माता-पिता पर श्रद्धा करती थी। विश्वभूति के वन में तपस्या के लिए प्रस्थान करते समय उसके दोनों पुत्र कमठ और मरुभूति उसका अनुसरण करने लगते हैं।[2] इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में पितृ-सन्तति के मधुर सम्बन्धों का चित्रण हुआ है।

सोदर संबंध के अन्तर्गत भाई-भाई का, बहिन-भाई का और बहिन-बहिन का संबंध आता है। पार्श्वनाथचरित में केवल भाई-भाई के संबंधों का निर्देश मिलता है। एक ओर मरुभूति जैसा भाई है जो अपने दुष्ट एवं व्यभिचारी भाई के वियोग को भी सहन नहीं कर पाता है और उसे ढूंढने के लिए वन की ओर चला जाता है, जबकि राजा ने उसे वहाँ जाने के लिये रोका है।[3] अन्ततः वह प्राणों से भी हाथ धो बैठता है। दूसरी ओर कमठ जैसा दुष्ट भाई है, जो अपने अनुज की पत्नी के साथ दुराचार करता है तथा अपने भाई की जान ले डालता है।[4] इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में भाई-भाई के कटु और मधुर संबन्धों का वर्णन हुआ है।

पार्श्वनाथचरित में भाई-बहिन और बहिन-बहिन के संबंधों का चित्रण नहीं हुआ है। वादिराज ने यशोधरचरित में अवश्य अभयरुचि और अभयमती नामक भाई-बहिन के अपार स्नेह का चित्रण किया है। यहाँ तक कि वे दोनों एक साथ दीक्षा भी ले लेते हैं।[5]

संस्कार :

संस्कार से तात्पर्य उन धार्मिक कृत्यों से है, जिनका अनुष्ठान व्यक्तित्व की शुद्धि के लिए आवश्यक माना जाता है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में पचास से भी अधिक संस्कारों का विवेचन किया है।[6] किन्तु पार्श्वनाथचरित में कुछ ही संस्कारों का निर्देश मिलता है।

(१) पुंसवन : यह एक गर्भकालीन संस्कार है। गर्भधारण के निश्चय के अनन्तर गर्भस्थ शिशु को इस संस्कार के द्वारा अनुष्ठानित किया जाता है। इस

१- पार्श्वनाथचरित, ४।१२५-१३६।

२- वही, १।९३।

३- वही, १।९३।

४- वही, ३।१६।

५- द्र० यशोधरचरित, चतुर्थ सर्ग।

६- आदिपुराण।

संस्कार में पुंसन्तति होने की भावना निहित रहती है। यह संस्कार गर्भधारण के तीसरे माह में किया जाता है। पार्श्वनाथचरित में विजयारानी के गर्भधारण के के अनन्तर पुंसवन संस्कार का वर्णन मिलता है। कवि कहता है कि—

'अन्दर खजाने को धारण करने वाली पृथिवी की तरह बढ़े हुए गर्भ वाली उस रानी का राजा ने अनेक जप होम क्रियाओं से अलग-अलग रक्षाकार्यों को किया। क्रमशः पुंसवन आदि क्रियाओं को करने वाला वह पराक्रमी राजा दोहदभेद को जानकर सखीजनों से उस सुनयनी के बारे में पूछकर सत्पुत्र के निर्णय को सुनता हुआ अत्यन्त हर्षित हुआ।[1]

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पुंसवन संस्कार के पूर्व अनेक जपहोम आदि क्रियायें भी होती थीं। दोहद को जानकर लोग यह भी अनुमान लगा लेते थे कि सन्तति पुरुष होगी या स्त्री।

(२) सीमन्तोन्नयन : यह भी एक गर्भकालीन संस्कार है। यह संस्कार गर्भधारण के सातवें माह में किया जाता है। कुछ अमंगलकारी शक्तियाँ गर्भिणी स्त्री को परेशान करती हैं, उन्हीं शक्तियों को दूर हटाने या शान्त करने की भावना इस संस्कार में निहित है। यद्यपि इस संस्कार का स्पष्ट रूप से उल्लेख पार्श्वनाथचरित में नहीं हुआ है। किन्तु 'पुंसवनादि' पद में आदि पद से इसी संस्कार का ग्रहण अपेक्षित है। क्योंकि पुंसवन के बाद होने वाला यही संस्कार है, जो आज भी प्रचलित है।

(३) पुत्रोत्पत्ति : गर्भोत्तरकालीन संस्कारों में सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण संस्कार पुत्रोत्पत्ति है। पुत्रोत्पत्ति के बाद अनेक तरह के उत्सव मनाये जाते हैं। राजघरानों में इसका अधिक प्रचलन रहा है। इस अवसर पर राजा बहुमूल्य रत्नाभूषणों का दान देते थे। दुखियों में धन बांटते थे और कैदियों को कैद से मुक्त कर देते थे।[2] राजपुत्र की उत्पत्ति का उत्सव केवल राजघराने में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण

१- "उद्गूढगर्भा दयितां प्रजापतिर्निधानगर्भामिव भूतधारिणीम्।
अनेकविद्याजपहोमकर्मभिर्विभक्तरक्षावधिरन्ववर्तत ॥
प्रवर्तिता पुंसवनादिषु क्रमात् स विक्रमी दोहलभेदमाहितः।
प्रपृच्छ्यशृण्वन् सुदृशः सखीजनाज्जहर्ष सत्पुत्रविनिर्णयावहम् ॥"
—पार्श्व०, ४।१११-११२।

२- "अनेकवस्त्राभरणैर्विशांपतिः प्रतोष्य चेटीं द्विजदीनदानवैः।
विमुच्य जीवानपि बंधनास्थितांश्चकार तस्मिन्नगरे महोत्सवम् ॥"— वही, ४।१२६।

नगर में मनाया जाता था ।[1]

(४) नामकर्म : गर्भोत्तरकालीन संस्कारों में पुत्रोत्पत्ति के बाद होने वाला नामकर्म भी अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार है । शूतकशुद्धि के दो दिन बाद यह संस्कार मनाया जाता है । इसके लिए शुभ दिन और शुभ मुहूर्त भी देखा जाता है । पार्श्वनाथचरित में नामकर्म का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'इसके बाद शुभ दिन, शुभ मुहूर्त में नीतिशास्त्रवेत्ता बुजुर्ग मन्त्रियों के साथ महाराज ने अपने प्रिय पुत्र का नाम सभी की सलाहपूर्वक 'वज्रनाभ' रख दिया ।'[2]

(५) चौलकर्म : बालक के विद्यारंभ के पूर्व चौलकर्म संस्कार किया जाता था । चौलकर्म संस्कार में बालक के शरीर में सौन्दर्य को निखारने के लिए बालक का मुण्डन आवश्यक माना गया है । इसके क्रिया-कलापों का विधान नामकरण के तरह ही है । पार्श्वनाथचरित में चौलकर्म संस्कार का उल्लेख हुआ है ।[3] चौल कर्म के बाद उपनयन संस्कार का विधान है । परन्तु पार्श्वनाथचरित में इसका उल्लेख नहीं हुआ है ।

(६) विद्यारंभ : यह मानव जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है । क्योंकि यह ज्ञानार्जन की नींव है । पार्श्वनाथचरित में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—

'चौलकर्म संस्कार हो जाने के बाद प्रसिद्धि को प्राप्त अपने पिता की आज्ञा से उस बालक ने गुणी सज्जन पुरुषों की संगति में रहने वाले निरन्तर वृद्धि को प्राप्त अपनी तरह गुण एवं साधु संधियों से युक्त प्रथम कथित वृद्धिभाव से शुद्ध व्याकरण-शास्त्र को पढ़ लिया ।'[4]

उक्त उल्लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया जाता था ।

(७) दारकर्म : मानव जीवन में विवाह या दारकर्म अतीव आवश्यक है । आचार्य कौटिल्य का कहना है कि संसार के समस्त व्यवहार विवाहपूर्वक होते हैं ।[5]

१- पार्श्व०, ४।१२७-१३९।

२- "शुभदिनसमवाये लग्नशुद्धावमात्यैरधिगतनयमार्गैर्वर्षवृद्धैश्च सार्धम् ।
अभिमतमतिसृज्य प्रीणयत्प्राणिवर्गं तनयमकृत नाम्ना वज्रनाभं स भूपः ॥"
—वही, ४।१४०।

३-४ "गुणवत्प्रतिपन्नसाधुसंधि प्रथमोदीरितवृद्धिभावशुद्धम् ।
प्रथतः पितुराज्ञयाऽध्यगीष्ट स्वसमं व्याकरणं सवृत्तचौलः ॥" —वही, ५।४।

५- "विवाहपूर्वो व्यवहारः ।" —कौटिलीय-अर्थशास्त्र, ३।२।

आदिपुराण में विवाह की आवश्यकता बतलाते हुए सन्तानोत्पत्ति के लिए दारपरिग्रह को आवश्यक बतलाया है।[1] सोमदेव के अनुसार यह संस्कार अग्निदेव और द्विज की साक्षीपूर्वक होना चाहिए।[2] यह संस्कार विद्याध्ययन के बाद होता है। पार्श्वनाथचरित में इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है। जब राजकुमार वज्रनाभ ने सभी विद्याओं का अध्ययन कर लिया तो उसका अनेक कन्याओं के साथ विवाह कर दिया गया।[3] उस समय राजा महाराजाओं को अनेक विवाह करना शास्त्रविहित था।

(८) **मृत्यु–संस्कार :** पार्श्वनाथचरित में स्पष्ट रूप से इस संस्कार का उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु पार्श्वनाथचरित के अन्तःविश्लेषण से इसका भी पता चलता है, क्योंकि पति के परलोकवास के बाद पत्नी स्नान करती थी।[4]

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक संस्कारों का प्रतिपादन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि जैनों ने भी इन संस्कारों की सामाजिक महत्ता को स्वीकार किया है।

मनोवैज्ञानिकों की धारणा के अनुसार माता की भावनाओं का गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव पड़ता है। गर्भकालीन संस्कारों में माता को प्रसन्न रखने की भावना निहित है, ताकि गर्भस्थ शिशु पर अच्छा प्रभाव पड़े। गर्भोत्तरकालीन संस्कारों के द्वारा बालक के अर्धचेतन मस्तिष्क पर स्वच्छ प्रभाव डालने की भावना रहती है। विवाह या दारकर्म संस्कार सन्तानोत्पत्ति के साथ ही कामवासना को सीमित करने का साधन भी है। अतएव इन संस्कारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व है।

जीवन–पद्धति :

(१) **खान-पान :** पार्श्वनाथचरित में निरामिष और सामिष दोनों तरह के

१– द्रष्टव्य—आदिपुराण, १५।६२-६४।

२– "युक्तितौ वरणविधानमग्निद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः।"
—नीतिवाक्यामृत, ३।२।

३– "तरुणीः परिणीय ताः स भोगी पृथुलावण्यमयं गुणं दधानाः।
मदनं समुपाश्रितं पुपोष प्रकृतिस्तस्य हि संश्रिताभिरक्षा॥"
—पार्श्व॰ ५।२३।

४– "अनुतटमरुणप्रभामणीनां वनसरितस्तु बभौ तदैव खेदात्।
सवितरि परलोकिनि स्वकान्ते जलमवनाहितुमागतेव संध्या॥"
वही, ६।६२।

भोजन का वर्णन है। सामान्यत: सर्वसाधारण का भोजन निरामिष ही था। दक्षिण भारत का ओदनप्रमुख भोजन है। वादिराज भी दाक्षिणात्य थे, अतएव उनका भी ओदन भात) के प्रति लगाव दृष्टिगोचर होता है। पोदनपुर नगर का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि— 'वहाँ राहगीरों को बिना किसी प्रयत्न के निर्मूल्य ओदन मिल जाता था।[1] कृषि में धान्य का अनेक बार उल्लेख हुआ है। शालि[2], सस्य[3], धान्य[4], कलम[5] आदि चावल की अनेक किस्मों का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में हुआ है। शालि धान्य का वह प्रकार है, जिसका पौधा रोपकर लगाया जाता है। यह हेमन्त-ऋतु में तैयार हो जाता है। यह उत्तमकोटि का स्वादिष्ट तथा पौष्टिक धान्य है। चक्रवर्ती वज्रनाभ को ग्रामवासी लोगों ने शालि धान्य के चावलों के ढेर के ढेर भेंटस्वरूप प्रदान किये थे।[6] सस्य धान्य वर्षा ऋतु में भादों या आश्विन में तैयार होता है। लघुकोद्रव[7] (कोदों) का उल्लेख भी पार्श्वनाथचरित में हुआ है। यह एक छोटा अनाज है, जिसमें मादकता अधिक होती है। निर्धन लोग इसे खाते हैं। जंगली जातियों में मांसाहार का प्रचलन था।[8]

पेय रसों में इक्षुरस का उल्लेख हुआ है। पोदनपुर नगर के वर्णन में कहा गया है कि परिपक्व ईख के फट जाने से निकलता हुआ रस पथिकों की तृषा की तृप्ति करता था।[9] मदिरापान का तो पार्श्वनाथचरित में अनेक बार उल्लेख हुआ है।[10] विशेष उत्सव आदि के अवसर पर इसका पान मुख्य रूप से होता था।

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में निरामिष और सामिष उभयविध भोजन का तथा पेयरसों में इक्षुरस और मदिरापान का उल्लेख हुआ।

(२) वेशभूषा : अधोवस्त्र और ऊर्ध्ववस्त्र के रूप में सामान्यत: दो वस्त्रों का

१– "कृतपुण्यजनाकीर्णं पुरं तत्रास्ति पोदनम्।
पान्था यस्मिन्नयत्नेन प्राप्नुवन्ति कृपौदनम्॥"—पार्श्वनाथचरित १।४८।

२– वही, १।३८,४०। ३– वही, १।४१।

४– वही, १।३९ ५– वही, ६।६४।

६– "पामरैः स ददृशे भयादुपग्रामवर्तिभिरुपेत्य चक्रभृत्।
क्षेत्रदः सुरभिशालितण्डुलस्तोमहेमनिवहाद्युपायनैः॥" —वही, ६।३३।

७– वही, ३।३३। ८– वही, ३।३६।

९– "इक्षवो यत्र वाटेषु पाकभंगगलद्रसाः।
प्रवाहाय प्रकल्प्यन्ते पांथक्लमतृषामुखे॥" —वही, १।४३।

१०– द्र० वही, ६।१०४–१०८, ८।३५।

उपयोग उस समय किया जाता था। दुकूल[1] और उत्तरीय एवं उत्तरच्छद[2] शब्दों के प्रयोग इसी ओर संकेत करते हैं। इसी तरह जघन से वस्त्र का गिरना[3] आदि से भी अधोवस्त्र के पार्थक्य का बोध होता है। स्त्रियाँ अत्यन्त महीन वस्त्रों का भी प्रयोग करती थीं।[4] वे वस्त्र इतने महीन होते थे कि उनकी जंघायें स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती थीं।[5] जलक्रीडा के प्रसंग में इस तरह के वस्त्रों का बहुशः उल्लेख हुआ है। तपस्वी, योद्धा, राजा, राजकुमार, अभिसारिका, विट आदि की समयानुकूल अलग-अलग वेशभूषा होती थी।

तपस्वी वृक्षों की छाल[6], योद्धा युद्धस्थल में कवच तथा राजा श्वेतच्छत्र धारण करते थे।[7] राजकुमार रश्मिवेग को सुन्दर हार पहिने हुए, चन्दन का लेप किये हुए, विकसित मल्लिका पुष्पों का आभूषण एवं श्वेत दुकूल से सुशोभित वर्णित किया गया है।[8] वेश्या, विट, अभिसारिका आदि की वेशभूषा कुछ भिन्न होती थी। विट अंधियारी रात्रि में काले वस्त्र ओढ़ते थे तथा मल्लिका पुष्पों की माला धारण करते थे।[9] वियोगिनी स्त्रियाँ मलिन वस्त्र ही धारण करती थीं।[10]

(३) **आवास** : खानपान के बाद आवास मानव की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। पार्श्वनाथचरित के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय ऋतुओं से सुरक्षा की दृष्टि से भिन्न-भिन्न तरह के आवास होते थे। किन्तु ये सुविधायें राजा महाराजाओं को ही उपलब्ध थीं। गर्मी के दिनों में सूर्य के ताप से रक्षा के लिए गर्भगृह थे, जो चन्द्रमा की तरह शीतल मणियों से निर्मित थे।[11] सामान्य नागरिक भी अच्छे भवनों में रहते थे। भवनों का आकार-प्रकार, उन्नति एवं साजसज्जा इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।[12]

(४) **उत्सव एवं मनोविनोद** : उत्सवों और मनोविनोद के साधनों का बड़ा

१- पार्श्वनाथचरित, ४।२२।

२- वहीं, ८।६२, ४।१३२

३- वही, ६।१४, ८।३२।

४- वही, ४।१३१।

५- वही, ८।५४।

६- वही, ३।१९।

७- वही, ११।०५।

८- "सहारचक्षुः परिदिग्धचन्दनोऽवतंसयन्नुद्धिकचाः समल्लिकाः।
स्वचित्तशुद्धयेव बहिर्विबृद्धया व्यमूल्यतां पांडुदुकूलमंडनः॥" —वही, ४।३२।

९- वही, ६।६८।

१०- वही, ५।८४।

११- वही, ५।७५।

१२- द्र० पोदनपुर एवं अश्वपुर नगर का वर्णन, पार्श्वनाथचरित, प्रथम एवं चतुर्थ सर्ग।

ही महत्त्व है। पार्श्वनाथचरित में राज्याभिषेक[1], विजय[2], पुत्रोत्पत्ति[3] आदि के समय अनेक उत्सवों का आयोजन वर्णित हुआ है। मनोविनोद के साधनों में नृत्य, गीत, वाद्य, प्रहासगोष्ठियां, जलक्रीड़ा आदि का चित्रण किया गया है। नृत्यगीत और वाद्यों का उस समय पर्याप्त प्रचार मालूम पड़ता है। आनंद के प्रत्येक अवसर पर स्त्रियाँ गीत गाती, नाचती और बाजे बजाती थीं। नृत्य करते समय तो वे अपनी सुधबुध खो देती थीं। नाचते-नाचते कभी-कभी तो उनके कटिभाग से वस्त्र भी गिर जाता था फिर भी ध्यान न रहने से वे नृत्यरत रहती थीं।[4] प्रहासगोष्ठियां होती थीं, जिनमें मद्यपान भी खूब होता था।[5] पार्श्वनाथचरित में नृत्य एवं संगीत के समय एवं अन्य अवसरों पर स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होने वाले वाद्यों में वल्लकी[6], पटह[7], वेण[8], वीणा[9], दुंदुभि[10], पणव[11], तुणव[12], मंजीर[13], ढक्का[14] आदि का वर्णन हुआ है। मनोविनोद के साधनों में जलक्रीड़ा का भी महत्वपूर्ण स्थान था। पंचम सर्ग में जल-क्रीड़ा का विस्तृत विवेचन है। वारांगनायें एवं गणिकायें भी उत्सवादि के समय मनोविनोद के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं और भड़ुवा उनका साथ देते थे।[15] उक्त साधनों के अतिरिक्त मनोरंजन के लिए लोग अपने घरों में उद्यान भी रखते थे, जिन्हें गृहोद्यान (गृहाराम) कहा जाता था।[16] झूला झूलना भी मनोरंजन के साधनों में एक था।[17]

(५) आभूषण एवं प्रसाधन : पार्श्वनाथचरित में जहाँ एक ओर त्याग की भावना पर बल दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक सम्पन्नता का अतिशय दृष्टिगोचर होता है। राजा महाराजाओं का ही नहीं, सामान्य लोगों का जीवन भी उस समय समृद्ध था। सुरम्य देश का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वहाँ पर कोई भी मनुष्य एक दूसरे की सम्पत्ति की स्पृहा नहीं करता था।[18] समाज की ऐसी सम्पन्नता में सौन्दर्य एवं भोग विलास की सामग्री का अतिशय्य स्वाभाविक है।

पार्श्वनाथचरित में शरीर को अलंकृत करने वाले अनेक आभूषणों और

१- पार्श्वनाथचरित, ५।२४-२६। २- वही, १।११५। ३- वही, ४।१२६-१३८।
४- वही, ४।१३४-१३५। ५- वही, ६।१०३। ६- वही, ८।८४।
७- वही, १०।६६। ८- वही, ११।३३। ९- वही, ११।३३।
१०- वही, ११।३२। ११- वही, ६।५४। १२- वही, ६।५४।
१३- वही, ७।८६। १४- वही, ६।१६। १५- वही, ४।१३१।
१६- वही, १।५५। १७- वही, ५।५६। १८- वही, १।४७।

प्रसाधनों का उल्लेख हुआ है। कर्ण के आभूषणों में कुण्डल[1], अवतंस[2], कण्ठाभूषणों में मणिहार[3], मुक्ताहार[4], कराभूषणों में वलय[5], अंगद[6], कटि के आभूषणों में कांची[7], कांचनमेखला[8], मणिमेखला[9], रत्नमेखला[10], पदाभूषणों में किंकिणी[11], मणिनूपुर[12], नूपुर[13] आदि आभूषणों का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में मिलता है। इसी प्रकार शिरोभूषण में रत्नमुकुट[14], मणिमुकुट[15] आदि का उल्लेख हुआ है। पार्श्वनाथ-चरित में सोलह आभूषणों[16] एवं चौदह आभूषणों[17] का निर्देश मिलता है। तिलोय-पण्णती में इनके नाम निम्नलिखित प्रकार से निर्दिष्ट हैं—(१) कुंडल, (२) अंगद, (३) हार, (४) मुकुट, (५) केयूर, (६) भालपट्ट, (७) कटक, (८) प्रालंब, (९) सूत्र, (१०) नूपुर, (११) मुद्रिकायुगल, (१२) मेखला, (१३) ग्रैवेयक, (१४) कर्णपूर, (१५) खड्ग और (१६) छुरी।[18] इन आभूषणों में से अन्तिम को खड्ग और छुरी को अलग कर देने से शेष चौदह आभूषण स्त्रियों के भी होते हैं। राजा-महाराजा लोग श्वेत आतपत्र, सिंहासन, चामर आदि का उपयोग करते थे।[19] विलास की सामग्री में पान (ताम्बूल) का मुख्य स्थान था।[20] प्रसाधनों में चन्दन-लेप[21], केसरलेप[22], आम्रपल्लव[23] केसरपत्र[24], कमलिनीपत्र[25], पद्मकुड्मल[26], कुंकुमलेप[27], अंजन[28], दर्पण[29] आदि का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में हुआ है। उक्त आभूषणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पुष्पों से निर्मित आभूषणों तथा पुष्पों को धारण करने का उल्लेख मिलता है।

(६) आवागमन के साधन : आवागमन के साधनों में रथ[30], हाथी[31], घोड़ा[32],

१- पार्श्वनाथचरित ३।५९। २- वही, ५।७८। ३- वही, ३।५९।
४- वही, ४।९४। ५- वही, ४।९८। ६- वही, ३।५९।
७- वही, २।११। ८- वही, २।४३। ९- वही, ४।६५।
१०- वही, ४।९०। ११- वही, ३।११९। १२- वही, ६।२५।
१३- वही, ४।८४। १४- ४।१५,६।११। १५- वही, ५।१०७।
१६- वही, ३।१०९। १७- वही७।११८।
१८- तिलोयपण्णत्ती, ४।३६१-३६४।
१९- पार्श्वनाथचरित,७।११७,१५९ २०- वही, ६।२२। २१- वही, ४।३२।
२२- वही, ६।२२। २३- वही, ८।१९। २४- वही, ८।२०
२५- वही, ७।२९। २६- वही, ८।५२। २७- वही, ८।६७।
२८- वही, ६।७६। २९- वही, ७।११२, ९।३२।
३०- वही, ६।५,७।३५,३७।
३१- वही, ६।२२। ३२- वही, ६।२१।

अश्वतर[1] (टट्टू) पालकी[2] आदि का उल्लेख हुआ है। बैलगाड़ियाँ माल ढोने तथा वाहनों के रूप में काम आती थीं।[3] अश्व-सवारी के उपकरण पर्याणक आदि का उल्लेख भी पार्श्वनाथचरित में हुआ है।[4]

(६) **सामाजिक प्रथायें :** सामाजिक प्रथाओं के अन्तर्गत पर्दाप्रथा, बहुपत्नी-प्रथा आदि का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में मिलता है। बहुपत्नीप्रथा का प्रचलन राजाओं में अधिक था। विद्युद्वेग की अनेक रानियों का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि—

"यद्यपि उसकी अनेक रानियाँ थीं, किन्तु वह अपने यौवन का आनन्द विद्युन्माला के साथ ही लेता था। जैसे कि नदन वन में यद्यपि बहुत सी लतायें होती हैं, किन्तु उसकी शोभा का कारण कल्पलता ही है।"[5] अन्य भी अनेक स्थानों पर बहुपत्नीत्व का उल्लेख हुआ है। जलक्रीड़ा के प्रसंग में किसी पुरुष के वर्णन में कवि ने उसकी तीन पत्नियों का उल्लेख किया है।[6] इससे यह स्पष्ट है कि साधारण जन भी एकाधिक पत्नियाँ रख सकते थे। रक्तसूर्य के वर्णन के प्रसंग में बलिप्रथा का भी संकेत मिलता है।[7]

(७) **शिष्टाचार :** पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज में कुलवृद्धों का आदर था। राजा लोग भी कुलवृद्धों की बात मानते थे और उनका आदर करते थे। जब मागध व्यन्तरराज चक्रवर्ती वज्रनाभ के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लेता है तो कुछ कुलवृद्ध उसे इस तरह के बिना विचार के कार्य से रोकते हैं। व्यन्तरराज कुलवृद्धों के वचनों को आप्तभाषित मानकर युद्ध का विचार छोड़ देता है।[8] पति के आगमन पर पत्नी खड़े होकर उसको प्रणाम निवेदन करती थी। जब राजा वज्रवीर्य आते हैं तो रानी विजया गर्भिणी होने पर भी सखियों का हाथ पकड़कर खड़ी होती है और हाथ जोड़कर प्रणाम निवेदन करती

१- पार्श्वनाथचरित, ६।२३ २- वही, ११।३६।
३- वही, ६।२६। ४- वही, ६।२८।
५- वही, ४।१८।
६- वही, ८।५८।
७- "तमोमहिषमाहृत्य बलिहारं दिशामिव।
तस्यासृग्भिश्चकारार्कः प्रसरल्लोहितच्छविः ॥" —वही, ७।८।
८- पार्श्वनाथचरित, ७।८२-८८।

है ।[1] इसी तरह अतिथि सत्कार[2] एवं शरणागत रक्षा[3] का भी संकेत पार्श्वनाथचरित में मिलता है, जो शिष्टाचार के अन्तर्गत आते हैं ।

(८) जीविकोपार्जन के साधन :—जीविकोपार्जन के साधनों में कृषि का उल्लेख पार्श्वनाथचरित में बहुशः हुआ है ।[4] इसके अतिरिक्त व्यापार[5] एवं दुकानदारी[6] का भी वर्णन मिलता है। चिकित्सा की सुविधायें भी उस समय उपलब्ध थी ।[7] संभवतः वैद्य भी निश्चित शुल्क के साथ ही चिकित्सा करते रहे होंगे ।

नारी का स्थान :

नर नारी के विना अपूर्ण है और नारी नर के विना । जीवन के लिए नर और नारी परस्पर पूरक हैं मानवसृष्टि रूपी गाड़ी के लिए नर और नारी दोनों पहिये हैं । नारी का पद अत्यन्त उच्च एवं प्रशंसनीय है । वह गृहिणी अर्थात् घर की स्वामिनी होती है । पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से नारी के दो रूप हमारे समक्ष आते हैं । एक ओर महारानी विजया जैसी नारी है । जो अपने पतिकुल की मर्यादाओं के पालन के साथ शिष्टाचार का भी ध्यान रखती है ।[8] दूसरी ओर वसुन्धरा जैसी विश्वासघातिनी नारी है, जो पति की अनुपस्थिति में कामाभिभूत होकर दुराचार करती है ।[9]

नारी की परतंत्रता का भी रूप तत्कालीन समाज में दृष्टिगोचर होता है । नारी को दान के रूप में दे दिया जाता था ।[10] आज भी नारी का जीवन विवाह के पूर्व पिता और विवाह के पश्चात् बहुत कुछ पति पर आधारित है । नारी के पारतन्त्र्य में बहुविवाह प्रथा को भी कारण माना जा सकता है । सपत्नी की स्थिति अच्छी नहीं रहती थी । नारी के अन्य रूपों में गणिका, वेश्या आदि का पर्याप्त विवेचन पार्श्वनाथचरित में हुआ है । नारी के इस पारतन्त्र्य के बाद भी नारी-वर्ग में शिक्षा की कमी नहीं थी । कामशास्त्र में वे अत्यन्त विदग्ध होती थीं ।[11] युद्धादि

१– "सखीप्रकोष्ठं प्रातगृह्य गर्भिणीं कथंचिदुत्थाय कृतांजलिक्रियाम् ।
नृपः कृपाहर्षविमिश्रया दृशा गृहागतो वै क्षणमैक्षत प्रियाम् ।।"
—पार्श्वनाथचरित, ४।११०।

२– वही, ८।४९ ।
३– वही, ४।७४।
४– वही, १।४३, ५।११० आदि ।
५– वही, ३।६२, ५।३९।
६– वही, १।६०।
७– वही, ३।६३, ५।२९।
८– वही, ४।११०।
९– वही, २।४५।
१०– वही, १।६७।
११– द्र० वही, २।२७।

के लिए सेना के प्रयाण में भी स्त्रियाँ जाती थीं। वज्रनाभ भी दिग्विजय के प्रसंग में सेना के साथ स्त्रियों के जाने का भी वर्णन हुआ है।[1] सामाजिक क्षेत्रों में भी नारियाँ पर्याप्त भाग लेती थीं। सार्वजनिक उत्सवों एवं अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोदों में नारी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[2]

कवि की दृष्टि में नारी का स्वभाव गुणज्ञ नहीं होता है।[3] उनका मन काम के वशीभूत जल्दी हो जाता है।[4] वह काम की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर पाती है और मौका मिलने पर अनेक अनर्थ कर डालती है।[5] कवि की दृष्टि में नारी का चरित्रवती होना परम आवश्यक है।

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत वर्णाश्रम व्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्ध, संस्कार, जीवन-पद्धति और नारी जीवन आदि विषयों का चित्रण हुआ है। वादिराज के यशोधरचरित में भी प्रचुर रूप में समाज-चित्रण हुआ है।

(ख) राजनीतिक स्थिति

पार्श्वनाथचरित में राजनीति और शासनव्यवस्था का क्रमबद्ध वर्णन नहीं हुआ है। क्योंकि यह महाकाव्य है, राजनीति का ग्रन्थ नहीं। तथापि इसके अनु-शीलन से तात्कालिक छिटपुट राजनीतिक स्थिति और शासनव्यवस्था का आभास मिलता है।

किसी भी देश में शान्तिव्यवस्था के लिए राज्यसंस्थापना और उसके संचालन की आवश्यकता होती है। सामान्यत: राज्य के संचालन की दो प्रमुख पद्धतियां हैं। वैदिक काल से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक कुछ समय को छोड़कर हमारे देश में राजतंत्रीय शासन पद्धति ही रही है।

पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल १०२५ ई० है। इसके प्रणयन के समय राजतंत्र ही था। इस समय उत्तर भारत में गुर्जर प्रतिहार वंश के यशपाल नामक

१- द्र० पार्श्वनाथचरित, षष्ठ सर्ग।

२- वही, ४।१२६-१३९।

३- "न हि स्त्रीप्रकृतिर्गुणज्ञा।" —वही, २।४७।

४- "स्वभाववश्यं मकरध्वजस्य स्त्रीणां मनः किं नु कृतोपजातम्।" —वही, २।४४।

५- "न कामिनी लंघयति स्मराज्ञां लब्धावकाशा तु न किं करोति।" —वही, २।४५।

राजा का राज्य था। यशपाल के समय १०२३ ई० में मथुरा में एक नवीन जैन मन्दिर का निर्माण हुआ था। ईसा की ११वीं शताब्दी के मध्य में यशपाल की मृत्यु हो गई। यह गुर्जर प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक था।[1] धारा में परमारनरेश सिंधुराज के पुत्र भोज का शासन था। इसने १०१० ई० से १०५३ ई० पर्यन्त राज्य किया।[2] पार्श्वनाथचरित के उल्लेख के अनुसार दक्षिण भारत में चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह का राज्य था। राजा भोज ने जयसिंह के ऊपर अपने चाचा मुंज की मृत्यु का बदला लेने के लिए आक्रमण भी किया था। जयसिंह ने भोज का डटकर मुकाबला किया। पराजय किसी की नहीं हो सकी, क्योंकि दोनों में संधि हो गई।[3]

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वादिराज का समय राजनीति का संक्रमण-काल था। अतः यह कैसे संभव है कि पार्श्वनाथचरित पर उसका प्रभाव न पड़े। अतएव यहाँ पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से प्राप्त निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) राजा :

राजा राजन्) शब्द का शाब्दिक अर्थ शासक होता है। लैटिन में राजा के लिए रेक्स (REX) शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उसी अर्थ का द्योतक है। किन्तु भारतीय परम्परा में राजा की एक विशिष्ट व्याख्या की गई है। शासक को राजा कहने का प्रयोजन यह है कि वह प्रजा का अनुरंजन करता है।[4] अतः 'राजा' की निष्पत्ति राज् + कनिन् की अपेक्षा रञ्ज् + कनिन्, भारतीय परिप्रेक्ष्य में अधिक सटीक है। बौद्धों के पालि साहित्य में भी राजा की यही सैद्धान्तिक व्याख्या उपलब्ध होती है।[5] पार्श्वनाथचरित के अनुशीलन से पता चलता है कि राजा अरविन्द में उक्त सैद्धान्तिक व्याख्या पूर्णरूपेण घटित होती है। वह प्रजा का सदैव ध्यान रखता है। राजा अरविन्द बड़ा तेजस्वी था। अपने तेज के कारण उसने अखिल दिङ्मण्डल पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह कलाओं से सम्पन्न था। धर्माराधना के साथ ही वह काम एवं अर्थ-पुरुषार्थ का भी भोग करता था। वह धनधान्यसम्पन्न, गुणवान्

१- द्र० भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० १६१।

२- द्र० वही, पृ० १६८।

३- वही, पृ० ३१५-३१६।

४- "तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्।" —रघुवंश, ४।१२।

५- "धम्मेन परे रंजेतीति खो वासेट्ठ राजा, राजा त्वेव ततियं अक्खरं उपनिब्बहं।
—दीघनिकायपालि, पथिक वग्ग, अग्गञ्ञ सुत्त, ३।२१, पृ० ७३।

कठोर दण्ड का धारक तथा दानी था वह समदर्शी था, किन्तु उन्नत पुरुषों में अधिक सहानुभूति रखता था।[1] इसी प्रकार अन्य राजाओं के प्रसंग में भी उक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो तरह के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवनकाल में ही पुत्र को राज्यभार सौंप देते थे, जिससे राज्य में गृहयुद्ध की संभावना न रहे। निरपेक्ष राजा अपने जीते राज्य का उत्तराधिकारी किसी को नहीं बनाते थे।[2] पार्श्वनाथचरित में प्रथम प्रकार के सापेक्ष राजाओं की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। राजा अरविन्द ने तपोभार को धारण करने के पूर्व ही राज्यभार पर अपने पुत्र को अभिषिक्त कर दिया था।[3] इसी प्रकार अन्य राजाओं की भी स्थिति दृष्टिगत होती है।

(२) राजा के कर्तव्य :

प्रजा का अनुरंजन करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को इसीलिए राजा कहा है, क्योंकि वह समस्त प्रजा को प्रसन्न रखता था।[4] राजा अरविन्द भी प्रजानुरंजक था। उसने अपनी भुजाओं से प्रजा को दुःख रूपी कूप से निकालने का कार्य किया।[5] शत्रुओं को पराक्रम दिखाना, अपराधियों को कठोर दण्ड देना तथा सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।[6] राजा अरविन्द में उक्त सभी गुण दिखलाई पड़ते हैं।[7]

(३) राजा का उत्तराधिकार :

राजा का उत्तराधिकारी प्रायः उसका ज्येष्ठ पुत्र ही होता था। यही राजतन्त्र की मर्यादा रही है। पार्श्वनाथचरित में भी राजा अरविन्द[8] और सभी अन्य राजाओं के उत्तराधिकारी उनके ज्येष्ठ पुत्र ही हुए हैं।

१– पार्श्वनाथचरित, १।६४–७८।
२– द्रष्टव्य–निशीथसूत्र, सूत्र ७१ गाथा ३३६३ की चूर्णी, पृ० १६८।
३– पार्श्वनाथचरित, ३।५८।
४– महाभारत, शान्तिपर्व, ५९।१२५।
५– पार्श्वनाथचरित, १।७७।
६– "राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।" —नीतिवाक्यामृत, ५।२। एवं द्रष्टव्य–नीतिवाक्यामृत का दण्डनीतिसमुद्देश।
७– पार्श्वनाथचरित, १।६४, १।७०।
८– वही, ३।५८।

(४) मंत्री :

राजतंत्र में राजा सर्वोच्च सत्ता है, किन्तु किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय के पूर्व राजा मंत्रियों से सलाह जरूर लेता है। शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो, फिर भी उसे बिना मन्त्रियों की सहायता के राज्य के किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिए।[१]

पार्श्वनाथचरित में भी गुप्तचर जब कमठ के दुराचार की शिकायत करता है, तो मंत्री मरुभूति उस शिकायत की सत्यता की जाँच के लिए निवेदन करता हुआ कहता है—'हे देव, यद्यपि तुम्हारे अनुचर असह्य दुखदायक दण्ड के भय से मिथ्या बातें नहीं कहते हैं, किन्तु घटना का दृढ़ निश्चय अपराध विशेषज्ञों द्वारा कराया जाये। जब इन्द्रियाँ भी निकटस्थ वस्तु के विषय में धोखा दे देती हैं तो विषमाभि-सन्धि भृत्यों की बात का क्या भरोसा ?'[२] राजा मंत्री की सलाह मानकर घटना की जांच कूर्म नामक अपराध-विशेषज्ञ द्वारा करवाता है।[३] मंत्री राजा का सद्-असद् देखने वाला तीसरे नेत्र के समान माना जाता था।[४] मंत्री की मंत्रणा से शत्रुओं तक की सम्पत्तियां राजा को प्राप्त हो जाती थीं।[५]

(५) मंत्री का उत्तराधिकार :

मंत्री का उत्तराधिकार भी राजा की ही तरह प्रायः वंशानुक्रमिक ही होता था। यदि कभी बड़े पुत्र में कोई अयोग्यता हो अथवा छोटा पुत्र अधिक गुणवान् हो तो राजा छोटे पुत्र को भी मंत्री बना लेता था। कमठ के ज्येष्ठ होने पर भी राजा अरविन्द ने अपना मंत्री अधिक गुणवान् होने से मरुभूति को ही बनाया।[६] यदि किसी आवश्यक या आकस्मिक कार्यवश मंत्री को राजा के साथ ही बाहर जाना पड़े तो राज्यभार मंत्रि-परिवार के किसी सदस्य को भी सौंपा जा सकता था। शत्रु राजा

१- "सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित्॥" —शुक्रनीति, २।२।

२- पार्श्वनाथचरित, २।५५-५७।

३- "तदेति राज्ञा जनतासमक्षं विचिन्वताऽज्ञायि तथा स कूर्मः।
वसुंधरासंवहनाद्यकृत्ये यथा व्यवर्तिष्ट वचो जनस्य॥" —वही, २।५८।

४- वही, १।६७।

५- वही, १।६६।

६- "कमठे सत्यपि ज्येष्ठे तस्य पुत्रं गुणाधिकम्।
मरुभूतिं महीपालः साचिव्ये प्रत्यतिष्ठपत्॥" —वही, १।६४।

वज्रवीर पर युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय मंत्री मरुभूति को साथ ले जाने से राजा अरविन्द ने राज्य भार मंत्री के अग्रज कमठ को सौंप दिया ।[1]

(६) युवराज और यौवराज्याभिषेक :

युवराज शब्द भावी राजा के लिए प्रयुक्त होता था । राजतन्त्र में युवराज का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राजा अपने औरस पुत्र को ही युवराज पद पर अभिषिक्त करते थे। युवराज ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। जब राजा वज्रवीर्य ने अपने पुत्र वज्रनाभ को राजकीय गुणों से मण्डित देखा, तो मंत्रियों की सलाह-पूर्वक उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया और राजा वज्रवीर्य ने बहुत दिनों से धारण किये हुए पृथिवी के भार को कुछ कम कर सुख से समय बिताया।[2] राजकुमार के युवराज होने के समय मनाये जाने वाले महोत्सव को यौवराज्याभिषेक कहा जाता था। राजा के साथ-साथ युवराज भी शासकीय कार्यों में हाथ बटाकर राजा के शासनभार को कम करता था।

(७) राज्याभिषेक :

राजकुमार को युवराज पद पर अभिषिक्त करने को जिस प्रकार यौवराज्याभिषेक किया जाता था, उसी प्रकार उसे राज्य का सम्पूर्ण भार सौंपते समय राज्याभिषेक होता था। पार्श्वनाथचरित से ज्ञात होता था कि राजा पुत्र का राज्याभिषेक करके प्रायः तपस्या करने के लिए वन चले जाते थे। पुत्र के राज्याभिषेक के बाद पुत्र ही राजा बन जाता था।

(८) सामन्त राजा :

सामन्त राजा वे शासक कहलाते थे, जिन पर चढ़ाई करके राजा ने विजय तो प्राप्त कर ली हो, किन्तु राजा की अधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो। ये राजा एक निश्चित धनराशि को कर के रूप में अपने विजेता राजा को प्रदान करते थे। शुक्रनीति में कहा गया है कि जिससे प्रतिवर्ष प्रजा को पीड़ित किये बिना एक लाख रजत-मुद्राओं से लेकर तीन लाख तक वार्षिक कर मिलता है, उसे सामन्त राजा कहते हैं।[3] पार्श्वनाथचरित में

१- पार्श्वनाथचरित, १।१००।

२- वही, ५।२४।

३- "लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः ।।
सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधिः ।।" —शुक्रनीति, १।१८३-१८४।

सामन्त राजाओं का निर्देश मिलता है।[१] वज्रवीर को जीतने के बाद राजा अरविन्द ने कर लगाकर उसे पुन: पद्‌मपुर का राजा बना दिया।[२] अतएव वज्रवीर भी सामन्त राजा की श्रेणी में आ गया।

(९) अधिकारी एवं सेवक :

राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी एवं सेवक होते थे। राजा कहीं बाहर जाता था तो वरिष्ठ अधिकारी एवं सेवक उसके साथ जाते थे।[३] मंत्री और युवराज राजा की सर्वाधिक सहायता करते थे। यही कारण है कि युवराज और मंत्री को राजा का क्रमश: दक्षिण और वाम अंग के दोनों बाहु, नेत्र तथा कर्ण माना गया है।[४] प्रत्येक विभाग के विभागीय अधिकारी अलग होते थे। कूर्म नामक व्यक्ति अपराध-जांच विभाग का अधिकारी था।[५]

(१०) गुप्तचर :

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में गुप्तचरों को राजा का चक्षु कहा है। चक्षु तो केवल मुख की शोभा बढ़ाते हैं और वस्तुओं को देखने का कार्य करते हैं। परन्तु गुप्तचर रहस्यपूर्ण तथ्यों का पता लगाकर राज्य-शासन को सुदृढ़ बनाते हैं।[६] इसी प्रकार सोमदेव ने गुप्तचरों को देश-विदेश का ज्ञान कराने में राजा का चक्षु कहा है।[७] गुप्तचर विभाग हमेशा ही शासन की सुदृढ़ता और न्याय की सत्यता के लिए कार्यरत रहा है। गुप्तचर प्रजा की वास्तविक स्थिति के संबंध में गुप्तवेश में रहकर जानकारी प्राप्त करते थे और इसकी सूचना राजा को देते थे। पार्श्वनाथचरित में भी गुप्तचरों का निर्देश किया गया है। कमठ के दुराचार की सूचना राजा अरविन्द को एक गुप्तचर ने ही दी थी।[८]

(११) राजा और प्रजा का सम्बन्ध :

पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय राजा और प्रजा के संबंध बड़े मधुर थे। यद्यपि अपराधियों के प्रति बड़ी ही कठोर दण्डव्यवस्था

१- पार्श्वनाथचरित, १।१०२। २- वही, १।११३। ३- वही, १।७३।
४- शुक्रनीति २।१२। ५- पार्श्वनाथचरित, २।५६।
६- "चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने।
चक्षुषी पुनरस्यास्य भण्डने दृश्यदर्शने॥" —आदिपुराण ४।१७०।
७- स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चारा: खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्।
—नीतिवाक्यामृत, १४।१।
८- पार्श्वनाथचरित, २।४।

थी, तथापि सामान्य प्रजा के प्रति राजा का मधुर भाव था। राजस्व के रूप में जो धन राजकोष में आता था, वह प्रजा की भलाई के कार्यों में ही खर्च किया जाता था।[1] उस समय राजा ने साधनविहीन मार्गों में पानीयशालिका (Water hut) की व्यवस्था कर दी थी।[2] प्रजा का दुःख से उद्धार करना ही राजा का कार्य था।[3]

(१२) राजस्व :

राज्य की आर्थिक आय के साधनों में आज की तरह उस समय भी प्रजा से कर वसूल किये जाते थे। ऋग्वेद में राजा को प्रजा से कर लेने का एकमात्र अधिकारी घोषित किया गया है।[4] पार्श्वनाथचरित में भी राजा की आय के साधनों में प्रजा से कर लेने का उल्लेख किया गया है।[5] प्रजा के अतिरिक्त विजित राजाओं पर भी कर लगाया जाता था।[6]

(१३) न्याय और दण्डव्यवस्था :

अपराधियों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।[7] पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अपराधियों को दण्ड अत्यन्त कठोर और तिरस्कारपूर्वक दिया जाता था, जिससे भविष्य में ऐसे अपराध की प्रजा पुनरावृत्ति न कर सके। जब तक अपराध की अच्छी तरह छानबीन नहीं कर ली जाती थी, तब तक अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता था। कमठ के दुराचार का समाचार गुप्तचर द्वारा निवेदित करने पर मंत्री की सलाह से राजा ने अपराध-विशेषज्ञों द्वारा पहले सत्यता की जाँच कराई, तदनन्तर कमठ को दण्ड दिया। परस्त्री के साथ दुराचार के अपराध में कमठ को गधे पर बैठाकर नगर-निष्कासन का दण्ड दिया गया।[8]

(१४) सैन्य विभाग :

देश की रक्षा तथा राष्ट्रविरोधी ताकतों एवं दुश्मन देशों के दमन के लिए एक सैन्य विभाग होता था। इसका प्रमुख अधिकारी सेनापति कहलाता था। जरूरत

१–पार्श्वनाथचरित, १।६६। २– वही, १।७४।

३– वही, १।७७।

४– ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृसामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥" —ऋग्वेद, १०।१७३।६।

५– पार्श्वनाथचरित, १।६६। ६– वही, १।६७, २।११३।

७– नीतिवाक्यामृत, ५।१–२।

८– पार्श्वनाथचरित, २।६०।

पड़ने पर कभी-कभी राजा स्वयं भी सेना का संचालन करता था। पार्श्वनाथचरित में चतुरंगिणी सेना-रथसेना, अश्वसेना, हस्तिसेना और पैदल सेना का उल्लेख हुआ है।[1]

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में राजनीति, उसके विविध अंगों एवं शासन-व्यवस्था का वर्णन मिलता है।

(ग) शैक्षणिक स्थिति

पार्श्वनाथचरित में यद्यपि शिक्षा के विषय में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता है, किन्तु उपलब्ध संकेतों से तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की जानकारी का जो आभास मिलता है, वह प्रस्तुत है।

शिक्षा के केन्द्र :

शिक्षा के केन्द्रों में आश्रम एवं विद्यालयों का वर्णन पार्श्वनाथचरित में हुआ है। आश्रम नगर से दूर वन के शान्त वातावरण में होते थे। कमठ नगर निर्वासन के बाद जिस आश्रम में पहुंचा वह इसी तरह का शिक्षण-संस्थान जान पड़ता है। यह आश्रम पोदनपुर नगर से दस योजन दूर भूताचल पर्वत पर स्थित था। इन आश्रमों में केवल तपस्वी लोग ही शिक्षित नहीं थे, वरन् वहाँ के पशु-पक्षी भी शिक्षित थे।[2] इन आश्रमों में यतिकन्यायें भी रहती थीं, जो अपने कुच के समान कलशों से तीनों समय जल खींचकर लता और वृक्षों को बढ़ाती थीं।[3] अश्वपुर नगर के वर्णन में कवि ने उसमें विद्यालय होने का उल्लेख किया है।[4] राजकुमारों की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं हुआ है कि उनकी शिक्षा कहां होती थी। संभवतः उनकी शिक्षा राजगृह में होती रही होगी।

शिष्य के गुण :

वादीभसिंह सूरि ने आदर्श शिष्य में गुरुभक्ति, संसार से भय,

१- पार्श्वनाथचरित, ७।१४४, १६१।

२- "शाखामृगा यत्र गृहीतशिक्षा नैसर्गिकं चापलमुत्सृजन्तः।
क्षन्ति मार्गाय नियोगदृष्ट्या तपोभृतामन्धकहस्तयष्टीः॥
द्विजैरहयाध्ययनस्य पश्चादनन्तरं पंजरवासितानाम्।
यत्रानुवादः शुकशारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायनश्रीः॥"
—वही, २।७६-७७।

३- वही, २।७५। ४- वही, ४।६०।

विनय, धर्म, बुद्धि, शान्त एवं अनालस्य और शिष्टता को आवश्यक माना है।[1] पार्श्वनाथचरित में कुमार रश्मिवेग में विनय, नम्रता, गुरु से सानुराग व्यवहार, चंचलता का राहित्य आदि गुणों का चित्रण किया गया है।[2] गुरु-विनय के साथ शिक्षा काल में जितेन्द्रिय और विषयों में अनासक्त होना भी आवश्यक है। वज्रनाभ के विद्याध्ययन के समय उसमें उक्त गुणों का चित्रण किया गया है।[3]

शिक्षारंभ एवं विद्याध्ययन :

शिक्षारंभ से तात्पर्य वर्णमाला के ज्ञान से और विद्याध्ययन से तात्पर्य वर्णमाला के ज्ञान के बाद होने वाले अध्ययन से है। लिपि और वर्णमाला के ज्ञान के बाद ही विद्याध्ययन प्रारम्भ होता था। कुमार रश्मिवेग का वर्णन करते हुए पार्श्वनाथचरित में कहा गया है कि उसने समान उम्र वाले बालकों के साथ विनयपूर्वक गुरु के द्वारा पढ़ाई गई विद्याओं को अलग-अलग शीघ्र ही सीख लिया। क्योंकि गुण भव्य पुरुष के आगे-आगे स्वयं चलते हैं।[4] इससे यह स्पष्ट है कि समान उम्र वाले एक साथ अनेक बालक अध्ययन करते थे।

पाठ्यक्रम और विषय :

पाठ्यक्रम और विषयों के संबंध में पार्श्वनाथचरित में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु प्राप्त संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षा दो भागों में विभक्त थी। शास्त्र शिक्षा और शस्त्र शिक्षा। राजकुमारों के लिए शस्त्रशिक्षा भी अनिवार्य थी। पाठ्यविषयों के अन्तर्गत व्याकरण, वेद, राजनीति, जैनागम, धर्मशास्त्र आदि का वर्णन पार्श्वनाथचरित में हुआ है। सभी शास्त्रों के अध्ययन में व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। अतएव छात्र को सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी।[5] द्विज वेदाध्ययन करते थे। भूताचल पर स्थित आश्रम

१- "गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिक: सुधी।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालु: शिष्ट: शिष्योऽयमिष्यते ।।"
—क्षत्रचूड़ामणि, २।३२।

२- पार्श्वनाथचरित, ४।२७।

३- वही, ५।५।

४- "समं वयस्यैर्विनयेन तत्परो गुरूपदेशोपनतासु बुद्धिमान्।
विभज्य विद्यासु स लब्धशिक्षत स्वयं हि भव्यस्य गुणा: पुरस्सरा: ।।
—पार्श्वनाथचरित, ४।२८।

५- वही, ५।४।

में द्विजों को वेदाध्ययन में संलग्न वर्णित किया गया है। यहाँ तक की वहाँ पर रहने वाले शुकशारिका भी वेदाध्ययन के पश्चात् उसका कर्णरसायन अनुवाद करते थे।[1] राजनीति में चार प्रकार की राजविद्याओं–साम, दाम, दण्ड और भेद का अध्ययन वज्रनाभ की शिक्षा के प्रसंग में किया गया है।[2] कुमार रश्मिवेग के तपस्वी हो जाने पर उसने मुनि से जैन आगमों का अध्ययन किया था।[3] अतएव ज्ञात होता है कि जैन–आगम भी संभवतः उस समय पढ़ाया जाता था। वज्रनाभ को धर्मशास्त्रवेत्ता बतलाते हुए कवि ने धर्मशास्त्र के अध्ययन की ओर भी संकेत किया है।[4] आश्रम में होम आदि के होने के वर्णन[5] से कहा जा सकता है कि कर्मकाण्ड की भी उस समय शिक्षा दी जाती थी। भले ही यह विवेचन पाठ्यक्रम और विषयों का यथाविधि निर्धारण न कर सके, किन्तु यह तो निश्चित है कि किसी न किसी रूप में उक्त विषयों का अध्ययन उस समय होता था।

पार्श्वनाथचरित में प्रतिपादित सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक स्थिति के विवेचन से आज से ९५० वर्ष से पूर्व के समाज का चित्र उपस्थित होता है। भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण अध्ययन के लिए इसकी उपादेयता विचारणीय है। सामाजिक परिपार्श्व में पार्श्वनाथचरित में प्रतिपादित तत्कालीन परिस्थितियों का यह विवेचन निश्चित ही अविस्मरणीय होगा।

१– पार्श्वनाथचरित, २।७७।
२– वही, ५।७।
३– वही, ४।४०।
४– वही, ५।१४।
५– वही, २।७४।

सप्तम अध्याय

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में पद्यबन्ध में कविकुलगुरु कालिदास, भारवि और माघ तथा गद्यकाव्यनिबंधन में कविवर बाणभट्ट का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वातिशायी स्थान है। पश्चाद्वर्ती कवियों में किसी न किसी रूप में इनके अनुगमन की प्रवृत्ति पाई जाती है। वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित में भी इन महाकवियों के ग्रन्थों का शाब्दिक, आर्थिक या भावात्मक अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। यह सत्य है कि कवि किसी शब्द, अर्थ या भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करता है। वह अपनी नवनवोन्मेष शालिनी बुद्धि से उसे नवीन स्वरूप प्रदान कर देता है। फिर भी पूर्ववर्ती कवि के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वादिराज ने भी कालिदास, भारवि, माघ, बाणभट्ट और हरिचन्द्र का प्रभाव ग्रहण किया है। अतः उसका दिग्दर्शन करा देना समुचित होगा।

कालिदास का वादिराज पर प्रभाव

वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित में कालिदासकृत रघुवंश, कुमारसभव, ऋतुसंहार आदि का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि उक्त काव्यों से पार्श्वनाथचरित के कथानक में कोई साम्य नहीं है, किन्तु शिष्टाचारपालन, भावाभिव्यंजन एवं प्रकृति-चित्रण आदि में प्रभाव आ गया है। नीचे दिये गये उदाहरणों में जो साम्य है, निश्चित ही इनमें कालिदास का प्रभाव है।

रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने जिस प्रकार अपनी बुद्धि का मान्द्य और विनय प्रदर्शित करते हुए रघुकुल के वर्णन में अपने लिए अयोग्य कहा है। उसी प्रकार वादिराज ने भी अपनी बुद्धि का मान्द्य और विनय प्रदर्शित करते हुए भगवान् पार्श्वनाथ के वर्णन में सर्वथा अयोग्य कहा है।

"मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥" —रघुवंश १।३।

"अपि प्रहास्ये मान्द्ये मे श्रेयस्कामितया प्रभो ।
कवेयं चरितं तावदर्थी दोषं न पश्यति ॥" —पार्श्व०, १।१२।

उक्त दोनों श्लोकों में अर्थ एवं भाव का साम्य दृष्टिगत होता है ।

जब राजा दिलीप ने वन में प्रवेश किया तो उनके प्रभाव से वन के वृक्षों में फल-फूलों की वृद्धि हो गई, हिंसक प्राणियों ने वैरभाव छोड़कर अन्य प्राणियों को कष्ट देना छोड़ दिया—

"शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥"
—रघुवंश, २।१४।

रघुवंश के इस वर्णन की तरह पार्श्वनाथचरित में भी महर्षि स्वयंप्रभ के आगमन के प्रभाव से वन में पुष्पों का आ जाना, प्राणियों का हिंसक भाव छोड़ देना आदि वर्णित किया है—

"यतेर्हिंसाव्रतपारगस्य हिंस्राः समीपे नृप वैरमुक्ताः ।
वसन्ति संभूय वनद्रुमाणां छायासु नव्योद्गमवासितासु ॥"
—पार्श्व०, २।२१५।

कालिदास की अपेक्षा वादिराज ने महर्षि स्वयंप्रभ के प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है ।[1]

शिष्टाचार के परिपालन में दोनों ही कवि का ध्यान रखते हैं । रनिवास में राजा के आने पर रानी गर्भिणी अवस्था में भी खड़ी होकर सांजलिप्रणाम करती है । इस प्रसंग में रघुवंश और पार्श्वनाथचरित के निम्नलिखित श्लोकों में साम्य है ।

"सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचारांजलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥"
—रघुवंश, ३।११।

"सखीप्रकोष्ठं प्रतिगृह्य गर्भिणीं कथंचिदुत्थाय कृतांजलिक्रियाम् ।
नृपः कृपाहर्षविमिश्रया दृशा गृहागतो वै क्षणमैक्षत प्रियाम् ॥"
—पार्श्व०, ४।११०।

१- द्रष्टव्य—पार्श्वनाथचरित, २।१०३-११५।

यहाँ पर वादिराज ने कालिदास से शब्द, अर्थ और भाव के ग्रहण के साथ ही समान छन्द का भी प्रयोग किया है।

पुत्र–जन्म के समय कालिदास ने आकाश की अनभ्रता, शीतल, मन्द और सुगंधित पवन का चलना आदि शुभ शकुनों का वर्णन किया है।[1] वादिराज ने भी पुत्र–जन्म के अवसर पर इन शकुनों के होने का वर्णन किया है।[2] कालिदास के पुत्रजन्मोत्सववर्णन[3] और वादिराज के पुत्रजन्मोत्सववर्णन[4] में कुछ विषमताओं के होने पर भी पर्याप्त साम्य है। वादिराज के इस वर्णन में स्पष्ट रूप से कालिदास का प्रभाव लक्षित होता है।

रघुवंश के शिक्षारंभ का वर्णन करते हुए कालिदास ने चौलकर्म संस्कार के बाद शास्त्र, काव्य, राज–विद्याओं आदि के अध्ययन का वर्णन किया है।[5] वादिराज ने भी वज्रनाभ की शिक्षा का वर्णन करते हुए शास्त्र, राज–विद्याओं आदि के अध्ययन का वर्णन किया है।[6]

कालिदास के 'नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च'[7] का वादिराज के 'वयो नवं कान्तमिदं वपुस्तत्'[8] में स्पष्टरूपेण प्रभाव है। यहाँ तक कि वादिराज ने कुछ शब्दों में क्रम–परिवर्तन करके ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।

शब्द, अर्थ और भाव के प्रभाव के साथ ही वादिराज के पार्श्वनाथचरित में रघुवंश का शैलीगत प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। इस प्रसंग में रघुवंश और पार्श्वनाथचरित के निम्नांकित श्लोक तुलनीय हैं—

"अथप्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥" — रघुवंश, २।१।

"अथैकनाथं वसुन्धांगनायाः पुरस्य वृत्तान्तविशेषवेदी।
निवेदितात्मा सचिवद्वितीयं चरो नराधीश्वरमाससाद॥"
—पार्श्व०, २।१।

कुमारसंभव की 'क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव'[9]

---

१ रघुवंश, ३।१४।
२– पार्श्वनाथचरित, ४।११७–१२२।
३– द्र० रघुवंश, ३।१५–२१।
४– द्र० पार्श्वनाथचरित, ४।१२३–१४०।
५– रघुवंश, ३।२८–३१।
६– पार्श्वनाथचरित, ५।४–७।
७– रघुवंश, २।४७ का द्वितीय पाद
८– पार्श्वनाथचरित, ८।७४ का प्रथम पाद
९– कुमारसंभव, १।१२।

सूक्ति के भावों को वादिराज की 'पादाश्रितानामभिरक्षणं यत्तदेव कृत्यं नु महोन्नतीनाम्'[1] सूक्ति में ग्रहण किया गया जान पड़ता है।

कुमारसभव में कालिदास ने जिस प्रकार नारी के शारीरिक सौन्दर्य का सांगोपांग एवं भारतीय परम्परा के अनुसार नखशिख वर्णन किया है, उसी तरह वादिराज ने भी नारी के शारीरिक सौन्दर्य का सांगोपांग एवं भारतीय परम्परा के अनुसार नखशिख वर्णन किया है। इस प्रसंग में कुछ पद्य तुलनीय हैं—

"नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषः।
लब्धापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानवाह्याः॥"

—कुमारसंभव, १।३६।

कालिदास ने उक्त श्लोक में पार्वती की जंघाओं के उपमान के रूप में हाथी की सूंड और कदली वृक्ष को उचित नहीं मानते हुए उन्हें उपमानरहित वर्णित किया है। वादिराज ने भी कदली और देवांगनाओं को महारानी विजया की जंघाओं के उपमान के रूप में उचित न मानकर बड़ी ही मनोरम कल्पना का संयोजन किया है। वे कहते हैं कि कदली और रंभा–देवांगना उसकी जंघाओं को नहीं जीत सकीं। इसीलिए वे लज्जा के कारण वन में और अप्सराओं में जाकर मिल गईं।

"करेणुकान्ताकरवृत्तपीवरौ मृगीदृगूरू हि गुरू पराजितौ।
प्रदीप्तरूपस्मरसंश्रयाविवव्यभासिषातां नवचंपकच्छवी॥
अनेकपत्रोल्लिखितायताजरा गुणं तदूर्वोरिव जेतुमक्षमा।
वनस्थितिं काचिदयाद् विलज्जया विरज्य रंभास्वितराप्सरोगता॥"

—पार्श्व०, ४।८८–८९।

कालिदास कमलनयना पार्वती के स्तनों को आपस में इतने सटे हुए वर्णित करते हैं कि उनके बीच में मृणालतन्तु के समा सकने योग्य स्थान भी नहीं है—

"अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये तथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥"

—कुमारसंभव, १।४०।

वादिराज भी महारानी विजया के स्तनों का वर्णन करते हुए उन्हें अत्यन्त बढ़े हुए तथा परस्पर संयुक्त (अभेदवृत्ति) बतलाते हैं तथा स्तनों की उपमा कामरूपी राजा के नय और पराक्रम से देते हैं, जो अत्यन्त उचित है।

१– पार्श्वनाथचरित २।६७।

"समग्रभूभृन्मणिरागमा(?)वभेदवृत्ती पृथुलब्धमण्डलौ ।
स्मरस्य मूर्तौ नयविक्रमाविव स्तनौ तदीयावुचितं यदुद्धतौ ॥"
—पार्श्व०, ४।९५।

वादिराजकृत नारी के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन में कालिदास का अनुकरण है, किन्तु इनके प्रस्तुतीकरण के ढंग तथा कल्पना के वैचित्र्य में कालिदास भी वादिराज की समानता नहीं कर सकते हैं ।

ऋतुसंहार में महाकवि कालिदास ने षड् ऋतुओं का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है । कालिदास ने ऋतुओं के रमणीय पक्ष को अधिक प्रस्तुत किया है, तो वादिराज ने रमणीय और भयानक दोनों पक्षों को । यदि देखा जाये तो उनका भयानक पक्ष अधिक प्रभावी है । फिर भी कहीं-कहीं ऋतुसंहार और पार्श्वनाथचरित में साम्य दृष्टिगत होता है—

"सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःश्रितालोहितजिह्वमुन्मुखम् ।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम् ॥"
—ऋतुसंहार, १।२१।

"शिशिरामुमुनक्त (? मधुनात) मालवीथीहतमध्यंदिनभानुभाप्रवेशाम् ।
वसुधामधिशिश्यिरे महिष्यः कृतरोमन्थनवक्त्रमुक्तफेनाः ॥"
—पार्श्वनाथचरित ५।७१।

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में उक्त दोनों श्लोकों में भैंसों की प्रकृति का समान चित्रण किया गया है ।

मेघदूत की 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'[1] इस उक्ति का भाव पार्श्वनाथचरित की 'स्मरातुरस्यास्ति कुतो विवेकः'[2] इस उक्ति में स्पष्ट रूप से झलकता है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वादिराज के ऊपर महाकवि कालिदास का प्रभाव अनेक स्थलों पर पड़ा है ।

भारवि और माघ का वादिराज पर प्रभाव

पार्श्वनाथचरित पर महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध का शैलीगत प्रभाव सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है । सर्वप्रथम किरातार्जुनीय और शिशुपालवध दोनों महाकाव्यों का सामान्य प्रभाव और शैलीगत अनुकरण प्रस्तुत है ।

१- मेघदूत, २- पार्श्वनाथचरित

जिस प्रकार भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य[1] का और माघ ने शिशुपालवध महाकाव्य[2] का प्रारंभ मंगलसूचक 'श्री' शब्द के साथ किया है, उसी प्रकार वादिराज ने पार्श्वनाथचरित महाकाव्य[3] का प्रारंभ 'श्री' शब्द के साथ किया है।

भारवि ने किरातार्जुनीय में अपने इष्टदेव शिव की और माघ ने शिशुपालवध में अपने इष्टदेव विष्णु की महिमा का वर्णन किया है। वादिराज ने उक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए पार्श्वनाथचरित में अपने इष्टदेव तीर्थंकर पार्श्वनाथ की महिमा का वर्णन किया है।

भारवि ने किरातार्जुनीय के सर्गान्त श्लोकों में 'लक्ष्मी' शब्द का और माघ ने शिशुपालवध के सर्गान्त श्लोकों में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार वादिराज ने भी पार्श्वनाथचरित के सर्गान्त श्लोकों में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। भारवि के लक्ष्मी शब्द की अपेक्षा वादिराज ने माघ के श्री शब्द को अधिक उचित समझा है। क्योंकि काव्य का प्रारंभ भी 'श्री' शब्द के साथ ही किया गया है। इस प्रकार किरातार्जुनीय लक्ष्म्यक एवं शिशुपालवध और पार्श्वनाथचरित श्र्यंक महाकाव्य है।

किरातार्जुनीय और शिशुपालवध दोनों ही महाकाव्यों का कथानक ऐतिहासिक वृत्त पर आश्रित है। पार्श्वनाथ का कथानक भी ऐतिहासिक वृत्त पर आश्रित है। किरातार्जुनीय और शिशुपालवध का आधार महाभारत है, जबकि वादिराज के पार्श्वनाथचरित का आधार उत्तरपुराण।

जिस प्रकार भारवि ने किरातार्जुनीय के चतुर्थ सर्ग में और माघ ने शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार वादिराज ने पार्श्वनाथचरित के षष्ठ सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित के षष्ठ सर्ग में चौबीस छन्दों का प्रयोग किया है, जो भारवि और माघ से कम नहीं है।[4]

किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग में और शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में चित्रालंकारों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है तो पार्श्वनाथचरित के सप्तम सर्ग में भी चित्रालंकारों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। तीनों महाकाव्यों के उक्त सर्ग चित्रालंकार काव्य जैसे प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार किरातार्जुनीय में वनेचर युधिष्ठिर के निकट आकर दुर्योधन संबन्धी समाचार सुनाता हैं और शिशुपालवध में नारद जी श्रीकृष्ण के समीप आकर

१– किरातार्जुनीय १।१। २– शिशुपालवध १।१। ३– पार्श्वनाथचरित १।१।
४– द्रष्टव्य–इसी शोध–प्रबंध का चतुर्थ अध्याय, छन्दोयोजना।

शिशुपाल का वृत्तान्त सुनाते हैं, उसी प्रकार पार्श्वनाथचरित में एक गुप्तचर आकर कमठ का समाचार राजा अरविन्द को सुनाता है। वृत्तान्त कथन के पूर्व जैसे किरातार्जुनीय में वनेचर ने युधिष्ठिर एवं नारद जी ने श्रीकृष्ण की प्रशंसा की है, वैसे ही पार्श्वनाथचरित में गुप्तचर ने राजा अरविन्द की प्रशंसा की है।

भारवि के द्वारा पंचम सर्ग में किये गये हिमालय एवं इन्द्रकील पर्वत के वर्णन में, माघ के द्वारा चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत के वर्णन में और वादिराज द्वारा चतुर्थ सर्ग में किये गये सुमेरु पर्वत के वर्णन में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है।

इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त वादिराज ने भारवि और माघ के शब्दों और भावों को भी ग्रहण किया है।

महाकवि भारवि ने महर्षि व्यास की उपमा बिजली के साथ मेघ से दी है।[1] ठीक इसी प्रकार वादिराज ने भगवान् पार्श्वनाथ की उपमा बिजली से आक्रान्त श्यामल मेघ से दी है।[2] अतः दोनों उपमाओं में भाव साम्य है।

युद्धार्थ प्रेरणा देने वाले भीम से युधिष्ठिर कहते हैं—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

—किरातार्जुनीय, २।३०।

उक्त श्लोक के भाव को वादिराज ने एक अनुष्टुप् में बड़े ही सुन्दर उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया है—

"अविविच्य क्रिया नैव श्रेयसे बलिनामपि।
गजोऽपि निपतेत् गर्ते वृत्तस्तमसि चर्मणा॥" —पार्श्व० ७।८४।

शिशुपालवध में महाकवि माघ ने शिशुपाल के अनेक जन्मजन्मान्तरों का वर्णन किया है। उसी प्रकार पार्श्वनाथचरित में वादिराज ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ और भूतानन्द के जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन किया है। यद्यपि माघ पर जन्मान्तर-वाद की कल्पना का प्रभाव पूर्ववर्ती जैन कवियों और आचार्यों का ही जान पड़ता है। क्योंकि सभी जैन कवियों ने नायक और प्रतिनायक के जन्म-जन्मांतरों का वर्णन किया है। किन्तु पार्श्वनाथचरित में यदि शिशुपालवध की शैली का अनुकरण माना जाये तो अनुचित नहीं होगा।

माघ ने जिस प्रकार 'हिरण्यकशिपु' नाम कहने के लिए 'हिरण्यपूर्व कशिपु'

१– "तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्।" —किरातार्जुनीय, ३।१।
२– "अभावभ्रमिवाक्रान्तं विद्युता श्यामलप्रभम्।" —पार्श्वनाथचरित, १।६।

प्रचक्षते"[1] का प्रयोग किया है, उसी प्रकार वादिराज ने 'विद्युद्वेग' नाम कहने के लिए 'वदन्ति वेगं खलु विद्युदादिम्'[2] एवं 'विद्युन्माला' नाम कहने के लिए 'विद्युत्पदपूर्वमालया"[3] का प्रयोग किया है। 'देव पूर्व गिरि ते'[4] में कालिदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है। जिस प्रकार माघ ने शिशुपालवध में सेना का वर्णन करते हुए—

'पुरीमवस्कन्द लुनीहिनन्दनं मुषाण रत्नानि हरामरांगना:।'[5]

में 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः'[6] के अनुसार लोट् लकार का प्रयोग किया है, उसी प्रकार वादिराज ने भी पार्श्वनाथचरित में सेना का वर्णन करते हुए—

'जहि गुल्मभवस्कन्द पङ्कमुद्धर कण्टकम्।'[7]

में लोट् लकार का प्रयोग किया है।

महाकवि माघ ने जिस प्रकार पर्वत के दोनों तरफ एक साथ दिखाई देने वाले सूर्य और चन्द्रमा की कल्पना हाथी के दोनों तरफ लटकते हुए घण्टाद्वय से की है—

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नियाति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥"
—शिशु० ४।२०।

ठीक इसी तरह वादिराज ने भी पर्वत के दोनों तरफ दृश्यमान मेघों की कल्पना हाथी के दोनों तरफ लटकते हुए आस्तरण से की है—

"यः पार्श्वभागप्रविलम्बितेन विचित्रजीमूतकथेन रात्रौ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्धा सन्नद्धमन्वेति गजाधिराजम्॥"
—पार्श्व० २।६८।

उक्त दोनों श्लोकों में कल्पना का अत्यधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। वादिराज इस कल्पना में संभवतः माघ के ऋणी हैं।

माघ ने स्वर्ण सिंहासन पर आरूढ़ भगवान् कृष्ण की उपमा जम्बुवृक्ष से सुशोभित सुमेरु पर्वत से दी है—

"जिगाय जम्बुजनितश्रियः श्रियं सुमेरुश्रृंगस्य[8]—"

१– शिशुपालवध, १।४२।
२– पार्श्वनाथचरित, ४।१४।
३– वही, ४।१८।
४– मेघदूत, पूर्वमेघ, ४६।
५– शिशुपालवध, १।५१।
६– अष्टाध्यायी, ३।४।२।
७– पार्श्वनाथचरित, ११।०४।
८– शिशुपालवध १।१९।

वादिराज ने सुमेरु पर्वत के वर्णन में उसे 'प्रवृद्धजम्बुद्रुममुख्यलाञ्छन'[1] कहा है। संभव है सुमेरु पर्वत पर जम्बु वृक्ष का वर्णन करने का आधार वादिराज ने माघ के उक्त पद्य से ग्रहण किया हो।

महाकवि माघ के अधोलिखित श्लोक—

"हरत्यघं संप्रतिहेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥"

—शिशुपालवध १।२६।

का भावसाम्य वादिराज के अधोलिखित श्लोक—

"तव दृष्टिरभव्यदुर्लभा भगवन्नद्य पुनर्मयाश्रिता।
अधिकं मम व्यक्ति भव्यतां सुलभा भव्यतया हि निर्वृतिः ॥"

—पार्श्वनाथचरित २।७।

में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

बाणभट्ट का वादिराज पर प्रभाव

वाणभट्ट ने कादम्बरी में जावाल्याश्रमवर्णन में लिखा है—

"परिचितशाखामृगकराकृष्टयष्टिनिकाश्यमानप्रवेश्यमानजरदन्धतापतम् ।"

(कादम्बरी, पृ० १२०)

महाकवि वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में भूताचल पर्वत पर स्थित आश्रम का वर्णन करते समय उक्त पंक्तियों का स्पष्टरूपेण अनुकरण किया है—

"शाखामृगा यत्र गृहीतशिक्षा नैसर्गिकं चापलमुत्सृजन्तः।
कृषन्ति मार्गाय नियोगदृष्ट्या तपोभृतामन्धकहस्तयष्टीः ॥"

—पार्श्वनाथचरित, २।७६।

हरिचन्द्र का वादिराज पर प्रभाव

महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जीवन चरित गुंफित है। यह काव्य जैन संस्कृत काव्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य है। पार्श्वनाथचरित में भी तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित गुंफित हैं। दोनों ही तीर्थंकर चरित्र के वर्णक ग्रन्थ हैं, अतएव इनकी कथावस्तु में समानतायें होना स्वाभाविक है। यद्यपि आन्तरिक अनुशीलन से दोनों ग्रन्थों में शब्दसाम्य या विशेष भावसाम्य दृष्टिगत नहीं होता है, किन्तु कथावस्तु के विन्यास में वादिराज पर हरिचन्द्र का प्रभाव लक्षित होता है। उसी का दिग्दर्शन यहाँ किया जा रहा है—

१- पार्श्वनाथचरित ४।१।

धर्मशर्माभ्युदय में धर्मनाथ तीर्थंकर के पूर्वभवों का वर्णन हुआ है। पार्श्वनाथ चरित में भी पार्श्वनाथ तीर्थंकर के पूर्वभवों का वर्णन हुआ है।

तीर्थंकर का गर्भ में अवतीर्ण होना, उसके पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारियों–देवियों का रानी की सेवा के लिए आना, रानी का सोलह स्वप्नों का देखना, तीर्थंकर के जन्म से इन्द्र का आसन कंपायमान होना, चतुर्निकाय के देवों के साथ इन्द्र का आना, इन्द्राणी द्वारा नवजात बालक की जगह मायामयी बालक रखकर बालक को उठाया जाना, सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर समुद्र के जल से एक हजार आठ कलशों द्वारा बालक जिनेन्द्र का अभिषेक किया जाना, अनन्तर बालक को माता के लिए सौंपकर इन्द्र का स्वर्गगमन, दीक्षा, कल्याणक, तपश्चरण, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवसरण उपदेश, तदन्तर्गत जैन सिद्धान्तों का वर्णन आदि विषयों का दोनों ही महाकाव्यों में विषय भी दृष्टि से समानरूपेण समावेश किया गया है।

दोनों ही काव्यों में कवि ने मान्य प्रदर्शन-आत्मलाघव प्रदर्शन, सज्जन–प्रशंसा, दुर्जन–निंदा आदि को कथावस्तु के प्रारंभ करने के पहले स्थान दिया है।

वनपाल द्वारा उपवन में मुनि आगमन की विज्ञापना, राजा का अनुचर वर्ग के साथ उपवन में मुनि वंदना के लिए प्रस्थान, राजा द्वारा मुनि की वंदना और स्तुति, अनन्तर राजा द्वारा मुनि से किसी प्रश्न का पूछना और राजा को मुनि का उत्तर देना आदि घटनाओं का वर्णन दोनों ही महाकवियों के समान रूप से अपनाया है।

वैराग्यचिन्तन के अन्तर्गत धर्मशर्माभ्युदय में वृद्धावस्था की दयनीय दशा का वर्णन किया गया है। पार्श्वनाथचरित में भी वैराग्य के अवसर पर विश्वभूति मंत्री की वृद्धावस्था की दयनीय दशा का वर्णन किया है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में तीर्थंकर धर्मनाथ का विवाह, राज्य, दिग्विजय आदि का वर्णन किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथचरित में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित में उक्त बातों का वर्णन किया गया है। उसका कारण यह है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की गणना जैन परम्परा में पांच बालयति तीर्थंकरों में की गई है। इन्होंने विवाह, राज्यादि नहीं किया है। इसी कारण तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विवाहादि का वर्णन पार्श्वनाथचरित में नहीं हुआ है। फिर भी अन्य बातों में दोनों ही महाकाव्यों की कथावस्तु में पर्याप्त साम्य है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि वादिराज के ऊपर कालिदास, भारवि, माघ, बाणभट्ट तथा हरिचन्द्र का स्पष्ट रूप से प्रभाव परिलक्षित होता है।

●

उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में जैन कवियों का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर जैन कवि निरन्तर संस्कृत-साहित्य की समृद्धि में प्रयत्नशील हैं। संस्कृत-साहित्य में चरितकाव्यों की एक लम्बी परम्परा है, जिसमें जैन कवियों ने सर्वप्रथम ईसा की सप्तम शताब्दी में प्रवेश किया। इसके बाद अद्यावधि शताधिक चरितकाव्य लिखे गये हैं। इन काव्यों में जैन धर्म के सम्मान्य तिरसठ शलाका पुरुषों, चौबीस कामदेवों, कतिपय अन्य पुण्य पुरुषों, महिलाओं एवं राजाओं का चरित वर्णित किया गया है। जिन काव्यों में राजाओं का चरित गुंफित है, उन्हें ऐतिहासिक चरितकाव्य और जिनमें शलाका पुरुषों या अन्य पुण्यपुरुषों का आख्यान निबद्ध है, उन्हें पौराणिक चरितकाव्य कहा जा सकता है। राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलदेव, प्रद्युम्न, हनुमान् आदि के प्रति जैनों का भी सदा से पूज्यभाव रहा है। अतएव जैनों ने अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार इनके जीवनचरित पर अनेक काव्यों की रचना की है। यही नहीं, प्राकृत की तरह संस्कृत भाषा में भी जैन कवियों ने चरितकाव्य लिखने का श्रीगणेश रामकथा से ही किया है। जैन परम्परा में सम्पूर्ण वाङ्मय को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है। इनमें चरितकाव्य प्रथमानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। प्रथमानुयोग में परमार्थ विषय का कथन करने वाले तिरसठ शलाकापुरुषों एवं अन्य धार्मिक व्यक्तियों के जीवनचरित का वर्णन होता है।

जटासिंहनन्दि का वरांगचरित (७वीं-८वीं शताब्दी का सन्धिकाल) वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, महाकवि महासेन का प्रद्युम्नचरित और असग का वीरवर्धमान-चरित (१०वीं शताब्दी), वादिराजसूरि का पार्श्वनाथचरित और यशोधरचरित (११वीं शताब्दी), कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र का कुमारपालचरित (१२वीं शताब्दी) और उदयप्रभसूरि का संघपतिचरित या धर्माभ्युदयमहाकाव्य (१३वीं शताब्दी) संस्कृत-साहित्य के प्रतिनिधि चरितकाव्य हैं। इनमें हेमचन्द्र के कुमारपालचरित

और उदयप्रभसूरि के संघपतिचरित (धर्माभ्युदयमहाकाव्य) का इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्त्व है।

विपुल-काव्य-निर्माण की दृष्टि से १४वीं-१५वीं शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन दो शतकों में लगभग पचास चरितकाव्यों का निर्माण हुआ। इस समय के कवियों में भट्टारक सकलकीर्ति प्रमुख हैं। १६वीं से २०वीं शताब्दी तक भी लगभग चालीस चरितकाव्यों का निर्माण हुआ। बीसवीं शताब्दी के श्री भूरामल्ल शास्त्री (श्री ज्ञानसागर महाराज) ने अनेक काव्यों की रचना की, जिनमें महावीरचरित (वीरोदय) और समुद्रदत्तचरित उत्कृष्ट कोटि के चरितकाव्य हैं। इन काव्यों में भाषा और भाव तथा नवीन छन्दोनिर्माण के क्षेत्र में कवि ने अपनी प्रतिभा का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अनेक चरितकाव्यों के प्रणयन के द्वारा जैन कवियों ने संस्कृत-साहित्य की महती सेवा की है। ये कवि पालि की परम्परा के वाहक बौद्ध-कवियों की तरह प्राकृत की परम्परा को लेकर संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। अतएव इनके काव्यों में प्राकृत भाषा के भी नये तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। इनके सूक्ष्म विश्लेषण एवं शोधात्मक अध्ययन से संस्कृत भाषा की व्यापकता, प्रयोगप्रचुरता, भावगरिमा तथा दार्शनिक एवं आलंकारिक सिद्धान्तों की नई परीक्षा के साथ ही संस्कृत का विशाल भाण्डार और अधिक समृद्ध होगा।

भारत के धार्मिक-जीवन में जिन विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैनधर्म तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। भारत की सभी भाषाओं में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवनचरित पर अनेक काव्य लिखे गये हैं। क्योंकि पार्श्वनाथ का आख्यान भी भगवान् महावीर की तरह अत्यन्त रोचक एवं घटनाप्रधान है। अनेक कवियों ने उनके पवित्र संदेश को जनमानस में पहुंचाने के लिए प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं-संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में बीस से भी अधिक काव्यों का प्रणयन किया है। संख्या की दृष्टि से ही नहीं, भावों की दृष्टि से भी ये काव्य अत्यन्त प्रभावशाली हैं। इनमें संस्कृत भाषा में लिखित जिनसेनकृत पार्श्वाभ्युदय और वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पार्श्वाभ्युदय कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में लिखा गया है। अतएव उसमें जीवन की एकाध घटना का ही समावेश हो पाया है। वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित का वर्णन करने वाला आद्य महाकाव्य और इस शोध-प्रबन्ध का आलोच्य विषय है।

संस्कृत-साहित्य के विशाल भाण्डार के अनुशीलन से वादिराज नामक

अनेक विद्वानों का पता चलता है। जिन वादिराज के सरस एकीभावस्तोत्र से धार्मिक समाज, न्यायविनिश्यविवरण से तार्किक समाज और यशोधरचरित से साहित्यिक समाज सर्वथा सुपरिचित है, वही पार्श्वनाथचरित महाकाव्य के रचयिता हैं। वादिराजसूरि द्राविड़ संघ के अन्तर्गत नन्दि संघ की अरुंगल नामक शाखा के आचार्य थे। दक्षिण भारत में उस समय दिगम्वर और श्वेताम्वरों की तरह यापनीय नामक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय भी प्रचलित रहा है। इसमें भी एक नन्दिसंघ था। किन्तु वादिराज का सवन्ध इस नन्दिसंघ से नहीं था। द्राविड़ संघ की उत्पत्ति विक्रमादित्य की मृत्यु के ५२६ वर्ष वाद हुई थी। इन्द्रनन्दि ने इसे पांच जैनाभासों के अन्तर्गत गिना है। किन्तु इस संघ में कोई ऐसी मौलिक जैनधर्मविरोधी वात दृष्टिगत नहीं होती है, जिससे कि इसे जैनाभास कहा जाये। वादिराज की जन्मभूमि और माता-पिता के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। द्राविड़ संघीय होनें से इनका दाक्षिणात्य होना निश्चित है। इनके प्रगुरु का नाम श्रीपालदेव और गुरु का नाम मतिसागर था। शाकटायन व्याकरण की टीका रूपसिद्धि के रचयिता दयापाल मुनि तथा पुष्पसेन और श्रीविजय (पण्डितपारिजात) इनके सतीर्थ थे। कवि का वादिराज असली नाम था या कोई उपाधि? इसमें वैमत्य है। किन्तु वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति और यशोधरचरित में अपना नाम वादिराज ही लिखा है, अतएव इनका वास्तविक नाम वादिराज ही मानना चाहिये।

वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की रचना शक सं० ९४७ (१०२५ ई०) में चालुक्य चक्रवर्ती महाराजा जयसिंह की राजधानी 'कट्टगेरी' में की थी। कट्टगेरी दक्षिणभारत में वादामी से १२ मील दूर एक प्राचीन नगर है। पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय ये पाँच वादिराज की असंदिग्ध कृतियाँ हैं। वादिराज की प्रशंसा में अनेक प्रस्तर-लेख और उल्लेख मिलते हैं। इनमें उन्हें विभिन्न दार्शनिकों का एकीभूत प्रतिनिधि तथा समस्त वैयाकरणों, तार्किकों, साहित्यिकों और सहायकों में अग्रणी बताया गया है। एक स्थल पर तो उन्हें जिनेन्द्रदेव के समान घोषित किया गया है। वादिराज दक्षिणभारतीय भट्टारक सम्प्रदाय से संवद्ध थे, जो मठाधीशों का सम्प्रदाय रहा है। इनकी परम्परा में दान लेना, कृषि कराना, मन्दिर निर्माण कराना निषिद्ध नहीं था, जिनका जैनसाधु के लिए सामान्यतः निषेध किया गया है इनके विषय में एकीभावस्तोत्र की रचना से कुष्टरोग दूर हो जाने की एक किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है।

जिन दक्षिण भारतीय विद्वानों ने संस्कृत के विकास में सहयोग किया है, उनमें वादिराज का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वादिराज के परिचय, कीर्तन और ग्रन्थों

के अवलोकन से सिद्ध है कि बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। न्याय और साहित्य दोनों के क्षेत्र में उनकी अगाध पैठ थी।

पार्श्वनाथचरित महाकाव्य का मूलस्रोत गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण है। यद्यपि उत्तरपुराण के पूर्व तिलोयपण्णत्ती और पार्श्वाभ्युदय की रचना हो चुकी थी, किन्तु इन्हें पार्श्वनाथचरित का स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि तिलोयपण्णत्ती में माता-पिता के नाम आदि का संक्षिप्त निर्देश है और पार्श्वाभ्युदय में जीवन की एकाध घटना का, जबकि पार्श्वनाथचरित में पार्श्वनाथ के जीवन का सांगोपाग वर्णन हुआ है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ वादिराज के पार्श्वनाथचरित के वाद की रचना है। अतः उसका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की कथावस्तु को स्वाभाविक, हृदयग्राही और प्रभावी बनाने के लिए अपनी कल्पना से आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन भी किये हैं, किन्तु कवि की कल्पना ने कहीं भी ऐतिहासिक मूल परिवेश का त्याग नहीं किया है। वादिराज ने मंगलाचरण के प्रसंग में कवि परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने पूर्ववर्ती १४ जैन कवियों और आचार्यों गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र, देवनन्दि, अकलंक, वादिसिंह, सन्मति, जिनसेन, अनन्तकीर्ति, पाल्यकीर्ति, धनंजय, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, विशेषवादि और वीरनन्दि का उल्लेख किया है। कविकृत यह उल्लेख कालक्रमानुसार किया गया है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में वादिराज द्वारा उल्लिखित कवियों का परिचय देते हुए समय निर्धारण किया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन कवियों और आचार्यों की भूमिका का आकलन सभी दृष्टियों से निःसन्देह उपादेय है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से पार्श्वनाथचरित एक सफल महाकाव्य है। काव्याचार्यों ने महाकाव्य में जिन गुणों का होना आवश्यक माना है, उन सबका सन्निवेश पार्श्वनाथचरित में हुआ है। अन्य जैन चरितकाव्यों की तरह पार्श्वनाथचरित में अंगी रस के रूप में शान्त का परिपाक हुआ है। प्रायः अन्य सभी रसों की व्यजना अंग रस के रूप में सफलतापूर्वक हुई है। वत्सल नामक रस की अभिव्यक्ति भी पितृ-सन्तति संबन्धों में दृष्टिगत होती है। प्रयोग की दृष्टि से शान्त रस के ही समान श्रृंगार रस भी अनेक स्थलों में व्यापक है। विप्रलंभ श्रृंगार की अपेक्षा संयोग श्रृंगार के चित्र अधिक प्रभावी हैं। सामान्यतः सभी रसों की अभिव्यंजना में वादिराज की समान गति है। संस्कृत वाङ्मय में अलंकारों का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित है। पार्श्वनाथचरित में वर्णनों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए तथा

परम्परया रसों को पुष्ट करने के लिए शब्द और अर्थ उभयविध अलंकारों का सन्निवेश किया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास की शोभा, यमक की मनोरमता, श्लेष की संयोजना और चित्रालंकारों की विचित्रता पाठकों को अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। कवि के गतप्रत्यागत, अपवर्ग, निरोष्ठ्य, गोमूत्रिका आदि चित्रालंकार विशेष प्रभावी है। अर्थालंकारों में लगभग ८५ अलंकारों का रसानुकूल सन्निवेश है, जो चमत्कृति के साथ ही भावों को भी उद्वेलित करता है। सम्पूर्ण पार्श्वनाथचरित में सर्वत्र अलंकारों की व्यापकता दृष्टिगत होती है। किन्तु अलंकारों के आवरण से भावों में मन्दता नहीं आई है।

अलंकारों की ही तरह पार्श्वनाथचरित की छन्दोयोजना भी अत्यन्त विस्तृत है। कवि ने २५ से भी अधिक छन्दों का प्रयोग करके अपने पाण्डित्य का अनुपम परिचय दिया है। प्रयोग की दृष्टि से पार्श्वनाथचरित में अनुष्टुप् छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इसके बाद वंशस्थ, वियोगिनी, मालभारिणी पुष्पिताग्रा और उपजाति का स्थान है, जिनकी संख्या १०० से अधिक हैं। मालभारिणी जैसे अप्रचलित छन्द का पर्याप्त प्रयोग वादिराज जैसे कुशल कलाकार द्वारा ही संभव हो सका है। पार्श्वनाथचरित के षष्ठ सर्ग को छन्दों का अजायबघर कहा जावे तो कोई अत्युचित नही होगी। एक दो छन्दों को छोड़कर शेष सभी छन्दों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण का बहुतायत प्रयोग किया है। किन्तु माधुर्य और ओज गुण का प्रयोग भी यथास्थान पार्श्वनाथचरित में किया गया है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने काव्य की निर्दोषता पर अत्यन्त वल दिया है। किन्तु कालिदास जैसे समर्थ कवि भी दोषों से बच नहीं सके हैं। वादिराज के पार्श्वनाथचरित में भी च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्तत्व, अविमृष्ट-विधेयांश आदि कुछ दोष दृष्टिगोचर होते हैं। इतना होने पर भी अनेक गुणों के मध्य एकाध दोष काव्य में उसी तरह अपकर्ष नही पहुंचाता है, जैसे कि चन्द्रमा के मध्य में स्थित कलंक चन्द्रमा का अपकर्ष नहीं करता हैं।

प्रकृति-चित्रण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। प्रकृति चित्रण के दोनों रूपों-आलंवन और उद्दीपन का वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में चित्रण किया है। वादिराज के प्रकृति-चित्रण की यह विशेषता है कि कहीं वह मादक वातावरण पाकर शृंगार का उद्दीपन करता है तो कहीं शान्त वातावरण में शान्त रस का संचार। कालिदास आदि महाकवियों की तरह वादिराज ने भी पार्श्वनाथचरित में प्राकृतिक वर्णनीय विषयों में चन्द्रोदय, सूर्योदय, प्रातः, मध्याह्न, संध्या, रात्रि, पर्वत, नदी, वन, आश्रम, नगर, जलक्रीडा, रतिक्रीड़ा, मदिरापान, पुत्रजन्मोत्सव,

मंदिर, युद्ध, षड्ऋतु आदि का वर्णन किया है। इनमें ऋतुओं का वर्णन कवि की स्वाभाविक उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत होकर ललित शब्दावली की शोभा से सहज ही पाठकों का चित्त आकृष्ट कर लेता है। उनके ऋतु-वर्णन में शीतल, मन्द और सुगंधित पवन, पुष्पों का अलौकिक सौन्दर्य, भ्रमरों का गुंजार, पक्षियों का कलरव, युवतियों का नाचगान, स्त्री-पुरुषों के विप्रलंभ आदि का वर्णन मानवीय सुख-दुःख की भावनाओं के आधार पर किया गया है। इन प्राकृतिक वर्णनों के अतिरिक्त नारी का परम्परागत नख-शिख सौन्दर्यवर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि और कल्पना का अद्वितीय नमूना है। उक्त समस्त वर्णनों को देखकर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि उनके वर्णनों में कला और भाव का अद्भुत संयोजन हुआ है। कला की सशक्तता और अनुभूति की सजगता का मणिकांचन संयोग वादिराज के वर्णनों में दृष्टिगोचर होता है।

पार्श्वनाथचरित के आन्तरिक अनुशीलन से उसमें प्रतिबिंबित तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक परिस्थितियों की झाँकी दिखलाई पड़ती है। प्रकृत शोध-प्रबन्ध में विवेचित तात्कालिक स्थिति से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णाश्रमव्यवस्था का पर्याप्त प्रभाव था। वैदिक और श्रमण दोनों ही सम्प्रदायों में ब्राह्मण वर्ण मौजूद था। चाण्डालों को अस्पृश्य माना जाता था। परिवार के सदस्यों में कटु और मधुर दोनों तरह के संबन्ध रहते थे। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, पुत्रोत्पत्ति, नामकर्म, चौलकर्म आदि संस्कारों ने धार्मिक मान्यता प्राप्त करली थी। अतएव इनका करना आवश्यक माना जाता था। सामान्यतः निरामिष भोजन का ही प्रचलन था, परन्तु जंगली जातियों में सामिष भोजन भी किया जाता था। चावल का निरामिष भोजन में मुख्य स्थान था। उस समय चावल की विविध किस्में प्रयुक्त होती थीं। पेय में इक्षुरस और मदिरा का प्रयोग होता था। पहिनने के वस्त्रों में सामान्य रूप से ऊर्ध्ववस्त्र और अधोवस्त्र इन दो वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। विट, अभिसारिका एवं वेश्या आदि की वेशभूषा भिन्न होती थी। मनोविनोद के साधनों में प्रहासगोष्ठी, नृत्य, वाद्य, गीत, गृहोद्यान-भ्रमण और दोलालीला का प्रमुख स्थान था। वाद्यों में वल्लकी, पटह, वेणु, वीणा, दुंदुभि, पणव, तुणव, मंजीर आदि का प्रयोग होता था। आभूषणों के रूप में कुण्डल, अवतंस, मणि-हार, मुक्ताहार, वलय, अंगद, कांची, कांचनमेखला, किंकिणी, नूपुर, मणिनूपुर आदि आदि का प्रयोग किया जाता था। प्रसाधन के साधनों में चन्दनलेप, केसरलेप, आम्र-पल्लव, केसरपत्र, कमलिनीपत्र, पद्मकुड्मल, कुंकुमलेप, अंजन, दर्पण आदि का उपयोग होता था। आवागमन के साधनों में हाथी, घोड़ा, टट्टू, पालकी आदि का

उपयोग किया जाता था। जीविकोपार्जन के साधनों में कृषि, व्यापार और दुकानदारी का प्रमुख स्थान था।

वादिराज का समय राजनीति का संक्रमण काल था। अतः राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी पार्श्वनाथचरित में परिलक्षित होता है। राजा और मंत्री का उत्तराधिकार प्रायः परम्परया ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलता था, किन्तु ज्येष्ठ पुत्र की अयोग्यता होने पर छोटे पुत्र को भी दिया जा सकता था। युवराज पद के लिए यौवराज्याभिषेक और राजपद के लिए राज्याभिषेक किया जाता था। राजा के अनेक अधिकारी सेवक होते थे। प्रजा की आन्तरिक बातों का पता लगाने के लिए एक गुप्तचर विभाग भी होता था। उस समय राजा और प्रजा के संबन्ध अत्यन्त मधुर थे। राजा की आय के साधनों में प्रजा के द्वारा दिये गये कर प्रमुख थे। न्याय और दण्डव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। देश की रक्षा के लिए एक सैन्य-विभाग होता था।

शिक्षा के केन्द्रों में आश्रमों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। गुरु और शिष्य के पारस्परिक संबन्ध अत्यन्त मधुर थे। पाठ्यक्रम में वेद, जैनागम, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, शस्त्रास्त्रविद्या का अध्ययनाध्यापन होता था। इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में आज से ९५० वर्ष से भी अधिक पहले की स्थिति का चित्र उपस्थित होता है। समाज के परिपार्श्व में यह विवेचन अविस्मरणीय है।

पूर्ववर्ती साहित्य का सभी कवियों पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। क्योंकि कवि अपने पूर्वकवियों की कृतियों का गभीर अध्ययन करता है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में पद्यबन्ध में कविकुलगुरु कालिदास, भारवि, माघ और जैनकवि हरिचन्द्र तथा गद्यकाव्यनिबंधन में बाणभट्ट का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वातिशायी स्थान है। वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित में कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव, ऋतुसंहार और मेघदूत, भारवि के किरातार्जुनीय, माघ के शिशुपालवध, बाणभट्ट की कादम्बरी तथा हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय का शाब्दिक, आर्थिक या भावात्मक अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु पार्श्वनाथचरित में पूर्वकाव्यों की परम्परा के निर्वाह के साथ ही वादिराज ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि से उसमें मौलिक अनुभूतियों के समावेश के द्वारा नवीन स्वरूप प्रदान कर दिया है।

पार्श्वनाथचरित के प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर हम अनायास इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत की साहित्य-साधना संस्कृत को आधार बनाकर सभी सम्प्रदायों के संकीर्ण बंधन को पार कर गयी थी। भारत की सार्वभौम भाषा के रूप में संस्कृत की प्रतिष्ठा में वैदिक, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन सम्प्रदाय ने भी योगदान किया और एक समृद्ध एवं ऐश्वर्यशाली साहित्यिक परम्परा का निर्माण किया। वादिराज निःसंशय मध्ययुगीन भारत के संस्कृत साहित्य के अग्रगण्य प्रतिभू रहे हैं और उनकी कृतियों ने संस्कृत-साहित्य के भाण्डार को नवीन आदर्श और नई भावराशियों का स्मरणीय उपहार दिया है।

परिशिष्ट

(क) सूक्तियां

(परिशिष्ट में दिये गये अंक पार्श्वनाथचरित के सर्ग और श्लोक संख्या के बोधक हैं)

'अर्थी दोषं न पश्यति ।' १।२।

प्रयोजन वाला व्यक्ति (अपने) दोष को नहीं देखता है ।

'स्मरातुरस्यास्ति कुतो विवेक: ।' २।१६

कामातुर मनुष्य को विवेक कहाँ रहता है ।

'को वा प्रियो धर्मपथच्युतस्य ।' २।१६

धर्मपथ से भ्रष्ट व्यक्ति का कौन प्रिय होता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

'कामो हि कामं भ्रममातनोति ।' २।२२

निश्चय ही काम अत्यन्त भ्रम को पैदा करता है ।

'स्त्रियो हि तस्मिन् (कामे) विषये विदग्धा: ।' २।२७

निश्चय ही स्त्रियां काम के विषय में चतुर होती हैं ।

'...न क्षमते मनोभू: क्षणेऽपि भङ्गं निजशासनस्य ।' २।३३

कामदेव अपनी आज्ञा का उल्लंघन क्षण भर भी बर्दाश्त नहीं कर सकता ।

'मन: प्रसङ्गोऽपि पराङ्गनाया: क्षिणोति पुण्यं प्रथमं जनस्य ।
स पुण्यरिक्तस्तनुवाक्प्रसंगं कृत्वापि सौख्यं लभते किमाख्यम् ।।' २।३८

प्रथम तो दूसरे की स्त्री से चित्त लगाना ही मनुष्य के पूर्वकृत पुण्य को नष्ट कर देता है । तो फिर पुण्य से हीन वह व्यक्ति उससे वार्तालाप करके भी कौन सा सुख प्राप्त कर सकता है ।

'स्वभाववश्यं मकरध्वजस्य स्त्रीणां मन: किंनु कृतोपजातम् ।' २।४४

स्त्रियों का भेदबुद्धि वाला मन कामदेव के स्वभाव के वशीभूत होता है ।

'अपि स्वयं सिंहपराक्रमस्य पुंसोऽभिगुप्ता भुजपंजरेण ।
न कामिनी लंघयति स्मराज्ञां लब्धावकाशा तनु किं करोति ।।' २।४५

सिंह के समान पराक्रम वाले पुरुष के भुज-पंजर द्वारा रक्षित कामिनी काम-

देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती। फिर वह मौका मिलने पर क्या नहीं कर डालती है।

'न हि स्त्रीप्रकृतिर्गुणज्ञा।' २।४७

निश्चय ही स्त्री का स्वभाव गुणज्ञ नहीं होता है।

'भनक्ति न प्रेम महानुभावः।' २।६१

महानुभाव लोग प्रेम को नहीं तोड़ते हैं।

'पादाश्रितानामभिरक्षणं यन्तदेवकृत्यं नु महोन्नतीनाम्।' २।६७

महान उन्नति वालों का पदाश्रितों की रक्षा करना ही कृत्य है।

'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।' २।६९

दोष और गुण संसर्ग से उत्पन्न होने वाले होते हैं।

'अवश्यकर्तव्यमिदं हि पुंसि यत्सर्वथा साधुजनप्रसङ्गः।
विवेकसिद्धेः स भवत्युपायः श्रेयस्करी सा च भवद्वयेऽपि॥' २।८५

मनुष्य को सज्जन लोगों का साथ सर्वदा अवश्य करना चाहिए। क्योंकि वह विवेकसिद्धि का उपाय है और विवेकसिद्धि इहलोक और परलोक दोनों लोकों में कल्याणकारी होती है।

'नेत्राभिरम्यो रचनाविशेषः।' २।९२

सुन्दर रचना नेत्रों को अच्छी लगने वाली होती है।

'प्रौढानुरागेण बिभर्ति लक्ष्मीं नरो गुरूनप्यतिसंदधानः।
सा वारनारीव नवप्रिया तं विमुञ्चति वाञ्छति कंचिदन्यम्॥' २।९८।

मनुष्य गुरुओं की प्रतारणा करता हुआ प्रौढ़ानुराग से लक्ष्मी को धारण करता है वह लक्ष्मी नये प्रेमियों को चाहने वाली वेश्या की तरह उसे छोड़ देती है और किसी अन्य को चाहती है।

'कः कस्य बन्धु यदि वा विरोधी रागापरागौ यदुपप्लवेते।' २।१००

राग और द्वेष यदि दोनों निकल जायें तो कौन किसका मित्र अथवा शत्रु है।

'गुणो हि मुख्यो विनयः प्रभूणाम्॥' २।११७

श्रेष्ठ मनुष्यों का विनय ही मुख्य गुण है।

'दानोत्तरा मानवतां हि तुष्टिः।' २।११८

स्वाभिमानियों की सन्तुष्टि दान देने के बाद ही होती है।

'सुलभा भव्यतया हि निर्वृत्तिः।' ३।७

निश्चय ही भव्यत्व से मोक्ष सुलभ है।

'कथमप्यवधेयवस्तुनि

'प्रतिपित्सां कुरुते हि भव्यता ।' ३।१२
नियम से किसी प्रकार से ज्ञेय पदार्थ में भव्यता जिज्ञासा पैदा करती है।
'ननु मिथ्यात्वमनर्थकारणम् ।' ३।३२
मिथ्यात्व (विपरीतज्ञान) अनर्थ का कारण है।
'न हि वन्येषु गुणज्ञतागुणः ।' ३।३३
जंगली मनुष्यों में गुणों को जानने की वृद्धि नहीं होती है।
'अपि दुष्कर्मकृतो न वन्धवः ।' ३।५०
कुकर्म करने वाले के बांधवजन भी साथी नहीं होते हैं।
'पुराकृतं ननु काले नियमने पच्यते ।' ३।५१
पूर्व-कर्म समय पर नियम से फल देते हैं।
'सुघटीकुरुते हि दुर्घटं ननु कर्मानिवबोधवं हितम् ।' ३।८५
विवेकशून्य व्यक्ति को अनायास आपत्तियां घेर लेती हैं।
'न नृशंसस्य दयस्ति साधुषु ।' ३।१०२
नृशंस को सज्जनों में दया नहीं रहती है।
'नपुंसकस्यास्ति न पुंगुणे रुचिः ॥' ४।२७
नपुंसक की पुरुषों के गुण में प्रीति नहीं होती।
'स्वयं हि भव्यस्य गुणाः पुरस्सराः ।' ४।२८
जो भव्य होते हैं उनमें गुण अपने आप आगे आगे आ जाते हैं।
'गुणाहि यत्नेन कृताभिरक्षता भवन्ति पुंसां परिपाकपेशलाः ।' ४।४७
(आपत्ति में) प्रयत्नपूर्वक भलीभांति रक्षित गुण निश्चय ही मनुष्यों के लिए परिणाम में सुखदायक होते हैं।
'बलवत्ता न विना प्रधानसेवाम् ।' ५।६
विना प्रधान की सेवा किये बलवत्ता नहीं आ सकती।
'ननु सख्यं सुकरं समानशीलैः ।' ५।५५
समान स्वभाव वालों से मित्रता करना शीघ्र सम्भव है।
'भवन्ति भव्याः हितवस्तुवेदिनः ।' ६।३
भव्य पुरुष हितकारी वस्तु के जानने वाले होते हैं।
'सहिताः क्षुद्रतया हि नोचितज्ञाः ।' ५।७२
क्षुद्र प्रकृति वाले लोग उचित कार्य को जानने वाले नहीं होते हैं।
'अविविच्य क्रिया नैव श्रेयसे बलिनामपि ।
गजोऽपि निपतेत् गर्ते वृत्तस्तमसि चर्यया ॥' ७।८४
बिना सोचे समझे कार्य करने से बलशाली पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता।

अन्धकार में चलने से हाथी भी गड्ढे में गिर जाता है।

'कालक्रमोपपन्ना तु नियतिः केन लंघ्यते।' ७।८६

कालक्रम से प्राप्त हुए भाग्य को कौन टाल सकता है।

'प्रयान्ति मूर्च्छामतियौवनस्थाः।' ८।१२

यौवन के अत्यन्त भार से दबे हुए मनुष्य मूर्च्छित हो जाते हैं।

'भक्तिरेव खलु कल्पवल्लरी।' ९।१६

भक्ति ही निश्चयेन कल्पलता है। अर्थात् कल्पलता जिस प्रकार अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करती है उसी प्रकार भक्ति भी समस्त मनोरथों को पूर्ण करती है।

'भवति हि कमलं नहि पंकदिग्धं नियतिवसाद्यतिनामपल्वलस्थम्।' १०।५

भाग्यवश यदि कमल पोखरी (छोटा जलाशय) में भी उत्पन्न हो जाये तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता।

'अभिमतविषयोपसर्पणार्थं किमु कुपथेन भवेत्प्रयाणम्।' १०।६७

अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए मिथ्या मार्ग के अनुगमन करने से क्या फायदा ? अर्थात् अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए मिथ्यामार्ग का अनुसरण करना ठीक नहीं है।

'अपि लघुगणनेषु देवदेवो न हि कुरुते स कृती कदाप्यवज्ञाम्।' १०।८५

धर्मात्मा व्यक्ति देवों के देव होने पर भी तुच्छ प्राणियों की कभी भी अवज्ञा नहीं करते हैं।

'अथवा मणवः किं न पाषाणादुत्पतिष्णव।' ११।५

ठीक ही है, मणियां क्या पाषाण से उत्पन्न नहीं होती हैं अर्थात् होती ही हैं।

'मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात्कृतात्मनाम्।' ११।८

महानुभावों की प्रवृत्ति क्या अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि के लिए नहीं होती है। अर्थात् अवश्य ही होती है।

'यद्योजयति भोगांगे जानन्नपि मनो जनः।
अतः कूपनियातोऽयं दीपहस्तस्य देहिनः॥' ११।१०

विषय भोगों के स्वरूप का जानकार मनुष्य यदि भोगों से अपने मन को लगाता है, तो यह हाथ में दीपक लिए हुए मनुष्य का कुंआ में गिरना है।

'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥' ११।१३

कीचड़ में फंसकर उसे धोने की अपेक्षा उससे दूर रहना ही अच्छा है।

4651

(ख) पारिभाषिक शब्दकोश

अक्षय्य सुख (१।१९)

कभी नष्ट न होने वाला मोक्ष सुख।

अच्युत कल्प (४।४७)

सोलह स्वर्गों में से अन्तिम (सोलहवें) स्वर्ग का नाम।

अतिचार (१२।४६)

यथार्थ शुद्धि को रोकने वाले अथवा शिथिलताकारक दोष, जिससे व्रत का नाश तो न हो पर व्रत मलिन हो जाये उसे अतिचार कहते हैं। अर्थात् व्रत या नियम का एकदेश भंग हो जाना।

अतीन्द्रिय विषय (३।९)

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के विना ज्ञान के योग्य आत्ममात्र सापेक्ष विषय।

अनन्तगुण (१।११)

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख इन अनन्तचतुष्टय को अनन्तगुण कहा जाता है।

अनन्तराय (९।४१)

आत्मा के दानादि रूप भावों के न होने देने में निमित्त एक घातिया कर्म।

अणुव्रत (३।९०)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है। इसके पांच भेद हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अभव्य (३।७)

जिन जीवों में संसार से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति नहीं है। अर्थात् ऐसे जीव जो कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

अरत्नि (३।१२३)

एक हाथ से कुछ कम प्रमाण। कनिष्ठा अंगुली को फैलाये हुए मुट्ठी बांधकर हाथ से नापे हुए प्रमाण विशेष का नाम अरत्नि है।

अर्हंत (३।११५)

चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव अर्हत् कहलाते हैं।

अर्हन्त, अरहन्त या अरिहन्त भी अर्हत् के ही नामान्तर हैं।

अर्हन्त (१।११)

देखें—अर्हत्।

अवधिज्ञान (३।६०)

ज्ञान के पांच भेदों में से एक। द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अवधि वाला अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

अविद्या (१।६२)

अनित्य पदार्थों में नित्यबुद्धि, दुःख में सुख बुद्धि आदि विपरीत बुद्धि का नाम अविद्या है।

अहिंसा व्रत (२।११५)

मन, वचन और काय से कृत, कारित अथवा अनुमोदित रूप से षट्काय के जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करना मुनि का अहिंसा व्रत (अहिंसा महाव्रत) कहलाता है।

आगम (४।४८)

वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी या उनकी वाणी का संग्राहक आप्तप्रणीत सच्चा शास्त्र।

आत्मा (१२।२७)

जैन दर्शन में जीव का दूसरा नाम आत्मा है। दो भेद हैं—(१) बद्ध—जो कर्मबन्धनों से युक्त है और (२) मुक्त—जो कर्म बन्धनों से रहित हो चुकी हैं। प्रथम प्रकार के जीव संसारी और द्वितीय मुक्त कहे जाते हैं।

आत्यन्तिक सुख (१२।५६)

मोक्ष सुख, जिससे बड़ा कोई सुख नहीं है।

आनत (१०।१)

तेरहवां स्वर्ग।

आनुश्रविक विषय (११।६४)

परोक्ष स्वर्गादि के भोग, जो सुने जाते हैं, परन्तु इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है।

आर्तमन (३।४०)

इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, वेदना अथवा निदान-भविष्य में भोगों की आकांक्षा के बारंबार चिंतवन के कारण दुःखी मन।

आश्चर्यपञ्चक (११।५०)

रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि, मंदसुगंधितपवन और 'अहोदानं-अहोदानं'

की ध्वनि ये पांच आश्चर्य हैं।

इन्द्रिय (२।६४)

जिससे ज्ञान और दर्शन का लाभ हो सके, उसे इन्द्रिय कहते हैं।

उपपाद शय्या (३।१०८)

देव जिस स्थान पर जन्म लेते हैं, उस स्थान विशेष का नाम।

उपयोग (१२।२६)

उपयोग जीव का लक्षण है। यह जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है।

उपवास (३।६६)

अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के भोजनों (आहारों) का त्याग करना उपवास है।

एकत्ववितर्कावीचारध्यान (११।८४)

शुक्लध्यान के चार भेदों में से एक। जब आलंबनभूत द्रव्य या उसकी पर्याय या योग का संक्रमण न होकर एक ही द्रव्य या पर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा ध्यान किया जाता है, तो उसे एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक तृतीय शुक्लध्यान कहते हैं।

कर्म (३।८५)

आत्मा जिनके कारण बद्ध हैं। कर्म के भेद हैं—द्रव्य और भाव। कार्मण जाति का पुद्गल, जो कि आत्मा के साथ मिलकर कर्मरूप में परिणत होता है उसे द्रव्य कर्म तथा रागद्वेषात्मक परिणाम को भावकर्म कहते हैं।

कषाय (३।५३)

कष धातु से निष्पन्न है। कष् धातु के दो अर्थ हैं—कर्षण एवं हिंसा। अर्थात् जो जीव के सुखदुखादि के उत्पादक संसार क्षेत्र का कर्षण (जोतना) करता है, उसे कषाय कहते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जो जीव के चारित्र का घात करे उसे कषाय कहते हैं।

कायक्लेश (१०।८८)

छह तरह के बाह्यतपों में अन्तिम तप। शीतोष्ण आदि बाधाओं के सहने और आसन विशेष में रहने का अभ्यास कायक्लेश तप है।

किन्नर (१२।१०)

व्यन्तर देवों के आठ भेदों में से प्रथम प्रकार के देव।

किल्विष (१०।२८)

भवनवासी देवों के दस भेदों में से एक। ये अन्तेवासियों के समान होते हैं।

केवल (११।८५)

लोक और अलोक के समस्त चराचर पदार्थों को हस्तामलक की तरह स्पष्ट रूप से जानने वाला ज्ञान। इसके हो जाने पर जीव सर्वज्ञ हो जाता है।

गणधर (१२।२१)

तीर्थव्यवस्थापक या तीर्थंकर की अर्थरूप वाणी का व्याख्याता या तीर्थंकर के समवसरण में रहने वाले चार ज्ञान के धारक मुनि।

घातिकर्म (११।८४)

आत्मा के अनुजीवी स्वाभाविक गुणों के घात के करने वाले कर्म। इसके चार भेद हैं—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय। जो अनुजीवी गुणों का पूर्णतया घात करते हैं उन्हें सर्वघाति और जो एक देश घात करते हैं उन्हें देशघाति कहते हैं।

चतुर्निकाय (११।८८)

निकाय का अर्थ है—समूह या समुदाय। देवताओं के चार निकाय हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

जिन (१।१४)

रागद्वेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर चुकने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव।

जीव (१२।२२)

उपयोग-ज्ञान दर्शन रूप व्यापार जिसमें पाया जाता है, उसे जीव कहते हैं। उपयोग का कारण चेतना शक्ति है।

ज्ञान (१।८)

पदार्थों को साकार-सभी विकल्पों के साथ जानने वाला।

तत्त्वार्थबोध (१२।३३)

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनके अर्थ का सम्यक् ज्ञान तत्त्वार्थबोध है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को भी तत्त्वार्थ कहते हैं। अतः इनका जानना तत्त्वार्थबोध है।

तप (१।३)

शरीरेन्द्रिय और मन को तपाने अर्थात् इन पर विजय पाने के उपाय का नाम तप है। यह विषयों से मन को दूर करने और रागद्वेषादि को जीतने का कारण है। इसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य–जो दूसरों को भी दिखाई पड़े तथा

आभ्यन्तर–जिसमें मानसिक क्रियाओं की प्रधानता हो और जो दूसरों को दिखाई न पड़े।

तमःप्रभा (४।५७)

छठवें नरक का नाम।

तापस (१।७)

जैन आगमों में उल्लिखित पांच तरह के श्रमणसम्प्रदायों-निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुआ और आजीवक में से तृतीय सम्प्रदाय। जटाधारी वनवासी पाखण्डी साधुओं को तापस कहा जाता है। ये एकान्तवादी होते हैं।

तीर्थ (१२।५३)

तीर्थ शब्द तृ धातु से थक् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। शब्दकल्पद्रुम में इसके दो अर्थ किये गये हैं—'तरति पापादिकं यस्मादिति तीर्थम्' और 'तरतिसंसारमहार्णवं येन तद् तीर्थम्।' दोनों व्युत्पत्तियों से तीर्थ शब्द का लाक्षणिक अर्थ धर्म निकलता है।

तीर्थकृत्त्व (६।४३)

जो तीर्थ-धर्म का प्रचार करता है उसे तीर्थकृत् (तीर्थंकर) कहते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में इनकी संख्या २४, २४ और विदेह क्षेत्र में २० मानी जाती है। तीर्थकृत् के भाव को तीर्थकृत्त्व कहते हैं।

त्रिमार्गामुक्ति (१।२४)

सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मुक्ति के उपाय हैं, अलग-अलग नहीं। इसीलिए मुक्ति को त्रिमार्गा कहा गया है।

दृष्ट विषय (११।६४)

प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भोग-सुन्दर स्त्री, स्वाद्य भोजन आदि।

द्रव्य (९।२०)

द्रव्य वह है जिसमें सत्ता हो और वह सत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन गुणों से युक्त होती है।

दुर्नय (११।१८)

जो नय अपने पक्ष या प्रतिपाद्य वस्तुधर्म पर एकान्त आग्रह रखते हैं, वे सभी दुर्नय हैं। अर्थात् जो नय दुराग्रह पूर्वक दूसरे नयों का निराकरण करता है और अपनी ही बात को प्रतिष्ठित करता है, वह दुर्नय है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सभी निरपेक्ष नय मिथ्या है।

धर्म (१।-८)

'धरति इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करावे या पहुंचावे। तात्पर्य यह है कि जो जीवों को संसार के दुःख से निकाल कर उत्तम सुख में पहुंचाता है, उसे धर्म कहते हैं।

नय (१२।३१)

धर्मान्तर के प्रतिषेध के बिना विवक्षित धर्म का ही कथन करना नय है। यह वस्तु के एकदेश का ज्ञान-साधन है। विवक्षित धर्म के अतिरिक्त न तो नय अन्य धर्मों का निषेध ही करता है और न ही प्रयोजनाभाव से उनका विधान ही।

नवग्रह (४।११६)

सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये नौ ग्रह हैं।

नवद्वार (२।६७)

शरीर के ९ रंध्रों का नाम द्वार है, जिनसे शरीर के विकार बाहर निकलते हैं। वे हैं—२ आंखें, २ कान, २ नासिका द्वार, १ मुंह, एक मलद्वार और एक मूत्रद्वार।

नवरस (प्रशस्तिपद्य। ६)

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त।

नियम (३।४)

किसी एक निश्चित अवधि तक के लिए जो व्रत धारण किया जाता है उसे नियम कहते हैं।

निर्ग्रन्थ (११।६३)

जिनके पास किंचित् भी परिग्रह नहीं होता है, ऐसे सर्व परिग्रह-त्यागी मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

निर्वेद (८।७७)

संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्ति का भाव।

पंच-उत्सव (१०।५५)

तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के समय होने वाले उत्सव।

पञ्चमुष्टिकेशलुंच (११।४१)

मुनि की अनेक साधनाओं में से एक साधना। इसमें मुनि को केशों की लौंचना या उखाड़ना पड़ता है। इसके करने से परिषहजय और संयम की प्राप्ति होती है।

पञ्चाक्षरी (१२।४६)

अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व वर्णों का समुदाय पञ्चाक्षरी कहलाता है।

परमेष्ठी (४।३८)

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच को परमेष्ठी कहते हैं।

परीषहजय (६।६)

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, राग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन इन २२ परीषहों-कष्टों को जीतना।

पारणा (११।४५)

उपवास-चतुर्विध आहार त्याग के दूसरे दिन प्रथम आहार ग्रहण करने का नाम पारणा है।

पुद्गल (६।१६)

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं ऐसा अचेतन द्रव्य। पुद्-पूरण, गल-गलन अर्थात् इन दोनों क्रियाओं के कारण यह परिवर्तित होता रहता है, इसीलिए इसे पुद्गल कहते हैं।

प्रथमक संहनन (१०।६२)

नाम कर्म की ९३ उत्तर प्रकृतियों में से एक वज्रवृषभनाराच नामक संहनन। जिस शरीर की अस्थियां और उन्हें जोड़ने वाली कीलें व्रज्र के समान होती हैं उसे व्रजवृषभनाराच संहनन कहते हैं।

प्रणवमन्त्र (६।४१)

पंचनमस्कार मन्त्र। इसे आदि, मूल या महामन्त्र के नाम से भी जाना जाता है। इसमें अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।

प्रमाण (१२।३१)

अंश-अंशी के भेद से रहित वस्तु का अखण्ड ज्ञान है।

भव (२।८५)

भव-जन्म। जन्म धारण करने को भव कहते हैं।

भव्य (१।१)

जिन जीवों में संसार से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है, उन जीवों को भव्य कहते हैं।

भावना (६।४३)

तीर्थंकर नामकर्म के बंध के लिए उपयोगी दर्शन विशुद्धि आदि १६ भावनायें। इनमें से किसी एक के होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो सकता है।

मनःपर्यय (११।४४)

ज्ञान के पांच भेदों में से चतुर्थ। यह ज्ञान दूसरे के मन की बात जानता है। इसका क्षेत्र मनुष्य लोक बराबर है। यह इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना होता है, दूसरे का मन केवल आलंबन रहता है।

मनःप्रवीचारसुख (४।२५)

प्रवीचार-विषयभोग। मन अर्थात् स्मरणमात्र से विषयसुख भोगों की पूर्ति हो जाना मनःप्रवीचार सुख है। १३वें स्वर्ग से १६वें स्वर्ग तक के देव मनःप्रवीचार सुख से युक्त होते हैं।

मलपञ्चक (३।८८)

पांच अतिचार। सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव।

महाशुक्र (३।१०८)

दसवें स्वर्ग का नाम।

मार्गणा (६।५)

अन्वेषण या गवेषणा। जिन भावों के द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं। श्रुतज्ञान में मार्गणा के चौदह भेद कहे गये हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक।

मुक्ति (१०।२६)

सभी कर्म बन्धनों से छुटकारा पा लेना। अर्थात् आत्मा और कर्म पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध छूट जाना ही मुक्ति है।

मुक्तिवर्त्म (६।४)

मोक्ष का मार्ग या उपाय। देखें—त्रिमार्गामुक्ति।

मिथ्यात्व (३।३२)

स्व स्वरूप को भूलकर परद्रव्यों-शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं—एकान्त, विपरीत, वैनयिक, संशय और अज्ञान।

म्लेच्छ (७।१२४)

जिन प्राणियों में धर्म की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, उन्हें म्लेच्छ कहते हैं। इनके दो भेद हैं—क्षेत्रम्लेच्छ और कर्मम्लेच्छ।

योजन (२।६५)

सामान्यतः चार कोश का एक योजन होता है, परन्तु अकृत्रिम वस्तुओं के

परिणाम में दो हजार कोश का एक योजन माना जाता है।

रत्नत्रय (१०।२६)

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को रत्नत्रय कहते हैं।

लेश्या (५।१२१)

जिसके द्वारा जीव पुण्यपाप से अपने को लिप्त करता है, यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। द्रव्य के ६ भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत पीत, पद्म, और शुक्ल। पूर्व–पूर्व की अपेक्षा आगे–आगे की लेश्यायें अच्छी हैं। योग और कषाय से अनुरंजित प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं।

लोकान्तिक (११।१४)

ब्रह्मलोक के समीप रहने वाले देव। ये देव एक भव धारण कर मोक्ष जाते हैं, अतएव लोक-संसार निकट होने से इन्हें लोकान्तिक कहा जाता है।

वायुकुमारदेव (१२।१७)

भवनवासी देवों का एक भेद।

विक्रया (११।६६)

एक ऋद्धिविशेष। इसके द्वारा अनेक तरह का रूपादि धारण करना शक्य है।

विपरीतवेदक (३।७६)

मिथ्यादृष्टि। इसके पांच भेद हैं। देखें—मिथ्यात्व।

वृत्तिपञ्चकनिरोध (६।६)

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति इन पांच वृत्तियों का निरोध करना।

व्यन्तराधिप (७।४७)

देवों के एक निकाय-सम्प्रदाय विशेष का अधिपति या स्वामी।

व्युपरतक्रियानिवृत्ति (१२।४८)

शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद। जब कार्मणवर्गणानिमित्तक आत्मप्रदेशों का स्पन्दन बिल्कुल समाप्त हो जाता है तथा आत्मा सर्वथा निष्प्रकंप हो जाती है, तो इसे व्युपरतक्रिया निवृत्तिशुक्लध्यान कहते हैं। इसके होते ही सातावेदनीय का आश्रव रुक जाता है और शेष कर्मों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

शलाकापुरुष (१।२३)

गणनीय पुरुष। कर्मभूमि की सभ्यता में जिन महापुरुषों ने कार्याकार्य का भेद सिखाया उन २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण (वासुदेव) तथा

९ प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव) इन ६३महापुरुषों की जैन धर्म में शलाका संज्ञा है।

शासनदेवता (१२।४२)

तीर्थंकर के अनुषंगी यक्ष और यक्षिणी, जो जैन शासन की रक्षा में सहायक होते हैं।

शून्यवाद (१।२७)

बौद्ध-दर्शन का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जाती है।

षड्गुण (१।१००)

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय ये राजाओं के छह गुण हैं।

षोडश स्वप्न (६।६५)

तीर्थंकर के गर्भ में आने के पूर्व माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं। वे इस प्रकार है—गज, श्वेतवृषभ, सिंह, मन्दारपुष्पमाला, लक्ष्मी, चन्द्रमा, सूर्य, जलपूर्ण कलश, मत्स्ययुगल, जलाशय, सागर, मणिसिंहासन, देवविमान, धरणेन्द्रभवन, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि।

सप्तभंगी (१२।२५)

प्रमाण के अविरोधी विधि प्रतिषेध की कल्पना का ढंग। यह कल्पना सात तरह से की जा सकती है। इसी का नाम सप्तभंगी है। सात भंग इस प्रकार हैं—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्याद् अस्ति अवक्तव्यं च, स्यान्नास्ति अवक्तव्यं च, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यं च।

समव्यवस्था आस्थायिका (१२।१)

समवसरण सभा केवलज्ञान की उत्पत्ति के बाद तीर्थंकर जिस सभा भवन में धर्मोपदेश करते हैं, उसे समवसरण कहते हैं। इसकी रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर करता है। यहां समवसरण मण्डप को ही समव्यवस्था आस्थायिका कहा गया है।

सम्यक्त्व (३।८७)

जब मिथ्यात्व का नाश होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है तब सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्–सम्यक् रूप से तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

सहजातत्रिबोध (११।४४)

तीर्थंकर के उत्पन्न होने के साथ ही रहने वाले तीन ज्ञान-मति, श्रुत और

अवधि ज्ञान।

सागर (३।१०४)

काल का एक प्रमाण, जिसकी गणना नहीं की जा सकती है। अर्थात् संख्यातीत वर्षों के काल सागर को कहते हैं।

सिद्ध (११।४१)

अष्टकर्मों से रहित, नित्य, निरंजन, शांतिस्वरूप आठ गुणों से कृतकृत्य और लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले जीवों को सिद्ध कहते हैं।

सुभद्र (८।८३)

सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं, उनमें से मध्यम (पंचम) ग्रैवेयक का नाम।

स्कन्ध (६।१६)

दो या दो से अधिक परमाणुओं का एक पिण्डीकृत रूप।

स्याद्वाद (१।२१)

आपेक्षिक कथनशैली। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। दोनों धर्मों का एक साथ कथन सम्भव नहीं है, अतः किसी एक को मुख्य तथा किसी एक को गौण बनाकर कथन करना स्याद्वाद है।

हिंसा (२।१)

प्रमाद के योग से प्राणों को सताना हिंसा है।

हूहू (१०।२७)

गन्धर्वों के दस भेदों में से एक।

(ग) उल्लिखित नामावली

अकलंक (१।२१) — ईसा की सातवीं शताब्दी में बौद्धों को वाद–विवाद में परास्त करने वाले, भट्ट उपाधिधारी, जैनन्याय के व्यवस्थापक के रूप में ख्यातिलब्ध नैयायिक।

अनंतकीर्ति (१।२४) — जीवसिद्धि टीका के रचयिता के रूप में वादिराज द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकार। संभवतः लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि के रचयिता से अभिन्न।

अनन्तवीर्य (१।२७) — संभवतः 'सिद्धिविनिश्चय' के टीकाकार। वादिराज द्वारा बौद्धों के शून्यवाद को शांत (निराकृत) करने वाले के रूप में उल्लिखित।

अनुंधरी (३।५२) — विश्वभूति मन्त्री की पत्नी तथा मरुभूति की माता का नाम अंबुधरी के अतिरिक्त अनुंधरी भी आया है।

अंबुधरी (१।६३) — विश्वभूति मन्त्री की पत्नी का नाम।

अरविन्द (१।६४) — पोदनपुर का राजा।

आनन्द (८।६८) — अयोध्या नगरी के राजा वज्रबाहु और रानी प्रभाकरी का पुत्र।

कमठ (१।६४) — विश्वभूति मन्त्री का ज्येष्ठ पुत्र।

कर्ण (१।२६) — कुन्ती का पुत्र।

कलहंस (२।२४) — कमठ का मित्र।

कृतमाल (७।११८) — वज्रनाभ चक्रवर्ती की दिग्विजय के प्रसंग में गुहा खोलने का उपाय बताने वाला एक देव।

कुरंग (८।७६) — कमठ का जीव। नरक से निकलने के बाद अपने छटवें जन्म में किरात जाति में उत्पन्न भील।

गृद्धपिच्छ (१।१६) — तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध जैन आचार्य एवं आद्य सूत्रकार।

क्षेमंकर (८।७८) — वज्रनाभ चक्रवर्ती ने वन में जाकर जिन मुनिराज से तप ग्रहण किया।

जयसिंह (प्रशस्ति।५) — चालुक्य चक्रवर्ती महाराज जयसिंह। वादिराज के समकालीन राजा, जिनके शासन काल में वादिराज ने पार्श्वनाथचरितादि ग्रन्थों का प्रणयन किया।

जिनसेन (१।२३)	आचार्य गुणभद्र के गुरु और आदिपुराण के रचयिता के रूप में विख्यात।
तथागत (२।१३)	बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध।
ताम्रमाल (७।१५६)	कांडकप्रपात नाम की गुहा का अधिपति।
दिग्नाग (१।२१)	प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् एवं तार्किक।
देव (१।१८)	आचार्य पूज्यपाद का दूसरा नाम देवनन्दि भी है। उसी का संक्षिप्त रूप।
धनंजय (१।२६)	१—द्विसंधान महाकाव्य के रचयिता २—मध्यम पाण्डव अर्जुन।
धरण (१२।४१)	तीर्थंकर पार्श्वनाथ के द्वारा तपस्या करने के समय भूतानन्दकृत उपसर्गों से तीर्थंकर की रक्षा करने वाला एक यक्ष देव।
धर्मोदय (११।४६)	तीर्थंकर पार्श्वनाथ को आहार देने वाला राजा।
धूर्जटि (१।३४)	भगवान् शंकर।
निधिगुप्ति (६।३६)	राजा आनन्द ने जिनके समीप जाकर तप को धारण किया।
पद्मावती (११।७०)	नागिन का जीव देवी की पर्याय में, धरणेन्द्रदेव के साथ जिसने भूतानन्द के उपसर्गों से तीर्थंकर पार्श्वनाथ की रक्षा की।
पद्मिनी (१।६)	पद्मावती देवी का अपर नाम।
पविघोष (३।४०)	मरुभूति का जीव मरणानन्तर वज्रघोष (पविघोष) नामक हाथी की पर्याय में।
प्रभाकरी (८।८८)	अयोध्या के राजा वज्रबाहु की रानी और आनन्द की मां।
प्रभास (७।१००)	दिग्विजय के प्रसंग में सीतोदा नदी के पास वज्रनाभ चक्रवर्ती द्वारा पराजित एक देव।
पार्श्वनाथ (१।१)	जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर।
पाल्यकीर्ति (१।२५)	शब्दानुशासन (शाकटायन व्याकरण) के रचयिता शाकटायन का नाम।
पिनाकी (४।६६)	पि ाक-धनुषबाण धारण करने वाले महादेव।
भूतानन्द (११।५८)	कमठ का जीव। पार्श्वनाथ के समय खेचर विद्याधर। पूर्वजन्म के वैरवश पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला।

मतिसागर (प्रशस्ति ।३) वादिराज के गुरु ।

मरुभूति (१।६४) विश्वभूति मन्त्री का छोटा पुत्र तथा राजा अरविन्द का मन्त्री ।

यशोहिमकर (७।१३२) सिंधु नदी के पास वज्रनाभ ने जिसे पराजित किया ।

रश्मिवेग (४।२२) विजयार्ध पर्वत के ऊपर स्थित त्रिलोकोत्तमनगर के स्वामी विद्युद्वेग और उसकी पत्नी विद्युन्माला का पुत्र ।

वज्रनाभ (४।१४०) अश्वपुर नगराधीश वज्रवीर्य और पट्टरानी विजया का पुत्र चक्रवर्ती वज्रनाभ ।

वज्रबाहु (८।८५) अयोध्या नगरी का राजा और आनन्द का पिता ।

वरतनुदेव (७।६८) वज्रनाभ की दिग्विजय में विजित एक देव ।

वसुन्धरा (१।६५) मरुभूति की पत्नी ।

वादिराज (प्रशस्ति । ४) पार्श्वनाथचरितादि ग्रंथों के रचयिता ।

वादिसिंह (१।२१) न्याय और दर्शन के जैन विद्वान् । परिचयादि अनुपलब्ध सम्भवतः बौद्धविद्वान् दिग्नाग के समकालीन ।

विजया (४।८२) राजा वज्रवीर्य की पत्नी और चक्रवर्ती वज्रनाभ की माता ।

विजयार्धकुमार (७।११६) विजयार्धपर्वतवासी विद्याधर ।

विद्यानन्द (१।२८) 'तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकालंकार' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध जैन विद्वान् ।

विद्युद्वेग (४।१४) त्रिलोकोत्तम नगर का स्वामी विद्याधर ।

विद्युन्माला (४।१८) विद्युद्वेग की पत्नी ।

विशेषवादि (१।२६) अप्राप्य काव्य (विशेषाभ्युदय ?) के रचयिता । वादिराज द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकार ।

विश्वभूति (१।६२) राजा अरविन्द का मन्त्री ।

विश्वसेन (६।६५) तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता ।

वीरनन्दि (१।३०) चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के रचयिता । वादिराज द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकार ।

शशिगुप्त (३।६४) अरविन्द मुनिराज के संघ में प्रमुख वणिक् ।

शशिप्रभ (४।२१) रश्मिवेग अपनी पूर्व पर्याय में स्वर्ग में देव ।

शिखण्डी (५।१००) राजा द्रुपद का पुत्र ।

श्रीपालदेव (प्रशस्ति । २)	वादिराज के दादागुरु ।
सन्मति (१।२२)	सन्मति टीका के रचयिता के रूप में वादिराज द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकार ।
समाधिगुप्त (४।३६)	रश्मिवेग ने विरक्त होकर जिन मुनिराज की शरण ली ।
स्वयंप्रभ (२।१०२)	राजा अरविन्द के दीक्षागुरु ।
स्वयंभू (१२।२१)	तीर्थंकर पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर ।
स्वामी (१।१७)	स्वामी समन्तभद्र का संक्षिप्त नाम वादिराज द्वारा उल्लिखित 'देवागम' के रचयिता ।
हेमकार (७।१३२)	वज्रनाभ चक्रवर्ती द्वारा विजित एक देव ।

सन्दर्भ-ग्रन्थानुक्रमणिका

अनुयोगद्वारसूत्र भाग १-२—आर्यरक्षित, व्याख्या०—श्री घासीलाल जी महाराज, प्रका०—अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, प्रथम संस्करण, १९६७-१९६८ ई० ।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, लेखक—डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७२ ई० ।

अमरकोश—अमरसिंह, प्रका०—गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो बम्बई, षष्ठ संस्करण, १९०७ ई० ।

अलंकार-चिन्तामणि—अजितसेन, सम्पा०—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७३ ई० ।

(हिन्दी) अलंकार-सर्वस्व—रुय्यक, भाष्य०—डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका०—चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७१ ई० ।

अष्टाध्यायी सूत्रपाठ—पाणिनि, प्रका०—भार्गव पुस्तकालय गायघाट, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९४२ ई० ।

आदिपुराण—जिनसेन, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, द्वितीय संस्करण, १९६३, १९६५ ई० ।

आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, लेखक—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—गणेश प्रसाद वर्णी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला वाराणसी, १९६८ ई० ।

आप्तपरीक्षा—विद्यानन्द, सम्पा०—दरबारीलाल कोठिया, प्रका०—वीर सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर), १९४९ ई० ।

इन्ट्रोडक्शन टू यशोधरचरित, सम्पा०—टी०ए० गोपीनाथ राव, तंजौर, १९१२ ई० ।

उत्तरपुराण—गुणभद्र, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५४ ई० ।

ऋग्वेदसंहिता, सम्पा०—श्री पादशर्म भट्टाचार्य सातवलेकर, प्रका०—स्वाध्याय-मण्डल पारडी, जिला—वलसाड ।

ऋतुसंहार—कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली), सम्पा०—पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रका०—भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, तृतीय संस्करण; वि०सं० २०१९ ।

एकीभावस्तोत्र—वादिराज, सम्पा०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री, प्रका०—वीर सेवा-मन्दिर सरसावा (सहारनपुर), १९४० ई० ।

कल्याणकल्पद्रुम—वादिराज, भाष्य०—श्री जुगलकिशोर मुख्तार, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ई० ।

कादम्बरी—बाणभट्ट, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, द्वितीय संस्करण, वि०सं० २०१८ ।

काव्यप्रकाश—मम्मट, व्याख्या०—आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, सम्पा०—डा० नगेन्द्र, प्रका०—ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, पंचम संस्करण वि० सं० २०३१ ।

काव्यमीमांसा-राजशेखर, अनु०—गंगासागर राय, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन चौक वाराणसी, १९६४ ई० ।

काव्यादर्श—दण्डी, सम्पा०—आचार्य रामचन्द्र मिश्र, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, द्वितीय संस्करण, वि०सं० २०२८ ।

काव्यानुशासन—वाग्भट, सम्पा०—शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ पांडुरंग परब, प्रका०-निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९१५ ई० ।

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, सम्पा०—शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ पाण्डुरंग परब, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३४ ई० ।

काव्यालंकार—भामह, भाष्य०—देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२ ई० ।

काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट, सम्पा०—मंगेश रामकृष्ण तैलंग, बम्बई, १९१५ ई० ।

काव्यालंकारसूत्र—वामन, संशो०-नारायणराम आचार्य, प्रका०-निर्णयसागर प्रेस बम्बई, चतुर्थ संस्करण, १९५३ ई० ।

किरातार्जुनीय—भारवि, सम्पा०—आदित्यनारायण पाण्डेय, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पंचम संस्करण, १९६८ ई० ।

कुमारपालचरित—हेमचन्द्र, सम्पा०—डा० पी० एल० वैद्य, प्रका०—भाण्डारकर ओरियन्टल सीरीज पूना, १९३६ ई० ।

कुमारसम्भव—कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली), सम्पा०-सीताराम चतुर्वेदी, प्रका०-भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, तृतीय संस्करण, वि०सं० २०१९ ।

कुवलयमाला—उद्योतनसूरि, सम्पा०—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रका०—

सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई, १९५९ ई० ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र–विष्णुदत्त, सम्पा०–एन० एस० वेंकटनाथाचार्य, प्रका०-ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर यूनिवर्सिटी मैसूर, १९६० ई० ।

क्षत्रचूड़ामणि—वादीभसिंह, सम्पा०—नरेन्द्रनाथ जसवन्त सा, प्रकाशक—कंकूबाई धार्मिक पाठ्यपुस्तकमाला, कारंजा, प्रथम संस्करण, वी० नि०सं० २४६४ ।

गद्यचिन्तामणि—वादीभसिंह, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन, प्रका०–भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६८ ई० ।

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)–नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रका०—शा० रेवाशंकर जगजीवन जोहरी, आ० व्यवस्थापक–परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९२८ ई० ।

चन्द्रप्रभचरित–वीरनन्दि, सम्पा०—पं० अमृतलाल शास्त्री, प्रका०–लालचन्द हिराचन्द दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, १९७१ ई० ।

छन्दोऽनुशासन-हेमचन्द्र, सम्पा०—ह०दा० वेलणकर, प्रका० –सिंधी जैन शास्त्र शिक्षा-पीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई, १९६१ ई० ।

छन्दोमंजरी—गंगादास, टीका०–पं० हरिदत्त शास्त्री एवं शंकरदेव पाठक, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, १९६४ ई० ।

छन्दोमंजरी–गंगादास, प्रका०–संस्कृत बुक डिपो कलकत्ता, १९३८ ई० ।

जम्बुस्वामिचरिउ—वीर, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी १९६८ ई० ।

जयानंदकेवलिचरित—मुनिसुन्दरसूरि, प्रका०—हीरालाल हंसराज, भास्करोदय प्रेस जामनगर, १९६८ ई० ।

जिनरत्नकोश, ले०—हरि दामोदर वेलणकर, प्रका०–भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४४ ई० ।

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, ले०–डा० जगदीशचन्द्र जैन, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन चौक वाराणसी, १९६५ ई० ।

जैन दर्शन, ले०– डा० महेन्द्रकुमार जैन, प्रका०–गणेश प्रसाद वर्णी, दिगम्बर जैन संस्थान वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७४ ई० ।

जैन न्याय, ले०—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६ ई० ।

जैन शिलालेख संग्रह (भाग १), सम्पा०—डा० हीरालाल जैन, प्रका०—माणिकचन्द्र

दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९२८ ई० ।

जैन शिलालेख संग्रह (भाग-२), सम्पा०- पं० विजयमूर्ति, प्रका०-माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९५२ ई० ।

जैन शिलालेख संग्रह (भाग-३), संग्राहक—पं० विजयमूर्ति, प्रका०-माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० २०१३ ।

जैन शिलालेख संग्रह (भाग-४), सम्पा०-संग्रा०-डा० विद्याधर जोहरापुरकर, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वी०नि०सं० २४९१ ।

जैन साहित्य और इतिहास, ले० नाथूराम प्रेमी, प्रका०—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग गिरगांव बम्बई, प्रथम संस्करण १९४२ ई० ।

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, ले०-जुगल किशोर मुख्तार, प्रका०—वीर शासन संघ कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९५६ ई० ।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-५), ले० अंबालाल प्रे० शाह, प्रका०-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी, १९६९ ई० ।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-६), ले० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रका०—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी, १९७३ ई० ।

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), ले० मोहनलाल दलीचंन्द देसाई, प्रका०-जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स बम्बई, १९३३ ई० ।

जैनाचार्य, ले० मोहनलाल शास्त्री, प्रका०-सरल जैन ग्रन्थ भण्डार जबलपुर, वी० नि० सं० २४८२ ।

जैनिज्म इन दा हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, ले० एम० विन्टरनित्ज, सम्पा०—जिनविजय मुनि, अहमदाबाद, १९४६ ई० ।

जैनेन्द्र व्याकरण–देवनन्दि, सम्पा०—महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी प्रसाद, प्रका०- एस० एन० बच्ची, मेसर्स ई० जें० लजारस एण्ड कम्पनी, मेडीकल हाल प्रेस बनारस केन्ट, १९१८ ई० ।

तत्त्वसंग्रहपंजिका-कमलशील, प्रका०—बौद्ध भारती ग्रन्थमाला वाराणसी, १९६८ ई० ।

तत्त्वार्थसूत्र-गृद्धपिच्छ, अनु० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका०—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला बनारस, प्रथम संस्करण, वी० नि० सं० २४७६ ।

तिलोयपण्णत्ती-यतिवृषभ, सम्पा०—डा० ए० एन० उपाध्ये और हीरालाल जैन, प्रका०-

जीवराज ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, वि०सं० २०००।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-१-४) ले० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् सागर, १९७४ ई०।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, ले०- श्यामसुन्दर दीक्षित, प्रका०- मलिक एण्ड कम्पनी चौड़ा रास्ता, जयपुर, १९६९ ई०।

दर्शनसार-देवसेनाचार्य, प्रका०—श्री नाथूराम प्रेमी, मन्त्री-जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग गिरगांव बम्बई, १९१७ ई० (जैन हितैषी, भाग ३, अंक ५-६, मई–जून १९१७ ई० में प्रकाशित)।

दीघनिकायपालि (खण्ड-३, पथिक वग्ग), सम्पा०—भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रका०—बिहारराज्य पालि प्रकाशन मण्डल नालन्दा (पटना), १९५८ ई०।

द्विसंधान महाकाव्य—धनंजय, सम्पा०—खुशालचन्द गोरावाला, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४ ई०।

धन्यशालिभद्रचरित्र–पूर्णभद्रसूरि, प्रका०–जिनदत्त सूरि ज्ञानभण्डार सूरत, १९३४ ई०।

धर्मशर्माभ्युदय-हरिचन्द्र, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी, १९५४ ई०।

धर्माभ्युदय महाकाव्य–उदयप्रभसूरि, सम्पा०-जिनविजय मुनि, प्रका०–सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई, वि०सं० २००५।

(हिन्दी) नाट्य दर्पण—रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सम्पा०—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०–दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६१ ई०।

निशीथसूत्र (चूर्णी सहित), तृतीय भाग, सम्पा०-उपाध्याय अमरमुनि और कन्हैयालाल 'कमल', प्रका०-सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, प्रथम संस्करण, १९५८ ई०।

नीतिवाक्यामृत—सोमदेव सूरि, सम्पा०—सुन्दरलाल शास्त्री, प्रका०—महावीर जैन ग्रन्थमाला कमच्छा ठाकुरवाड़ी वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९७६ ई०।

नीतिसारसमुच्चय—इन्द्रनन्दि, सम्पा०-पं० गौरीलाल, प्रका०–सेठ लालचन्द जैन, फर्म रामजीदास जैनी एण्ड कम्पनी देहली, १९४१ ई०।

नेमिदूत-विक्रम, प्रका०—वीरनिर्वाण ग्रन्थप्रकाशन समिति इन्दौर, वी० नि० सं० २५०० ।

नेमिनाथचरित्र—कीर्तिराज उपाध्याय, प्रका०—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला भावनगर, वी०नि०सं० २४४० ।

न्यायदीपिका—धर्मभूषण, सम्पा०—डा० दरबारीलाल कोठिया, प्रका०- वीर सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर), १९४५ ई० ।

न्याय विनिश्चयविवरण (भाग १-२) - वादिराज सूरि, सम्पा०-पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ एवं १९५४ ई० ।

पद्मपुराण (भागा १-३)—रविषेण, सम्पा०- अनु०-पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, क्रमशः १९५८, १९५८ एवं १९५९ ई० ।

पाण्डवचरित्र—शुभवर्धन गणि, प्रका०-हीरालाल हंसराज, भास्करोदय प्रेस जामनगर, १९१७ ई० ।

पार्श्वनाथचरित—उदयवीरगणि, प्रका०-जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर, वि० सं० १९७० ।

पार्श्वनाथचरित—वादिराजसूरि, संशो०–पं० मनोहरलाल शास्त्री, प्रका०-माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वि० सं० १९७३ ।

पार्श्वनाथचरित—हेमविजय गणि, प्रका०-मुनिश्री मोहनलाल जी जैन ग्रंथमाला सरस्वती फाटक बनारस, १९१६ ई० ।

पार्श्वनाथचरित्र-भावदेवसूरि, सम्पा०-हरगोविन्द दास और बेचरदास, प्रका०-यशोविजय जैन ग्रंथमाला बनारस, वी० नि० सं० २४३८ ।

पार्श्वाभ्युदय—जिनसेन, सम्पा०-मो० गौ० कोटारी, प्रका०–गुलाबचन्द हिराचन्द कन्स-ट्रक्शन हाउस वेलार्ड स्टेट बम्बई, १९६५ ई० ।

पार्श्वाभ्युदय–जिनसेन, (योगिराट् की सुबोधिका टीका के साथ), सम्पा०-नाथारंग गांधी, प्रका०-श्रा० रा० घाणेकर, निर्णयसागर यन्त्रालय बम्बई, वि० सं० १९६६ ।

पासणाहचरिउ-पद्मकीर्ति, सम्पा०-प्रफुल्लकुमार मोदी, प्रका०-प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी वाराणसी, १९६५ ई० ।

पुरुदेवचम्पू-अर्हद्दास, सम्पा०-पार्श्वनाथ जिनदास फड़कुले, प्रका०-माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई, वी०नि०सं० २४५४।

पृथिवीचन्द्रचरित-रूपविजयगणि, प्रका०-जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर, १९२६ ई०।

पृथिवीचन्द्रचरित-सत्यराजगणि, प्रका०–यशोविजय जैन ग्रन्थमाला भावनगर, वि० सं० १९७६।

प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रभाचन्द्र, सम्पा०-पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रका०–निर्णय-सागर प्रेस बम्बई, १९४१ ई०।

भट्टारक सम्प्रदाय, ले०-प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर, प्रका०-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, वि० सं० २०१४।

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, ले०-डा० ज्योतिस्वरूप जैन, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९६६ ई०।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, ले०-डा० हीरालाल जैन, प्रका०-मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२ ई०।

भोजचरित्र—राजवल्लभ, सम्पा०-बी०सी०-एच० छबड़ा और एस० शंकरनारायणन् प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, १९६४ ई०।

मलयसुन्दरीचरित—जयतिलक सूरि, प्रका०-देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार बम्बई, १९१६ ई०।

महाकवि रइधू के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, ले०-डा० राजाराम जैन, प्रका०-प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, १९७२ ई०।

महापुराण-जिनसेन, सम्पा०-पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—भारतीय ज्ञान-पीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५१ ई०।

महाभारत (शान्तिपर्व) भाग–१, सम्पा०—श्रीपादकृष्ण बेल्वलकर, प्रका०–भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १९६१ ई०।

गणितसार संग्रह—महावीराचार्य, सम्पा०—एल० सी० जैन, प्रका०—जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, १९६३ ई०।

मुनिसुव्रतचरित—अर्हद्दास, प्रका०—देवकुमार ग्रन्थमाला, जैन सिद्धान्त भवन आरा, १९२९ ई०।

मृगांकचरित्र—ऋद्धिचन्द्र, मुद्रित प्रति गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद ग्रंथालय में है।

अनुक्रमांक १३१५ सं०, द : १५। १५। प्रकाशन स्थलादि खण्डित।

मेघदूत—कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली), सम्पा०—पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्रका०—भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, तृतीय संस्करण, वि० सं० २०१६।

यशस्तिलकचम्पू—सोमदेव, सम्पा०—पं० सुन्दरलाल शास्त्री, प्रका०—महावीर जैन ग्रन्थमाला कमच्छा, वाराणसी, १९७१ ई०।

यशोधरचरित—वादिराज सूरि, सम्पा०—के० कृष्णमूर्ति, प्रका०—कर्णाटक युनिवर्सिटी धारवाड़, १९६३ ई०।

रघुवंश—कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली), सम्पा०—पं० सीताराम चतुर्वेदी प्रका०—भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, तृतीय संस्करण, वि०सं० २०१६।

रत्नकरण्ड—श्रावकाचार—समन्त भद्र, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन वाराणसी, १९७२ ई०।

रूपसेनचरित्र—जिनसूरि, प्रका०—हीरालाल हंसराज, जैन भास्करोदय प्रेस जामनगर, १९१५ ई०।

वरांगचरित—जटासिंह नन्दि, सम्पा०—खुशालचन्द गोरावाला, प्रका०—भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी मथुरा, १९५३ ई०।

वस्तुपालचरित्र—जिनहर्षगणि, प्रका०—हीरालाल हंसराज, जैन भास्करोदय प्रेस जामनगर, १९११ ई०।

विक्रमांकदेवचरित—विल्हण (तीन खण्डों में), सम्पा०—पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज, प्रका०—संस्कृत साहित्य अनुसंधान समिति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, क्रमशः १९५८, १९६२ और १९६४ ई०।

विक्रान्तकौरव—हस्तिमल्ल, सम्पा०—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९ ई०।

वृत्तरत्नाकर—केदारभट्ट, प्रका०—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, सैदमिट्ठा बाजार लाहौर, वि० सं० १९९९।

शब्दानुशासन—पाल्यकीर्ति (अभयचन्द्र की प्रक्रिया टीका के साथ), प्रका०—जेठाराम

मुकुन्द जी बम्बई, १९०७ ई० ।

शाकटायन व्याकरण—पाल्यकीर्ति (शाकटायन), सम्पा०—शम्भूनाथ त्रिपाठी, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७१ ई० ।

शान्तिनाथचरित्र—मुनिभद्रसूरि, प्रका०—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस, वी० नि० सं० २४३७ ।

शान्तिनाथचरित्र—वत्सराज मुनि, प्रका०—हीरालाल हंसराज, जैन भास्करोदय प्रेस जामनगर, १९१४ ई० ।

शिशुपालबध—माघ, सम्पा०—पं० हरगोविन्दशास्त्री, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, तृतीय संस्करण १९७२ ई० ।

शुक्रनीति—शुक्राचार्य, व्याख्या०—पं० ब्रह्मशंकर मिश्र, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६८ ई० ।

श्रीपालचरित्र—ज्ञानविमलसूरि, प्रका०—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला बम्बई, १९२१ ई० ।

संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, ले०—डा० नेमिचन्द्रशास्त्री, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नेताजी सुभाषमार्ग दिल्ली, १९७१ ई० ।

संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (भाग-१), ले०-रामजी उपाध्याय, प्रका०—रामनारायण वेणीमाधव इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९७० ई० ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—कीथ, अनु०—मंगलदेव शास्त्री, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९६७ ई० ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास, ले—बलदेव उपाध्याय, प्रका०—शारदामन्दिर वाराणसी, अष्टम संस्करण, १९६८ ई० ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग काव्यखण्ड), ले० बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा संस्थान वाराणसी, १९७३ ई० ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास, ले०- वाचस्पति गैरोला, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६० ई० ।

सप्तव्यसनचरित्र—सोमकीर्ति, अनुवाद—पं० श्रीलाल जैन, प्रका०—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, १९१२ ई० ।

साहित्य दर्पण—विश्वनाथ, सम्पा०—डा० सत्यव्रत सिंह, प्रका०—चौखम्बा विद्या-

भवन वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, १९७६ ई०।

(वैयाकरण) सिद्धान्त कौमुदी—भट्टोजि दीक्षित, प्रका०—क्षेमराज श्रीकृष्ण दास, श्री वेंकटेश्वर मुद्रण यंत्रालय बम्बई, वि० सं० १९५७।

सुदर्शनचरित—विद्यानन्दि, सम्पा०—डा० हीरालाल जैन, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७० ई०।

सुदर्शनोदय—मुनि ज्ञानसागर, सम्पा०—प० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रका०—मुनि ज्ञानसागर जैन ग्रंथमाला ब्यावर (राजस्थान), १९६६ ई०।

सुवृत्ततिलक—क्षेमेन्द्र, प्रका०—चौखम्वा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, १९२७ ई०। (वृत्तरत्नाकर के साथ प्रकाशित)।

स्याद्वाद रत्नाकर (प्रथम परिच्छेद), संशो०–मोतीलाल लाधाजी, प्रका०—मोतीलाल लाधाजी, १९६ भवानी पेठ, वी० नि० सं० २४५३।

हरिवंश पुराण—जिनसेन, सम्पा०—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२ ई०।

स्मृति एवं अभिनन्दन ग्रन्थ

गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ; सम्पा०—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि, प्रका०–मन्त्री, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् सागर, १९६७ ई०।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रका०—यशपाल जैन, मन्त्री, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति टीकमगढ़, १९४६ ई०।

वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पा०—खुशालचन्द गोरावाला, प्रकाशक–पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, संयुक्त मन्त्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति सागर, वी० नि० सं० २४७०।

पत्र–पत्रिकायें

अनेकान्त (मासिक), सम्पा०–जुगलकिशोर मुख्तार, प्रका०–वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर)।

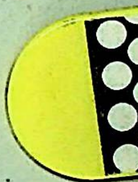
एन्वल्स आफ दी भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना।

जैन सिद्धान्त भास्कर (षाण्मासिक), सम्पा०–प्रो० हीरालाल जैन और डा० ए० एन०

उपाध्ये, प्रका०—सेन्ट्रल जैन ओरियन्टल लाइब्रेरी, जैन सिद्धान्त भवन आरा।

जैन हितैषी (मासिक), सम्पादक और प्रकाशक—श्री नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, प्रो० गिरगांव, बम्बई।

श्रमण (मासिक), सम्पा०—डा० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैन इन्स्टीट्यूट, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५।





लेखक

डा० जयकुमार जैन

जन्म : १ अगस्त १९५२
पिपरा (शिवपुरी) म० प्र०

शिक्षा : श्री पा० दि० जैन संस्कृत विद्यालय वरवासागर, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ।

एम० ए० १९७५ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्वर्णपदक, स्वामी मधुसूदनानन्द सरस्वती स्वर्णपदक तथा काशीराजपदक एवं पुरस्कार से सम्मानित)

पी-एच० डी० १९७७ (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कनिष्ठ अध्येतावृत्ति प्राप्त)

साहित्यसपर्या :

१. समयसार जीवाजीवाधिकार १९८०
२. छान्दोग्योपनिषद् १९८१
३. कौटिलीय अर्थशास्त्र १९८१
४. क्षत्रचूडामणि १९८१
५. कादम्बरी: महाश्वेतावृत्तान्त १९८१
६. मनुस्मृति १९८३
७. रसगङ्गाधर १९८४
८. प्रसन्नराघवम् १९८५
९. शान्त्युपदेशतत्त्वसंग्रह १९८७
१०. पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन १९८७

अध्यापन : अप्रैल १९७९ से एस० डी० (स्नातकोत्तर) कालेज मुजफ्फरनगर में अध्यापन एवं शोध-निर्देशन

समाजसेवा : सदस्य कार्यकारिणी—अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद

कोषाध्यक्ष एवं पूर्व महामन्त्री—जैन धर्म प्रचार समिति

卐

